परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्री अजीतसिंह जी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणित शास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और ...ध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानन्द उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्री रामसिंह जी को छोड़ कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्री अजीतसिंह जी ही में दिखाई दी।

राजा श्री अजीतसिंह जी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावतजी के गर्भ से तीन संतति हुईं—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूरज कुँवर थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्री नाहरसिंह जी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्री उमेदसिंह जी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराज कुमार श्री मानसिंह जी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंह जी थे जो राजा श्रीअजीतसिंह जी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति संचित कर्मों के परिणाम से दुःखमय हुई। जयसिंह जी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। और सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्री सूर्यकुंवर बाई जी को एक मात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाई जी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृवियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे

शोक रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंह जी से मातामह राजा श्री अजीतसिंह जी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारी जी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्री उमेदसिंह जी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्यकुमारी जी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाले चमत्कृत रह जाते। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानन्दजी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामीजी के लेखों और अध्यात्म विशेषतः अद्वैत वेदांत की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय नीवी की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार उम्मेदसिंह जी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार बीस हजार रुपए देकर काशी नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रन्थमाला के प्रकाशन की व्यवस्था की है। स्वामी विवेकानंद जी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और लागत से कुछ ही अधिक मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी में लगाई जायगी। यों श्रीमती सूर्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंह जी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान-लाभ होगा।

विषय-सूची

[वि० पू० = विक्रम पूर्व संवत्। वि० = विक्रम संवत्।]

प्राचीन दर्शन

(पहला खंड)

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

माध्यमिक दर्शन

(दूसरा खंड)

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

आधुनिक दर्शन

(*तीसरा खंड*)

पहला भाग

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

दूसरा भाग

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

---

* ये सब दार्शनिक लोग जीवित हैं। इनमें से कुछ के जन्म संवत् मुझे उपलब्ध नहीं हैं; इससे यहाँ पर नहीं दिए गए हैं।

भूमिका

अति अपार जे सरित वर, ज्यों नृप सेतु कराहिं ।
चढ़ि पिपीलिका परम लघु, बिनु श्रम पारहि जाहिं ॥

प्राय: बीस वर्ष हुए, श्रीयुत साहित्याचार्य पाण्डेय रामावतार शर्मा का लिखा हुआ यूरोपीय दर्शन श्री नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक द्वारा हिन्दी भाषा-भाषियों को युरोपीय दर्शन शास्त्र के सम्बन्ध में अपने ज्ञान-क्षेत्र को विस्तृत करने का पहली ही बार सुअवसर मिला था। यद्यपि इसमें जो लिखा था, वह केवल दिग्दर्शन मात्र था, तथापि वह उस समय की आवश्यकताओं के लिये पर्य्याप्त था। उस समय से हिन्दी भाषा ने उच्च शिक्षा के माध्यम होने के पथ में बहुत कुछ उन्नति की है। हिन्दी भाषा-भाषियों की भी, थोड़ा जान कर, अब बहुत जानने की इच्छा हो रही है; और उनकी जिज्ञासा की तृप्ति के लिये विस्तार के साथ गाम्भीर्य गुण की भी आवश्यकता होने लगी है। इन सब बातों के सिवा बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही युरोपीय विचारों ने पलटा खाया है और वहाँ का ज्ञान-भण्डार दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जा रहा है। बहुत कम ऐसे

विषय हैं जिनमें बीस वर्ष पहले की लिखी हुई पुस्तकें अब काम दे सकें। इसका कारण स्पष्ट है। पुस्तकें रक्खी रक्खी विचारों के साथ नहीं बढ़ सकतीं। यही सजीव और निर्जीव पदार्थों का मुख्य भेद है। जो पोशाक एक वर्ष के बालक के शरीर पर ठीक हो सकती है, वह पाँच वर्ष के बालक को छोटी होगी। इसमें पोशाक बनानेवाले का दोष नहीं है।

जो युरोपीय दर्शन बीस वर्ष पूर्व के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त था, वह वर्तमान समय के लिये पर्य्याप्त नहीं है। विचार का भण्डार अब बहुत बढ़ गया है; और हिन्दी जाननेवाले विद्यार्थियों को भी वर्तमान परिस्थिति के अनुसार गूढ़तर रीति से अध्ययन करने की आवश्यकता हो गई है। इन कारणों से एवं युरोपीय दर्शन की प्रतियाँ निःशेष हो जाने के कारण श्री काशी नागरीप्रचारिणी सभा को इस विषय की एक और पुस्तक लिखाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। उत्तरोत्तर वर्धमान युरोपीय दार्शनिक विचारों के लिये युरोपीय दर्शन की पोशाक यद्यपि छोटी हो गई थी, किन्तु उस पोशाक का सामान नई पोशाक में काट छाँट करके व्यवहार करने योग्य था। उससे लाभ न उठाना भी मूर्खता थी; विशेष कर ऐसी अवस्था में जब की पहली पुस्तक के भी प्रकाशन का अधिकार सभा को ही था। यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक में बहुत कुछ नई बातें जोड़ी गई हैं और पूर्व पुस्तक का बहुत सा अंश बदल दिया गया है, तथापि इसमें ऐसा बहुत सा भाग है जो पूर्व पुस्तक में से करीब करीब ज्यों का त्यों ही लेकर रख दिया गया है। इसलिये इस पुस्तक पर अपना नाम देते हुए मुझे थोड़ा संकोच होता है। इस अपराध

और दुःसाहस की सफाई में मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि पहले की पुस्तक से इसका रंग ढंग बहुत कुछ बदल गया है और इसमें मेरे व्यक्तिगत विचारों का भी बहुत कुछ समावेश हो गया है। इसके सिवा प्रारम्भिक भाग के एवं तृतीय खंड के दूसरे भाग को, जो कि बिलकुल नया जोड़ा गया है तथा प्लेटो, बर्क्ले, काएट आदि के वर्णनों को, जो कि दोबारा नए सिर से लिखे गए हैं, छोड़कर यह बतलाना कठिन है कि शेष ग्रंथ में वर्तमान लेखक का कितना भाग है और पांडेयजी का कितना। पूर्व पुस्तक के बहुत से अंशों को काम में लाने से मेरे समय और परिश्रम की जो बचत हुई, उसके लिये पांडेयजी की सहायता स्वीकार न करना मेर लिये घोर कृतघ्नता होगी। किन्तु उसी के साथ रूपान्तरित पुस्तक के लिये पूज्य पांडेयजी को उत्तरदायी ठहराना अथवा अपने साथ उत्तरदायित्व में शामिल करना उनके प्रति अन्याय होगा। पांडेय जी की पुस्तक का जो कुछ अंश मैंने इस पुस्तक में सम्मिलित किया है, उसके लिये में उत्तरदायी हूँ; किन्तु जो कुछ मैंने घटाया बढ़ाया है और जिसका पृथक् करना कठिन है, उसके लिये मैं पाण्डेयजी को किस प्रकार उत्तरदायी ठहराऊँ, विशेष कर जब कि दार्शनिक विचारों में मेरा उनसे मत-भेद है। यद्यपि इतिहास लेखक निष्पक्ष होने का यथा शक्ति प्रयत्न करते रहते हैं और कभी कभी इस कार्य्य में सफलता प्राप्त कर लेने की भी डींग मारते हैं, तथापि वे इस प्रकार की सफलता से बहुत दूर रहते हैं। बिलकुल निष्पक्ष होकर दर्शन शास्त्र का इतिहास लिखना उतना ही कठिन है जितना कि पक्षहीन पक्षी के लिये हवा में उड़ना। पक्षी के लिये दो पक्ष चाहिएँ; किन्तु इतिहास-लेखक के

लिये एक ही पक्ष चाहिए । इसलिये भी पुस्तकापर मुझे अपना ही नाम देना पड़ा । पुस्तक के आदि कर्ता से क्षमा माँगता हुआ मैं यह पुस्तक सहृदय पाठकों के हाथ में देता हूँ ।

छत्रपुर
बुन्देलखण्ड
वैशाख शु० १. १९७९. } गुलाबराय ।

विषय-प्रवेश
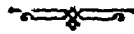
युरोप की प्राय: सभी मुख्य मुख्य भाषाओं में दर्शन शास्त्र के लिये एक यूनानी शब्द Philosophos (जिसका अर्थ ज्ञान का प्रेम है) के आधार पर बने हुए अँग्रेजी शब्द फिलासोफी (Philosophy) से मिलते जुलते हुए शब्द व्यवहार मे आते हैं। जिज्ञासा शब्द इसके अर्थ का निकटवर्ती है। फिलासोफी का विस्तृत रूढ़ अर्थ मीमांसा या विवेचना शब्द के द्वारा प्रकट किया जा सकता है; और संकुचित रूढ़ अर्थ दर्शन या दर्शन शास्त्र द्वारा प्रकाशित किया जाता है। प्राचीन काल मे फिलासोफी शब्द का बड़े ही विस्तृत अर्थ में व्यवहार होता था। सभी प्रकार का ज्ञान इसके अन्तर्गत समझा जाता था। भौतिक विज्ञान को प्राकृतिक दर्शन (Natural Philosophy) के नाम से पुकारते थे। न्यूटन (Newton) को फिलासोफर कहा है। आजकल विशिष्टीकरण (Specialization) हो जाने के कारण फिलासोफी शब्द का अर्थ बहुत संकुचित हो गया है। यह विशिष्टीकरण यहाँ तक हुआ है कि जो ज्ञान की शाखाएँ वास्तव में दर्शन से सम्बन्ध रखनेवाली हैं, वे भी स्वतन्त्र होकर विशेष विज्ञान के स्वरूप में आ गई हैं। इसलिये युरोपीय दर्शन शास्त्र का इतिहास लिखते समय यह प्रश्न उठता है कि वास्तव में दर्शन का विषय क्या है और किस का इतिहास लिखा जाय। क्योंकि एक दृष्टि से दर्शन

या फिलासोफी के अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है; और दूसरी दृष्टि से उसमें कुछ भी नहीं रहता। यदि हम किसी विषय को समस्त ज्ञान के सम्बन्ध मे देखे, तो वही विषय दार्शनिक हो जाता है। और यदि उसी विषय की केवल उसी विषय के सम्बन्ध में सुव्यवस्थित विवेचना की जाय, तो वह विज्ञान हो जाता है। विज्ञान भी सत्य की खोज करता है और दर्शन शास्त्र भी। भेद इतना ही है कि दार्शनिको का ज्ञान काम-चलाऊ नहीं है। वे लोग अपनी खोज में तह तक पहुँचने की कोशिश करते हैं—वे लोग गहरे पानी के पैठनेवाले है।

यद्यपि कुछ ऐसे विषय अवश्य हैं, जो सब ज्ञान का आधार रूप होने के कारण दर्शन शास्त्र के विशेष विषय हैं, तथापि वास्तव में दर्शन शास्त्र का विषय सत्य है।

समस्त ज्ञान की व्याख्या में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी आ जाती है। इनके विषय में जो विचार किया जाता है, वह दर्शन शास्त्र का विशेष विषय बन जाता है। किन्तु यह भी सत्य की खोज के अन्तर्गत ही है।

यदि दर्शन शास्त्र का विषय सत्य है, तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सत्य तो बदलनेवाला पदार्थ नहीं है; फिर उसका इतिहास कैसा? सत्य परिवर्तनशील नहीं है; और इतिहास परिवर्तनशील वस्तुओं का ही होता है। जो सदा एक-रस है, उसका क्या इतिहास? इसके अतिरिक्त जितने फिलासोफर हैं, प्रायः उतनी ही फिलासोफी भी है; और उनमें से सभी सत्य नहीं हो सकतीं। तो फिर क्या फिलासोफी का इतिहास झूठ का इतिहास है

इन सब प्रश्नों का उत्तर देने के पहले हमें सत्य की थोड़ी सी

विवेचना कर लेनी चाहिए। जिस सत्य की दार्शनिक को तलाश है, वह न्यायालयों का सत्य नहीं है। न्यायमूर्ति जज के सामने सत्यमूर्ति गवाह सहज ही में हलफ उठा लेता है कि जो कुछ कहूँगा, सत्य कहूँगा। पूरा पूरा सत्य कहूँगा; और सत्य के सिवा और कुछ न कहूँगा (Shall speak the truth, the whole truth and nothing but truth.)। क्या दर्शन शास्त्री इस बात की शपथ खा सकता है कि मैं पूरा पूरा सच कहूँगा? वह अपनी जान में सच कहेगा; किन्तु यह नहीं कह सकता कि जो कुछ मैंने कह दिया, उससे आगे कुछ नहीं है। साधारण से साधारण वस्तु सहस्रों सम्बन्धों का केन्द्र है। ऐसा कोई सर्वज्ञ नहीं है जो सब सम्बन्धों को एक दृष्टि से देख सके। यहाँ हाथी और चार अंधोंवाली लोकोक्ति बहुत से अंशों में चरितार्थ होती है। जो जितना ऊँचा जाकर जितने सम्बन्धों को अपने दृष्टि-क्षेत्र में ला सकता है, वह उतने ही अंशों में सत्य बतलाता है। जैसे जैसे हम ऊँचे चढ़ते जाते हैं, वैसे वैसे हमारा दृष्टि-क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। ऊँचे चढ़कर हम छोटी छोटी बातों को न भूल जायँ, इसी लिये इस इतिहास को सामने रखते हैं। दर्शन के इतिहास में कोई चीज नहीं मरती। विस्तृत ज्ञान द्वारा पिछली कल्पनाओं का संशोधन होता है; वे नए रूप में जन्म लेती हैं। पुराने भूतवाद में इतनी ही सत्यता थी कि वह बाह्य पदार्थ की स्वतंत्रता को मानता था। भूल इतनी ही थी कि वह उसके अतिरिक्त और कुछ नही मानता था। प्रत्ययवाद से उसका संशोधन हुआ और वस्तुवाद (Realism) के रूप में उसकी पुनरावृत्ति हुई। अब वस्तुवाद और प्रत्ययवाद ने एक दूसरे की ऐसी काँट छाँट की है कि दोनों प्राय: एकाकार

हो गए हैं। वैसेनक्वेट साहब की नई पुस्तक The Meeting of Extremes in Contemporary Philosophy ने यह बात मुक्त कण्ठ से स्वीकार की है। एक सत्य दूसरे सत्य का प्रतिवाद नहीं करता, वरन् उसके सार को स्थित रखकर उससे ऊँचे जाता है। जिज्ञासा की बुभुक्षा की कभी तृप्ति नहीं होती। दर्शन शास्त्र में अजीर्ण की गुंजाइश नहीं है। अजीर्ण ही मृत्यु है। एक बार खाना खाकर फिर भी भूख लगती है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि पहला भोजन निष्फल हो गया। पहले भोजन ने जीवन रस में परिणत होकर पाचनेन्द्रियों की शक्ति बढ़ाई और उसी से फिर नई भूख लगी। और भूख तन्दुरुस्त आदमी को ही लगती है।

दर्शन शास्त्र का इतिहास पिछली कल्पनाओं का पूरा पूरा महत्व निर्धारित करता हुआ उनको स्थित रखने का उद्योग करता है; और सत्य की खोज में उनके सहारे आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है। दर्शन का इतिहास मानसिक विकास का दर्शन है। इसी कारण बहुत से लोगों ने इसका दर्शन शास्त्र से ही तादात्म्य किया है।

इस ग्रंथ में विशेषतः उन्हीं विचारों या कल्पनाओं की विवेचना की जायगी, जिनका प्रादुर्भाव युरोपवालों की दार्शनिक खोज में हुआ है। हमारे देश में भी यह खोज भले प्रकार से हुई है। उस समुद्र-मथन से जो रत्न प्राप्त हुए, यद्यपि उनका वर्णन करना यहाँ पर असम्भव एवं अनुपयुक्त है, तथापि उन लोगों के लिये, जो यूरोपीय या भारतीय दर्शनों को तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ना चाहें, दो चार शब्द कह देना आवश्यक है।

यूरोपीय दर्शनों के मत से ज्ञान की खोज का लक्ष्य ज्ञान ही

है। यद्यपि आजकल कुछ लोग (बर्गसन प्रभृति) ज्ञान को क्रिया का साधन मात्र मानने लगे हैं, तथापि यूरोपीय दर्शन का लक्ष्य ज्ञान की तृप्ति है। भारतीय दर्शनों की खोज केवल ज्ञान के लिये नहीं है। भारतीय दर्शनों में ज्ञान साधन मात्र है। यूरोपीय फिलासोफी के आदि आचार्य प्लेटो का कथन है कि दर्शन शास्त्र का उदय आश्चर्य (Wonder) में है। इसी आश्चर्य की तृप्ति के लिये यूरोपीय दर्शन का सारा प्रवाह चलता रहता है। अक्रिय कहे जानेवाले भारतवासियों का लक्ष क्रियात्मक है। यद्यपि उन में भी आश्चर्य और अद्भुतत्व के लिये थोड़ा बहुत स्थान रहता है, तथापि उनका लक्ष दुःख-निवृत्ति, मोक्ष या मृत्यु को जीतना है।

सत्य की खोज दोनों ही करते हैं, किन्तु उद्देश्य दोनों के भिन्न हैं। उद्देश्य भिन्न होते हुए भी बहुत से ऐसे स्थल हैं, जहाँ दोनों मिल जाते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करनेवाले व्यक्ति को इन स्थलों की खोज अवश्य करनी चाहिए; किन्तु उसको इस बात का ध्यान रहे कि वह अपने उत्साह में उनकी विशेषताओं को न भूल जाय। और इसके साथ यह भी न करे कि एक की कसौटी से दूसरे की जाँच करे। जिन लोगों की दृष्टि ज्ञान-प्रधान है, उन लोगों के लिये जैमिनि दर्शन शायद दर्शनों में स्थान ही न पावे।

भारतीय दर्शनों में कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं, जो उनके विशेष सिद्धान्त कहे जा सकते हैं। अर्थात् वे उन्हीं में पाए जाते हैं, अन्यत्र कहीं नहीं पाए जाते। श्रीयुक्त पी० टी० श्रीनिवास आयंगर ने आउटलाइन्स ऑफ इन्डियन फिलासोफी (Out-

lines of Indian Philosophy) में ऐसे पंद्रह सिद्धान्त दिए हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) मनुष्य शरीर, मन और चेतना से बना हुआ है ।

(२) आत्मा ज्ञान-स्वरूप और विकार-रहित है ।

(३) मानसिक जीवन नियमबद्ध है; और इसी कारण सब मानासिक क्रियाओं का पहले से निश्चय किया जा सकता है ।

(४) अन्तःकरण यद्यपि भीतरी इन्द्रिय है, तथापि वह प्राकृतिक है और आत्मा से भिन्न है ।

(५) मन और अहंकार की भाँति पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँचों कर्मेन्द्रियाँ भी प्रकृति के सूक्ष्म तत्वों से बनी हुई हैं ।

(६) मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ लिङ्ग देह में रहती हैं; और वह लिङ्ग देह स्थूल देह की अपेक्षा स्थायी है ।

(७) समय समय पर इस लिङ्ग देह का संबंध स्थूल देह से हो जाता है; और उस स्थूल देह से भौतिक इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं ।

(८) प्रकृति विकारशील है; किन्तु उसकी उत्पत्ति नहीं होती ।

(९) संसार का इतिहास प्रलय और कल्प के तारतम्य से बना है; अर्थात् सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि ।

(१०) सब पदार्थ पंचभूतों से बने हुए हैं; और इन पंच-भूतों का पंचेन्द्रियों से सम्बन्ध है ।

(११) समस्त शक्ति चेतनामय है, अर्थात् भिन्न श्रेणियों की चेतनाओं से युक्त है । शक्ति चेतनाशून्य नहीं है ।

(१२) यह शक्ति प्राण है, जो आत्मा और प्रकृति के बीच की चीज़ है ।

(१३) भौतिक और मानसिक जीवन में कर्म का नियम प्रधान है।

(१४) संसार अर्थात् कर्म का चक्र अनादि है।

(१५) मोक्ष ही मनुष्य के जीवन का परम श्रेय है।

यद्यपि इन सिद्धान्तों की झलक कहीं कहीं यूरोपीय दर्शनों में भी पाई जाती है, तथापि ये सिद्धान्त विशेष रूप से हिन्दू दर्शनों में ही पाए जाते हैं। इसी प्रकार यूरोपीय दर्शनों के विशेष सिद्धान्तों की झलक भारत के बौद्ध दर्शनों में भी पाई जाती है। तुलना करनेवाले को चाहिए कि देखे कि किसके कौन से सिद्धान्त विशेष हैं और कौन से दोनों में एक से हैं।

यूरोपीय दर्शन मन और आत्मा के तादात्म्य पर चले हैं। कहीं कहीं अतीत आत्मा (Transcendental soul) भी मानी गई है। लेकिन अधिकतर झुकाव इसके खिलाफ है। जो लोग आत्मा को प्रकृति का विकार मानते हैं, वे तो आत्मा और मन का तादात्म्य मानते ही हैं; किन्तु जो लोग ऐसा नहीं मानते, उन लोगों के लिये भी आत्मा का मुख्य स्वरूप मन है। युरोपवाले लिङ्ग देह और स्थूल शरीर का भेद नहीं मानते और न वे आवागमन ही मानते हैं। यद्यपि स्पेन्सर आदि ने प्रलय और कल्प के काल माने हैं, तथापि युरोप में यह प्रश्न बहुत कम उठाया गया है कि यही सृष्टि पहली है या इससे पहले और भी सृष्टियाँ हो चुकी हैं। मैटर (Matter) या भूत-समुदाय यद्यपि आजकल बहुत सूक्ष्म माना जाता है, तथापि प्रकृति की अपेक्षा स्थूल है; और इसी कारण वहाँ पर आत्मा और प्रकृति के बीच में बहुत बड़ी खाई दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त बहुत से प्रश्न, जो

इस देश में नहीं उठाए गए हैं, वहाँ पर उठाए गए हैं। इन बातों को ध्यान में न रखने के कारण प्रायः लोग भारतीय दर्शनों का महत्व निर्धारित करने में भूल कर बैठते हैं।

हिन्दू दर्शन छः माने जाते हैं। इनमें कौन पूर्व है और कौन उत्तर, यह कहना कठिन है; क्योंकि सभी दर्शनों में एक दूसरे का खण्डन पाया जाता है। महाभारत और उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थों में वेदान्त के अतिरिक्त और दर्शनों के भी सिद्धान्त पाए जाते हैं। मालूम होता है कि भारतवर्ष का दार्शनिक विचार इन सूत्र ग्रन्थो से पूर्व का है। सूत्र ग्रन्थों में अपने अपने पक्ष के प्रामाणिक सिद्धान्तों का सुव्यवस्थित रूप से निरूपण किया गया है; इसलिये इन दर्शनों का समयानुक्रमिक इतिहास लिखना कठिन है।

इतिहास दो प्रकार से लिखा जा सकता है। एक काल के सम्बन्ध से और दूसरा मानसिक क्रमविकास के सम्बन्ध से। यद्यपि इन दर्शनों का समयानुक्रमिक इतिहास लिखना कठिन है, तथापि मानसिक क्रम-विकास के सम्बन्ध से इनका इतिहास लिखा जाना सम्भव है। प्रायः देखा गया है कि मोटी दृष्टि से देखने में पहले पहल अनेकता देख पड़ती है; और फिर अनेकता के सम्बन्ध में सूक्ष्म विचार करने पर एकता की व्यवस्था दिखाई देने लगती है। इस सिद्धान्त पर हिन्दू दर्शनों का क्रम-विकास इस प्रकार स्थापित किया जा सकता है—

सब से पहले वैशेषिक दर्शन है। इसमें भीतरी और बाह्य दोनों ही पदार्थों की अनेकता है। वैशेषिक दर्शन ने परमाणुओं में भी भेद माना है। न्याय दर्शन भी वैशेषिक से मिलता जुलता

है। इसमें वैशेषिक दर्शन की कमी पूरी हो जाती है; किन्तु इसमें तर्क-बुद्धि प्रधान है।

व्याख्या का स्थान वर्णन से पीछे है। न्याय और वैशेषिक दोनों ही आत्मा को सगुण और सक्रिय मानते हैं। इनका आत्मा सम्बन्धी विचार यूरोपीय आत्मा सम्बन्धी विचार से मिलता जुलता है। लेकिन ये भी मन को एक इन्द्रिय मानते हैं। ये लोग आरम्भवादी हैं; अर्थात् ये लोग कार्य की नवीनता मानते हैं। यूरोपीय दर्शनों में (विशेषकर वर्त्तमाम काल के दर्शनो में) यह बड़ा भारी प्रश्न है कि परिवर्त्तन वास्तव में है या नहीं ? ये परिवर्त्तन को वास्तविक मानते हैं। इनके मत से कार्य-कारण रूपान्तर मात्र नहीं है। इसको असत् कार्य्यवाद कहते हैं। युरोप में असत् कार्य्यवाद का अधिक प्रचार है। वहाँ भी ये लोग अनेकवादी ही हैं।

सांख्य और योग क्रम-विकास मे दूसरा स्थान पाते हैं। यद्यपि सांख्यवाले पुरुषों की अनेकता मानते हैं, तथापि वे लोग बाह्य पदार्थों का मूल स्रोत एक ही मानते हैं। सारी अनेकता प्रकृति के अन्तर्गत हो जाती है। यह दर्शन सत् कार्यवाद को मानता है। इसके अनुसार कार्य कोई नवीन पदार्थ नहीं है—कारण का ही रूपान्तर है। इसको परिणामवाद कहते हैं। युरोप में बहुत से लोग परिणाम को भी मानते हैं। वैशेषिक की भाँति सांख्य भी निरीश्वर है। जिस प्रकार न्याय सेश्वर वैशेषिक ही है, उसी प्रकार योग सेश्वर सांख्य है। सांख्य का पुरुष निर्गुण और निष्क्रिय है। यह वेदान्तियों की आत्मा से मिलता है। भेद इतना ही है कि वेदान्तियों की आत्मा अनेक नहीं है; और यह अनेक

है। जब भेद के कारण सब प्रकृति में ही आ गए, तब आत्मा को एक ही मानना ठीक था। वैशेषिक, न्याय और सांख्य व्यक्ति को प्रधान मानते हैं। योग और पूर्व-मीमांसा भी व्यक्ति को प्रधान मानते हैं। योग में चित्त की वृत्तियों के नियमित होने से उसकी अव्यक्त शक्तियों का प्रस्फुटन होना माना जाता है। पूर्व-मीमांसा में व्यक्ति के कर्म ही साधन माने जाते हैं। सांख्य के अनुसार जब व्यक्ति अपने आप को दुःख के कारणों से पृथक् मान लेता है, तभी उसकी दुःख-निवृत्ति हो जाती है। एकीकरण की अन्तिम श्रेणी वेदान्त में प्राप्त होती है। वहाँ प्रकृति भी उड़ जाती है। अपने वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से ही जीव की मुक्ति हो जाती है। यद्यपि पूर्ण एकता के लिये प्रकृति का विचार अनावश्यक ही नहीं, वरन् असङ्गत भी है, तथापि दृश्य संसार एवं जीवों के परस्पर भेदों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिये कोई तो इन भेदों को मिथ्या कह देते हैं और कोई इनको उसी एक सत्ता का स्वगत भेद मान लेते हैं। इन्हीं आधारों पर आचार्यों * ने वेदान्त-सूत्रों का अपने मन से अर्थ लगाया है।

---

* रामानुजाचार्य (विशिष्टाद्वैत) जड़ और जीव को ईश्वर का विशेषण तथा शरीर मानते हैं। ईश्वर इनकी आत्मा है। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध होने से अभेद है।

माधवाचार्य (द्वैत) भेद को स्वाभाविक और सच्चा मानते हैं। अभेद साम्य का सूचक है।

निम्बार्काचार्य (द्वैताद्वैत) के अनुसार भेद-अभेद दोनों सर्प-कुण्डल वा रवि-आतपवत् वास्तविक हैं।

वेदान्त भी कार्य-कारण में भेद नहीं मानता; किन्तु यह भेद कार्य्य को कारण का विकास मानकर उड़ाया जाता है। जल की तरङ्ग जल से भिन्न नहीं है। शुद्ध एकता मानने के लिये दृश्य संसार को असत् ही मानना पड़ता है। युरोप के प्राचीन दार्शनिक जेना और नवीन दार्शनिक वेडले ने संसार को असत् ही माना है।

ऐसी अवस्थाओं में पौराणिक कथाओं से सन्तोष हो जाता है। पर इसके अनन्तर जब मनुष्य इन कथाओं से असन्तुष्ट होकर तर्क के द्वारा इनके प्रकृत अर्थ निकालकर युक्ति से संसार की उत्पत्ति, स्थिति आदि की कल्पना करने लगते हैं, तब दर्शन की अवस्था आती है।

पहले पहल युरोप के दार्शनिकों ने, जो यूनान मे हुए थे, जड़-चेतन का भेद नहीं किया था; और न इस भेद की उनको शंका ही हुई थी। बहुत दिनों तक दर्शन का यही मुख्य प्रश्न था कि वह कौन सा प्रथम द्रव्य है, जिससे यह संसार उत्पन्न हुआ। अन्न से मनुष्य आदि जीव-जन्तु, मिट्टी से अन्न, जल से जमते-जमते मिट्टी और गरमी से पसीना या जल होता

* विष्णु स्वामी (शुद्धाद्वैत) के अनुसार सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा अपनी इच्छा से अपने तीनों गुणों को लेकर ईश्वर रूप में प्रकट होते हैं। वे अपने आनन्द अंश को तिरोहित कर जीव की सृष्टि करते है; और चित्त तथा आनन्द दोनों को तिरोहित कर जड़ की सृष्टि करते हैं। ईश्वर में तीनों गुण रहते हैं और आनन्द की प्रधानता रहती है; जीव में दो गुण रहते हैं और चित्त की प्रधानता रहती है; और जड़ में केवल सत् अथवा सत्ता का गुण रहता है।

है। ऐसी ऐसी बातों को देखकर प्राचीन दार्शनिकों में से किसी ने जल को, किसी ने आग को, किसी ने वायु को और किसी ने एक अव्यक्त द्रव्य को संसार का प्रथम उपादान माना था। उस जल, अग्नि आदि से स्वयं संसार हुआ; क्योंकि उस में जीव-शक्ति मिली ही थी। इसलिये आत्मा और ईश्वर आदि का प्रश्न ही नहीं उठा; और किसने पहले जल आदि से सृष्टि बनाई, यह शंका भी न हुई।

इस अन्वेषण के बाद यह शङ्का हुई कि संसार जैसा बदलता हुआ देख पड़ता है, वैसा ही है; अथवा एक रूप है और इन्द्रियों से सम्बन्ध होने के कारण इसमें परिवर्तन होता हुआ जान पड़ता है। एक पक्षवाले दार्शनिक संसार को केवल भाव-स्वरूप मानते थे; और दूसरे पक्षवाले इसमें प्रति क्षण परिवर्तन होना मानते थे *। अन्त में इन बातों से असन्तुष्ट होकर कुछ दार्शनिकों ने चार पाँच तत्त्व (अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी आदि) माने; क्योंकि एक पदार्थ से सब पदार्थों का बनना उन्हें असम्भव जान पड़ा। दूसरे दार्शनिकों ने परमाणुओं से संसार का निर्माण माना। इधर मूर्त वस्तुओं के निर्माण के लिये जब इन मतों का प्रचार हो रहा था, उसी समय कुछ दार्शनिकों ने आत्मा को अमर और एक शरीर से दूसरे शरीर को ग्रहण करनेवाली माना, जिससे आत्मा और शरीर का भेद धीरे धीरे स्पष्ट होने लगा।

---

* परिवर्तन माननेवालों ने सब परिवर्तन नियतिकृत माने हैं; इसलिये इन लोगों ने नियति का ज्ञान स्थापित किया। 'नियति' का विचार अभी तक मनुष्यों में जमा हुआ है।

इस अवस्था में एक दार्शनिक ने तत्वों को चार या पाँच मानना असंगत समझकर प्रत्येक विशेष पदार्थ के लिये एक पृथक् तत्व माना; और स्वयं इन तत्वों में संयोग वियोग आदि की नियामिका शक्ति न देखकर बुद्धि (Nous) को नियामक माना।

इस प्रकार की सृष्टि आदि के विषय में कल्पनाओं को व्यर्थ समझकर, "मनुष्य का ज्ञान वस्तुतः ठीक है या भ्रम है, मनुष्य का कर्त्तव्य क्या होना चाहिए, मनुष्य का ज्ञान किन विषयों तक पहुँच सकता है" इत्यादि विचारो को तार्किक लोगों ने आरम्भ किया और यह ठहराया कि वास्तविक तत्व का मनुष्य पता नहीं लगा सकता। जिस मनुष्य को जो वस्तु जैसी मालूम पड़े, वैसी ही ठीक है। सृष्टि आदि विषयो के विचार मे व्यर्थ के तर्क को छोड़कर शान्ति और सुख से जीवन बिताना ही मनुष्य के जन्म का उद्देश्य है।

इस रीति से जब आत्मा और अनात्मा का भेद कुछ कुछ जान पड़ने लगा और लोग अपने ज्ञान की स्वयं थोड़ी बहुत परीक्षा करने लगे, तब कई बड़े बड़े विचारशील उत्पन्न हुए, जिनके स्वतंत्र मत यूनान और देशान्तरों में प्रचलित हुए। सुकरात ने तार्किकों का खण्डन कर यह प्रतिपादित किया कि सब मनुष्यों में सामान्य रूपी जो वस्तु का ज्ञान है, वही पारमार्थिक ज्ञान है; और पारमार्थिक ज्ञानवाले मनुष्य कभी अनर्थ नहीं कर सकते; इत्यादि। इस प्रकार के आवश्यक विषयों का प्रतिपादन कर उसने आचार शास्त्र का वैज्ञानिक रीति से उपक्रम किया। इसके बाद यूनान में चार मुख्य मत हुए—(१) प्लेटो का मत, (२) अरिस्टाटल का मत, (३) स्टोइक का मत और (४) एपीक्यूरस का

मत। पाँचवाँ मत संशयवादियों का था, जो कभी एक और कभी दूसरे मत का अवलम्बन करके संशयवाद का प्रचार करते थे।

प्लेटो ने बतलाया कि बाह्य पदार्थ असत् हैं और शुद्ध ज्ञान रूप सत्ता है। प्लेटो के अनुयायी कुछ समय तक इस संशयवाद में रहकर यूनानी दर्शन के अन्तिम काल में समाधिवाद (Doctrine of Ecstasy) के अवलम्बी हुए और यह मानने लगे कि योग द्वारा मनुष्य संसार से मुक्त होकर ईश्वरमय हो सकता है। इस मत के साथ ही साथ चिरकाल तक ऊपर कहे हुए और भी मत चलते रहे, जिनका विवरण आगे चलकर विशेष रूप से होगा।

यूनान में देश की अवनति के कारण शास्त्र का लोप होने पर वहाँ के एवं रोम, अरब आदि के विद्वानों ने रोम, अलैक्‌जेंड्रिया आदि नगरों में प्राचीन दर्शन का प्रचार सुरक्षित रक्खा।

जिस समय ईसाई मत का प्रचार बढ़ने लगा, उस समय प्रायः इस सम्प्रदाय के प्रचारकों में अन्य मतों के खण्डन और अपने मत के स्थापन के लिये दार्शनिक तर्कों की आवश्यकता पड़ी। ये धार्मिक दार्शनिक आगटिस्न, ऐन्सेल्म टामस् आदि प्रायः अरस्तू की बातों पर अधिक श्रद्धा रखते थे। कितने ही प्लेटो का अनुसरण करते थे; क्योंकि सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के दर्शन की बहुत सी बातें ईसाई मत से मिलती हैं। इन धर्म-वादियों का मुख्य उद्देश्य संशयवाद का खण्डन और संसार के नियामक सगुण ईश्वर का स्थापना कर भक्ति मार्ग का प्रचार करना था। माध्यमिक काल में यूनान के मूल ग्रंथ लुप्त हो गए थे और टीकाओं से ही उनके विषय विदित हो सकते थे। फिर जब इटली प्रदेश

में विद्या का पुनरुत्थान (Renaissance) हुआ और, वहीं से देशान्तरों में भी विद्या का प्रचार होने लगा, तब यूनान के प्राचीन ग्रंथ पुनः प्रकाशित हुए। कुछ दिन तक तो लोग अरस्तू आदि प्राचीन दार्शनिकों ही के अनुगामी हुए; पर विज्ञान में कोपर्निकस, गेलिलियो आदि के भू-भ्रमण, भू-केन्द्रक, ज्योतिर्गणित आदि विषयों का आविर्भाव होने और बेकन आदि तार्किको की नई परीक्षा-प्रधान वैज्ञानिक रीतियों का प्रचार होने पर प्राचीन दर्शनों के प्रति उनकी श्रद्धा कम होती गई; और डेकार्ट, लीब्निज़ आदि स्वतंत्र दार्शनिक निकले। धीरे धीरे मनोविज्ञान (Psychology) के ऊपर लोगों की अधिक श्रद्धा होने लगी। ज्ञान और विज्ञान दोनों की उन्नति के लिये अनुभव और परीक्षा (Observation and experiment) आवश्यक समझे गए। इङ्गलैण्ड में ह्यूम, और फ्रांस में कौण्डियैक ने प्राचीन कल्पनाओं को सर्वथा निर्मूल प्रतिपादित कर मनुष्य के ज्ञान को सर्वथा अनुभवाधीन और जगत् के मनुष्य के ज्ञानाधीन होने के कारण सम्पूर्ण जगत ही को अनुभवाधीन प्रतिपादित किया। इन लोगों का मत अनुभववाद (Empricism) कहा जाता है।

अन्त में गत शताब्दी में काण्ट नामक एक बड़ा जर्मन दार्शनिक हुआ। उसने प्राचीन कल्पनाओ के आदेशवाद (Dogmatism) और ह्यूम आदि के अनुभव-वाद (Empricism) दोनों को अकाण्ड ताण्डव बतलाया; और यह दिखलाया कि पहले मन की शक्तियों की परीक्षा करके तब मनुष्य को दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसलिये काण्ट के मत को परीक्षावाद (Criticism) कहते हैं।

काण्ट के बाद युरोप में तीन प्रकार के दार्शनिक हुए—(१) प्रत्ययवादी फिक्ट, हेगेल आदि; (२) वस्तुवादी रोड के अनुगामी; और (३) नए अनुभववादी मिल, बेन आदि।

बीसवीं शताब्दी में भी ये दार्शनिक धाराएँ थोड़े बहुत रूपान्तर से बह रही हैं। प्रत्ययवाद का झण्डा ब्रेडले-वौसेन्कैट शाखा के हाथ में है। वार्ड और मेक्टेगर्ड भी इसी झण्डे के नीचे हैं। वस्तुवाद का प्रचार एक बिलकुल नए रूप से बर्ट्रैंड रसल के पक्षवाले कर रहे हैं। अनुभववाद के माननेवालों में विलियम जेम्स के अनुयायी आ जाते हैं। आगे के अध्यायों में इन शाखाओं का विशेष रूप से वर्णन किया जायगा।

ऊपर का निरूपण ऐतिहासिक दृष्टि से किया गया है। यहाँ पर विषय की दृष्टि से दर्शन शास्त्र की मुख्य मुख्य शाखा-प्रशाखाओं का दिग्दर्शन कराना अनुपयुक्त न होगा। यह ध्यान रहे कि ये बहुत ही मोटे भेद हैं। हर एक दार्शनिक ने अपना नया ही मत चलाया है; और दार्शनिकों को विशेष मतों या वादों के कबूतरखाने में बन्द करना बहुत ही कठिन है। यद्यपि मनोविज्ञान, तर्क शास्त्र, आचार शास्त्र, सौंदर्य्य विज्ञान, समाज शास्त्र इत्यादि दर्शन शास्त्र के सहकारी शास्त्र हैं और दर्शन शास्त्र के अङ्ग उपाङ्ग हैं, तथापि इनको विशेष विज्ञानो के वर्ग में रख दिया गया है। इनको दार्शनिक विज्ञान कहना अनुपयुक्त न होगा। सामान्य दर्शन के मुख्य दो भेद हैं। एक ज्ञान शास्त्र (Epistimology) है, जिसके द्वारा ज्ञान की सम्भावना और उसके साधनों पर विचार किया जाता है (काण्ट के दर्शन में ज्ञान शास्त्र की ही प्रधानता है); और

दूसरा सत्ता शास्त्र (Ontology) है, जिसके द्वारा सत्ता का वास्तविक स्वरूप निश्चित किया जाता है। ज्ञान शास्त्र में साधन की उपयोगिता देखी जाती है; और सत्ता शास्त्र में फल का मूल निर्धारित किया जाता है।

सत्ता शास्त्र के कई प्रकार से भेद किए जाते हैं। जो लोग संसार और ईश्वर की एकता, जीव और ईश्वर की एकता मानते हैं, वे एकवादी या अद्वैतवादी (Monist) कहलाते हैं। इनमें कुछ लोग प्रकृति अथवा भौतिक तत्व को प्रधान मानकर संसार और आत्मा की एकता स्थापित करते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं, जो आत्मा को प्रधान मानकर भौतिक तत्व को उसके अधीन या अंतर्गत कर देते हैं। ऐसे लोगो में कुछ ऐसे भी हैं, जो जीवों की एकता नहीं मानते। वे अनेकवादी कहलाने लग जाते हैं। आत्म-प्रधान एक-वादियो में सर्वेश्वरवादी (Pantheists) सर्व-विज्ञान-वादी (Pan Psychists) इत्यादि आ जाते हैं। दूसरा मत उन लोगों का है, जो भौतिक तत्व और आत्मा तत्व को पृथक् पृथक् मानते हैं। ये लोग द्वैतवादी (Dualists) कहलाते हैं। इनमें प्रायः सभी लोग जीवों के सम्बन्ध में अनेकवादी हैं। अवसरवादी (Occasionolists) भी द्वैतवादी हैं। बाह्य पदार्थ के सम्बन्ध से भी सत्ता शास्त्र के कई भेद हो जाते हैं। जो बाह्य सत्ता को मन के अधीन मानते हैं, वे प्रत्ययवादी (Idealists) कहलाते हैं; और जो लोग बाह्य संसार को मन से स्वतंत्र मानते हैं, वे लोग वस्तुवादी (Realists) कहलाते हैं। भौतिक तत्ववादी या देहात्म वादी (Materialists) वस्तुवादी हैं; किंतु सब वस्तुवादी देहात्मवादी नहीं हैं। प्रत्यय-

वादियों के विषयी या द्रष्टा-प्रधान प्रत्यय वाद (Subjective Idealism), जिसमें क्षणिक विज्ञान वाद (Solipcism) शामिल है, और विषय या दृश्य-प्रधान प्रत्यय वाद (Objective Idealism), विषयी विषयातीत प्रत्यय वाद (Trascendental Idealism), नवीन प्रत्यय वाद (New Idealism) आदि कई अवान्तर भेद हैं। वस्तु-वादियों के भी नवीन वस्तुवाद (New Realism), युक्तियुक्त वस्तु वाद (Reasoned Realism), रूपान्तरित वस्तु वाद (Transfigured Realism). आदि कई भेद हैं।

ज्ञान-शास्त्र के भी कई भेद हैं। पहले तो वे लोग हैं जो वास्तविक सत्ता को ज्ञेय मानते हैं। ज्ञानवादी (Gnostics) कहलाते हैं; और दूसरे वे जो उसको अज्ञेय मानते और अज्ञेय वादी (Agnostics) कहलाते हैं। अज्ञेय वाद के भी दो भेद हैं— ज्ञान-शास्त्र सम्बन्धी अज्ञेय वाद (Epistainlogical Agnosticism) और वैज्ञानिक अज्ञेय वाद (Scientific Agnosticism)। फिर ज्ञान के साधन संबंध से सहज ज्ञानवाद (Intuitionalism) और अनुभव वाद (Empricism) ये दो भेद हैं। बुद्धिवाद (Rationalism) भी सहज ज्ञान वाद के अंतर्गत आ जाता है। कारट ने भी ज्ञान-शास्त्र के तीन भेद किए हैं—उपदेश वाद(Dogmatism), संशय वाद (Scepticism) और परीक्षा वाद (Criticism)। जब तक ये सिद्धान्त विशेष रूप से न समझाए जायँ, तब तक ये पाण्डित्य प्रदर्शक बड़े बड़े नाम ही हैं। अब दिखाया जायगा कि इन कल्पनाओं का किस काल में, किस अवस्था में या किस आनुपूर्वी सम्बन्ध से उदय हुआ।

पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास

(पहला खंड)

प्राचीन दर्शन

पहला अध्याय

सुकरात से पूर्व का दर्शन

थेलीज, एनैक्सिमैण्डर, एनैक्सिमेनीज (संसार का मूल-तत्व)—यूनान के पूरब उसी देश की आयोनिया (यवन) नाम की बस्ती में आज से ढाई हजार वर्ष पहले ये तीन दार्शनिक हुए। इनके अनुयायी और भी बहुत से दार्शनिक हुए, जिनमें हिप्पो इनसे सौ वर्ष पीछे और डायोजीनीज दो सौ वर्ष पीछे हुआ। इन दार्शनिको की यही खोज थी कि संसार किस मूल द्रव्य (Arche) से उत्पन्न हुआ है; क्योंकि ये लोग सभी द्रव्यों में जीव शक्ति मिश्रित समझते थे। इसलिये आत्मा, ईश्वर आदि के विषय में इन्हें कोई शंका नहीं उत्पन्न हुई और न निर्जीव से भिन्न जीव कोई वस्तु इनके यहाँ मानी जाती थी ❀। थेलीज़ के मत से जल, एनैक्सि-मैण्डर के मत से एक अनियत द्रव्य (Apeirous) और एनैक्सिमेनीज़ के मत से वायु मूल द्रव्य है, जिससे आप ही आप सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति हुई है। थेलीज़ इन दार्शनिकों में सब से प्राचीन था। यह एक बड़ा ज्योतिषी भी था। सन्

❀ इन दार्शनिकों ने जो व्याख्या की है, वह बाहरी तत्त्वों द्वारा की है, भीतरी तत्त्व द्वारा नहीं की। भीतरी तत्त्व का ज्ञान विवेक से होता है।

५८५ ई० पू० में जो सूर्य ग्रहण हुआ था, उसे इसने पहले ही से बता रक्खा था। यूनान में सात बुद्धिमान् प्रसिद्ध थे, जिनमें से एक यह भी था। इस के मत से पानी से सब वस्तुएँ निकली हैं; किन्तु इसने यह नहीं बतलाया कि किस प्रकार पानी से सब वस्तुएँ बनी हैं। मालूम होता है कि शायद इस कारण से कि जल दृढ़, द्रव और वायु तीनों अवस्थाओं में परिवर्तित हो जाता है, इसने जल को सब परिवर्तनों का आधार माना था। इसका एक यह भी कारण मालूम होता है कि जल से वनस्पति और सभी जीव-धारियों को जीवन मिलता है। हिन्दू शास्त्रों में भी जल की बड़ी महिमा लिखी है। मनुस्मृति में लिखा है—"अप एव ससृजादौ तासु बीज मवासृजत"—ईश्वर ने आरंभ में जल बनाया और उसमें अपना (शक्ति रूपी) बीज डाला। "जल" को कहीं कहीं ईश्वर और कहीं कहीं ईश्वर का निवास कहा है। नारायण शब्द का अर्थ है—'नारा' (जल) जिसका अयन या घर है।

विवेक का समय पीछे से आता है। जीव और अजीव का भेद वे लोग नहीं जानते थे। बाहरी दृश्य पदार्थों के ही द्वारा संसार की व्याख्या की जाती थी। यह बात स्वाभाविक ही थी; क्योंकि जो बात सामने होती है, उसी की गणना और व्याख्या की जाती है; प्राय: गिननेवाला अपने को भूल जाता है। कठोपनिषद् में इस विषय में अच्छा कहा है—

परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्।
तस्मात्परांङ पश्यति नांतरात्मन्॥
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान मैक्षद्।
आवृत्य चक्षुरमृतत्व मिच्छन्॥

अर्थात् विधाता ने इन्द्रियों को बाहर की ओर खोला; इसलिये जीव बाहर की ओर देखता है, न कि अन्तरात्मा की ओर। कोई धीर पुरुष ही अमर तत्व को चाहता हुआ बाहर की ओर से निगाह फेरकर अन्तरात्मा को देखता है। यद्यपि यूनान के आदि दार्शनिकों ने जल, वायु आदि बाह्य पदार्थों को संसार का मूल आधार बताया है, तथापि उनका उद्योग सराहनीय है; क्योंकि उन्होंने अनेकता से चलकर एकता की ओर पहला पग रक्खा। अनेक में एक को देखा। यही व्याख्या का मूल है। जड़ और चेतन इन लोगों के मत से पृथक् नहीं थे; इसलिये ये लोग जड़वादी (Materialist) नहीं कहलाते। ये लोग भूत-बादी (Pysiologers) कहलाते हैं।

एनैक्सिमैण्डर—यह थेलीज का सहवासी था। यह ज्योतिष और भूगोल विद्या मे निपुण था। इसने अपने गद्य ग्रंथ में यह सिद्ध किया है कि सब से पहले तो एक अपरिच्छन्न परि-माण का द्रव्य था, जिससे संसार निकला है; और उसी में संसार लीन भी होता है। इस द्रव्य को सब विशेषों से रहित माना था। एनैक्सिमैण्डर का यह विचार था कि यह द्रव्य परिमाण से बाहर होना चाहिए; क्योंकि यदि ऐसा न हो, तो सृष्टि होते होते यह द्रव्य समाप्त हो जायगा। यह अपरिच्छन्न प्रथम द्रव्य किसी से नहीं निकला है; यह अनश्वर है और इस की गति भी शाश्वत है। इस की गति से सब विशेष उत्पन्न हुए हैं। थेलीज का जल भी एक विशेष पदार्थ है; इसी लिये इसने जल को संसार का मूल तत्व नहीं माना। यह कोई विशेष पदार्थ नहीं है। इसी से सब विशेष पदार्थ निकले हैं।

पहले शीत, उष्ण का भेद निकला और इसी क्रम से पृथ्वी, वायु आदि की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी पहले द्रव अवस्था में थी; उसकी अवस्था क्रम से परिवर्तित हुई। उसके सूख जाने पर जीव प्रकट हुए हैं *।

एनैक्सिमेनीज़—यह एनैक्सिमैण्डर का शिष्य था। इसके ग्रंथ का केवल एक खण्ड प्राप्य है। इसके मत से 'वायु' प्रथम द्रव्य है। वायु में घनीभाव और शैथिल्य दो गुण हैं। घनीभाव शीतलता से और शैथिल्य उष्णता से होता है। वायु के शैत्य से पृथ्वी और उष्णता से अग्नि, तारा आदि हुए हैं। जिस प्रकार प्राण वायु हमारे शरीर को साधे हुए है, उसी प्रकार वायु सारे संसार को साधे हुए है।

हिप्पो, इडीयस, डीयोजेनीज़—इन दार्शनिकों के बाद दो सौ वर्ष तक इनके अनुयायी हुए, जिनमें से मुख्य हिप्पो, इडीयस और डीयोजेनीज थे। हिप्पो थेलीज़ का अनुगामी था और जल को मूल तत्व मानता था। आर्द्रता से अग्नि, और अग्नि तथा जल के संघर्ष से संसार हुआ। इडीयस एनैक्सिमेनीज़ का अनुयायी होकर वायु को मूल तत्व मानता था। एपोलेनिया निवासी डियो-जेनीज़ भी वायु ही को मूल तत्व मानता था। एनैक्सागोरस नाम का दार्शनिक अनेक तत्व मानता था; और इन तत्वों को मिलाकर अपनी रुचि से संसार बनानेवाली आत्मा भी मानता

---

* इसके मत से और जानवरों की भाँति आरम्भ में मनुष्य भी मछली था। पृथ्वी, सूर्य्य आदि के विषय में इसके जो विचार हैं, वे आजकल के ज्योतिर्विज्ञान से कुछ कुछ मिलते हैं। इसके सिद्धान्तों में डारविन के विकास वाद का एक प्रकार से बीज है।

था। आगे इस दार्शनिक का मत विशेष रूप से लिखा जायगा। इसके प्रतिकूल डीयोजेनीज ने एनैक्सिमेनीज का मत पुनः स्थापित करना चाहा। अनेक भिन्न तत्वों का परस्पर मिलना असम्भव है और वायु ही से द्रव्यों में मादकता शक्ति, सड़ जाने पर, आती है। वायु ही जीवों मे प्राण रूप से कार्य आदि की शक्ति देती है। ऐसे हेतुओं से डीयोजेनोज ने वायु का मूल तत्व होना स्थापित किया था।

पीथागोरस और उसके अनुयायी—एनैक्सिमेनीज के समय में सेमस् द्वीप में निसार्कस् का पुत्र पीथागोरस हुआ। इसने जन्मभूमि के अनेक स्थानों मे घूमते घूमते इटली के क्रोटोना नाम के स्थान में निवास किया। पीथागोरस ने स्वयं कौन मत चलाया था, यह ज्ञात नहीं है। इसके अनुयायी फीलोलाडस आदि की उक्तियो से इसका मत जाना जाता है। इसके मत से संसार की सब वस्तुएँ संख्या के अनुकूल बनी हैं और संख्या ही वस्तुओं का सार है। संख्या के तत्व का पीथागोरस ने इस प्रकार से प्रतिपादन किया है। सब पदार्थों मे संख्या मुख्य है; क्योंकि और गुणों का नाश हो जाने पर भी संख्या बनी रहती है। लोक (Locke) ने भी संख्या मुख्य गुणों (Primary Qualities) में मानी है। संख्या को पीथागोरस ने वास्तविक सत्ता दी है। इसके विषय में तीन मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि संख्या पदार्थों का संकेत मात्र है। कुछ का यह कथन है कि पीथागोरस ने संख्या को ही पदार्थ माना है। और तीसरा मत यह है कि संख्या पदार्थों की वास्तविक सत्ता है; और दृश्य पदार्थ उसी की प्रतिलिपि हैं। बहुमत यह है कि पीथागोरस ने संख्या को

ही पदार्थ माना है। अब यह प्रश्न होता है कि संख्या को पदार्थों में किस प्रकार घटाया। ईश्वर को उसने १ संख्या माना है। "१" से बाकी सब अंक निकलते हैं। इसी प्रकार ईश्वर से सब संसार बनता है। एक से बहुत की प्रतियोगिता द्वारा (By Opposition) उत्पत्ति हुई। दो बहुत का सूचक है। तीन (१ + २ = ३) पूर्ण अंक है। चार उससे भी पूर्ण अंक है; क्योंकि देश (Space) चार दिशाएँ (Four dimension) हैं। एक से बिंदु का अर्थ है; दो से रेखा, तीन से रूप और चार से घन का अर्थ माना है। दस (१ + २ + ३ + ४ = १०) का अर्थ वृत्त अर्थात् गोला रक्खा है। पीथागोरस ने सम की अपेक्षा विषम संख्याओं को अधिक महत्वपूर्ण माना है *।

इस प्रकार पीथागोरस के अनुयायियों के अनुसार सम-विषम, नियत-अनियत, एक-बहुत, दक्षिण-वाम, स्त्री-पुरुष, गति-स्थिरता, सीधा-टेढ़ा, प्रकाश-अन्धकार, अच्छा-बुरा, लम्बा-चौपहल इन दस भेदों से सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। इन भेदों का मेल स्वर-साम्य (Harmony) के अनुसार होता है।

पीथागोरस के अनुयायियों के मत से आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जा सकती है। और दस हज़ार वर्ष के बाद सम्पूर्ण संसार जैसा पहले हुआ था, फिर वैसा ही हो जाता है। जीव जो

---

* विषम संख्याओं में दो बराबर भाग होकर एक अंक मध्य का बच रहता है। इनमें आदि, मध्य और अंत तीनों भाग होते हैं। इसी लिये उनका विशेष महत्व है। विवाहादि शुभ अवसरों पर १०१, ५१, आदि विषम संख्याओं में द्रव्य या पदार्थ आदि देना इसी आधार पर मालूम होता है।

कार्य यहाँ करते हैं, उनका फल उन्हें भविष्यत् में मिलता है। इसके ये विचार हिन्दुओ से मिलते हैं। संख्या का विचार भी हमारे यहाँ एक प्रकार से वर्तमान था *।

जेनोफेनीज, पार्मेनिडीज़, जीनो, मेलिसस् (परिवर्तन की समस्या)—ऊपर जिन दार्शनिकों का वर्णन कर चुके हैं, उन्होने यद्यपि परिवर्तन की समस्या को स्पष्ट रूप से नहीं उठाया, तथापि उनकी विवेचनाओं मे यह प्रश्न गुप्त रूप से वर्तमान था। थेलीज आदि मिलीसस् के लोगों ने बहुत्व की व्याख्या जल, वायु आदि उक्त पदार्थों द्वारा की थी। पीथागोरस ने भी एक और अनेक का प्रश्न उठाकर स्थिर और अस्थिर का प्रश्न उपस्थित कर दिया था; क्योंकि "एक" नाम का पदार्थ ही स्थिर रह सकता है; बाकी सब अस्थिर हैं। एक और अनेक का प्रश्न रूपान्तर से स्थिरता और परिवर्तन के प्रश्न में उपस्थित हो गया था। यदि एक ही पदार्थ है, तो परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। अनेक मे परिवर्तन की आवश्यकता है। इस प्रकार स्थिरता को माननेवालों और उस मत के विपरीत माननेवालों के दो दल हो गए।

पीथागोरस के समय मे जेनोफेनीज ने यवन देश (Ionia) से आकर इटली मे निवास किया। इस को लोग एनैक्सिमैण्डर का शिष्य कहते हैं। यूनान देश में मनुष्यों के सदृश देवताओं के भी आकार और आचार समझे जाते थे। ऐसे देवता बहुत से

---

* प्रायः ज्योतिष और काव्य के ग्रन्थों में बहुत से नाम और संख्याएँ पर्य्याय रूप से व्यवहृत होती हैं। जैसे वसु ८ के लिये, सूर्य्य १२ के लिये, और राम ३ के लिये लिखे जाते है।

थे। इनमें व्यभिचार आदि का भी प्रचार माना जाता था। जेनो-फेनीज़ को इन वर्णनों से बड़ी घृणा हुई। उसने यह दिखलाया कि जो आचार मनुष्यों में भी अनुचित समझा जाता है, देवताओं में उस का होना अत्यन्त अनुचित है। फिर सर्वोत्तम तो कोई एक ही व्यक्ति हो सकता है, न कि अनेक। इसलिये देवता या ईश्वर वस्तुतः एक ही है। उसका आदि अन्त नहीं है। सब संसार उसी का रूप है।

जेनोफेनीज़ का शिष्य पार्मेनिडीज़ हुआ। इस के मत से केवल ईश्वर ही नहीं, किन्तु वस्तु मात्र एक है। सब संसार सत्-स्वरूप है। असत् की स्थिति नहीं हो सकती। इसलिये पार्मेनिडीज़ कोई अभाव पदार्थ नहीं मानता था। सत् का आदि या अन्त नहीं है; क्योंकि असत् से सत् होना या सत् से असत् हो जाना दोनों ही अचिन्त्य है ❀। सत् एक और अविभक्त है; क्योंकि इसका विभाजक केवल असत् हो सकता है; पर असत् तो है ही नहीं। सत् अपने ही में पूर्ण है। इसमें विकार और परिवर्तन नहीं हो सकता। ज्ञान असत् का नही हो सकता, किन्तु सत् ही का हो सकता है; इसलिये ज्ञान सत्स्वरूप ही है। विवेक (Reason) से सत्ता मात्र की स्थिति ज्ञात होती है; और यही वास्तव में ज्ञान है। इन्द्रियों से वस्तुएँ अनेक और विकारी देख पड़ती हैं; इसलिये इन्द्रिय-जन्य ज्ञान केवल भ्रम है। वस्तुतः सत् ही है; पर मनुष्य

❀ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

श्रीमद्भगवद्गीता।

नासदुत्पद्यते न सद्विनश्यति।

सांख्यसूत्र।

अपने मन से असत् की भी स्थिति समझ लेता है। इस प्रकार सत् और असत् अर्थात् प्रकाश और तम दो पदार्थ हुए, जिनसे सब जगत् बना है। इनमे प्रकाश का अंश अधिक होने से मनुष्य को ज्ञान होता है; और तम की प्रबलता होने से अज्ञान होता है। जेनोफेनीज एक प्रकार का सर्वेश्वरवादी (Panthiest) था। इसके मत से ईश्वर ही संसार का मूल तत्व और संसार भी है। ईश्वर कोई पृथक् शुद्धात्मा नहीं है, वरन् चेतनता व्याप्त प्रकृति है। प्राचीन यूनान के लोग प्रकृति और पुरुष को अलग अलग नहीं मानते थे; वरन् प्रकृति को चेतनामय मानते थे। इस मत को अँग्रेजी में Hylozoism कहते हैं।

जिस बात को जेनोफेनीज़ ने धार्मिक शब्दों में जाहिर किया, उसको पार्मेनिडीज़ ने दार्शनिक शब्दों मे कहा; और उसी बात को जीनो ने तर्क द्वारा सिद्ध किया। जब एक बार सिद्धान्त निश्चय हो गया कि संसार एक ही पदार्थ है और वह परिवर्तन-रहित है, तब परिवर्तन की सत्ता न रही। फिर जो परिवर्तन और अनेकता संसार में दिखाई पड़ती है, वह अवश्य भ्रम रूप होगी। परिवर्तन के सत् मानने मे जो विरोध और कठिनाई पड़ती है, उसको जीनो ने अपने तर्क द्वारा बतलाया। उसने परिवर्तन को भ्रमयुक्त सिद्ध कर के अपने गुरुवर पार्मेनिडीज़ का मत पुष्ट किया।

जीनो ही युरोप में तर्कशास्त्र (Dialectics) का प्रथम प्रचारक माना जाता है। इसने अपने तर्कों से मुख्यतः यह सिद्ध किया है कि वस्तुओं मे गति और बहुत्व भ्रममूलक है। यदि वस्तुएँ अनेक हैं, तो संसार को अत्यन्त बड़ा और अत्यन्त छोटा होना चाहिए; क्योंकि प्रत्येक भाग के फिर भी अनेक भाग हो सकते हैं; और विभाग का

ठिकाना नहीं है। तो फिर संसार अनन्त भागों से बना हुआ है; अतएव अनन्त हुआ; और अन्तिम भाग अत्यन्त सूक्ष्म होंगे, इसलिये संसार बहुत छोटा है; क्योंकि ये सूक्ष्म भाग कितने ही मिलें, इनका परिमाण सूक्ष्म ही रहेगा। फिर यदि अनेक वस्तुएँ हैं, तो संख्या में वे नियत और अनियत दोनों ही ठहरती हैं। वे संख्या में नियत हैं; क्योंकि जितनी वस्तुएँ संसार में हैं, उनसे अधिक तो कहीं हैं नहीं। पर उनकी संख्या अनियत है; क्योंकि दो वस्तुओं को पृथक् करने के लिये बीच मे एक तृतीय वस्तु की आवश्यकता होती है। इस तृतीय वस्तु को उन दोनों वस्तुओं से पृथक् करने के लिये चतुर्थ वस्तु की अपेक्षा है। तो इन वस्तुओं की संख्या का अत कैसे हो सकता है! यों ही सब वस्तुएँ यदि आकाश में हैं, तो आकाश के लिये भी एक दूसरे अवकाश की अपेक्षा है; और इस अवकाश के रहने के लिये किसी और आधार की आवश्यकता होगी; और तब कहीं विश्राम नहीं होगा। इस प्रकार के परस्पर व्याघात, अनवस्था आदि दोषों को देखकर "वस्तु मात्र एक है, अनेक नहीं" ऐसा ही कहना उचित है। अब यदि यह विचारा जाय कि वस्तुओं में गति होना सम्भव है या नहीं, तो गति मानने में ये विरोध पड़ते हैं—(१) एक स्थान से दूसरे स्थान मे जानेवाला बाण आदि पहले जितना जाता है, आगे उसका आधा अंश चलेगा। ऐसे कहीं अन्त नहीं लगेगा; और न लाखों वर्ष में भी जितना जाना है, उतना होगा। (२) कछुए के कुछ देर पीछे यदि खरहा चले, तो खरहा चाहे कितना ही शीघ्रगामी हो, कछुए को पकड़ नहीं सकता; क्योंकि खरहा जब तक उस स्थान पर पहुँचेगा, जहाँ से कछुआ पहले चला था, तब तक

कछुआ थोड़ा आगे अवश्य बढ़ जायगा ❀। (३) चलता हुआ बाण प्रतिक्षण किसी न किसी स्थान पर स्थिर है; इसलिये यदि पृथक् पृथक् सब स्थानों पर स्थिर रहा, तो चाहे कितना ही समय क्यों न बीते, बाण का चलना असम्भव है। (४) प्रत्येक वस्तु की गति स्थिर मनुष्य को जैसी विदित होती है, उससे अधिक शीघ्र उस वस्तु की ओर दौड़ते हुए मनुष्य को विदित होती है। इस कारण वस्तु की वास्तविक गति का अंदाज़ नहीं हो सकता। ऐसे विरोधों के परिहार के लिये वस्तु को एक और गति-रहित अर्थात् निर्विकार मानना उचित है। जीनो ने इन हेतुओं को पार्मेनिडीज के एक-सत्तावाद के समर्थन में लगाया। पर पीछे

❀ इस पहेली को Achilles and Tortoise की पहेली कहते हैं। Achilles एक बड़ा भारी वीर पुरुष था। मान लो कि कछुआ १० गज़ आगे हो और वह १० गज़ पीछे; और यह भी मान लिया जाय कि एकिलीज़ कछुए से दस गुना तेज़ भाग सकता है। अब देखो कि जितनी देर में एकिलीज़ १० गज़ चलकर कछुए को पकड़ने की कोशिश करेगा, उतनी देर में कछुआ १ गज़ और चल लेगा, और जितनी देर में एकिलीज़ १ गज़ चलेगा, उतनी देर में कछुआ $\frac{१}{१०}$ गज़ चल लेगा; और जितनी देर में ऐकिलीज़ $\frac{१}{१०}$ गज़ चलेगा, उतनी देर में कछुआ $\frac{१}{१००}$ गज़ आगे निकल जायगा। इसी प्रकार कछुआ थोड़ी बहुत दूर आगे ही रहेगा; क्योंकि इस प्रकार भाग करने की कोई हद नहीं हो सकती। यह युक्ति देखने में तो ठीक मालूम होती है; लेकिन व्यवहार में तभी ठीक होगी, जब दूरी के भागों के साथ एकिलीज़ का पैर भी उतना ही सूक्ष्म होता जाय। आज कल के लोगों ने कई प्रकार से इन पहेलियों का खण्डन किया है। बर्गसन ने परिवर्तन के विषय में जो विचार प्रकट किए हैं, उनको पढ़कर ये युक्तियाँ ठीक न ठहरेंगी।

संशयवादियों ने अपना मत इन्हीं हेतुओं से प्रसिद्ध किया।
जीनो के समय ही में गोर्जियस् ने यह दिखाया कि केवल देश, काल, गति आदि का भेद ही असम्भव और विरोध से ग्रस्त हो, ऐसा नहीं है; किन्तु सत्ता भी कोई वस्तु नहीं है; और असद्वाद ही ठीक है। क्योंकि यदि सत्ता है, तो जैसा कि पार्मेनिडीज ने दिखाया है, उसी रीति से सत्ता को अनादि, अनन्त अर्थात् शाश्वत होना चाहिए। पर जो वस्तु अनन्त है, जिसका देश काल में कहीं विश्राम नहीं है, वह देश और काल में नही समा सकती। और जो वस्तु देश काल में नही है, वह कही नहीं है। यदि हो भी, तो हम लोग तो केवल देश और काल मे होनेवाली वस्तु को ही जान सकते हैं; इसलिये देश-कालातीत वस्तु कुछ है या नही, इसका ज्ञान ही हमें कैसे हो सकता है!

जीनो के प्रायः साथ ही साथ मेलिसस् हुआ था। यह वीर और नीतिज्ञ था। पार्मेनिडीज़ के मत से संसार सत् स्वरूप है। इसका काल मे आदि और अन्त नही है। पर मेलिसस् के मत से देश में भी संसार अपरिच्छिन्न है, केवल काल ही में नही है। और सब बातो में यह प्रायः पार्मेनिडीज् का ही अनुगामी था।

हेरैक्लीटस्, एम्पेडोक्लीज़, डीमोक्रीटस्, एनैक्सागोरस, प्रोटेगोरस (दार्शनिक लोग)—पार्मेनिडीज़ के समय के लगभग पाँच बड़े दार्शनिक हुए। उनमे से चार अर्थात् हेरैक्लीटस्, एम्पेडोक्लीज, डीमोक्रीटस् और एनैक्सागोरस तो वैज्ञानिक थे और पाँचवाँ प्रोटेगोरस संशयवादी था। इन पाँचो में यदि पार्मेनिडीज् को मिला दिया जाय, तो छः हुए। ये छः युरोप के दर्शन के मूल कर्ता कहे जा सकते हैं। जैसे भारत मे

दर्शन के छः सूत्रकार हुए थे; और उन्हीं का अनुकरण करके पीछे के दार्शनिकों ने अनेक मतों का प्रचार किया, वैसे ही पार्मेनिडीज आदि छः दार्शनिकों के अवलम्बन से युरोप के दार्शनिक विचार की वृद्धि हुई।

हेरैक्लीटस एक उत्तम वंश का विद्वान् था। इसके लेख संक्षिप्त और कठिन होते थे। इसके मत से प्रकृति एक है; पर सदा परिणामिनी है। प्रति क्षण वस्तुओं में परिणाम होता रहता है; इसलिये संसार का मूल कोई ऐसा द्रव्य होना चाहिए, जिसमें प्रति क्षण परिणाम हो। हेरैक्लीटस को ऐसा प्रति क्षण परिणामी पदार्थ अग्नि विदित हुआ। इससे उसने अग्नि को ही जगत का मूल आधार माना। यही अग्नि जीवों मे प्राण रूप है। दैववशात् परस्पर विरुद्ध वस्तुएँ संसार में उत्पन्न होती रहती हैं। हेरैक्लीटस का कथन है कि प्रति दिन नया सूर्य निकलता है; क्योंकि सूर्य की नौका मे जो अग्नि है, वह सध्या को समुद्र की अग्नि में बुझ जाती है। फिर रात को जल के वाष्पों से निकलकर प्रातःकाल उदय होती है *।

ऐसे ही संसार भी अग्नि से निकलता है और कल्पान्त मे जलकर अग्नि में प्रवेश करेगा। मनुष्यों को जगत मे बहुत सी वस्तुएँ स्थिर विदित होती है। पर यह इंद्रिय-जन्य ज्ञान भ्रमपूर्ण है। पार्मेनिडीज के अनुयायियो के मत से परिवर्तन या गति भ्रममूलक थी; पर हेरेक्लीटस् के मत से स्थिरता भ्रममूलक है।

जिस प्रकार प्रवाह मे एक स्थान के जल कण बदलते रहते

---

* जैन लोग भी दो सूर्य्य मानते है।

हैं, उसी प्रकार संसार-प्रवाह प्रति क्षण बदलता रहता है। इसकी एक कहावत है—एक ही पानी में हम दो बार पैर नहीं रख सकते। संसार का मूल शान्ति में नहीं वरन् संघर्षण में है। विकार, गति और क्रिया का पहली बार इसी ने प्रतिपादन किया था। आजकल के फरांसीसी दार्शनिक बर्गसन् (Bergson) ने यह मत बहुत ही उत्तम रीति से प्रतिपादित किया है। भारतवर्ष में बौद्ध धर्मवालों ने क्षणिक वाद माना है। बुद्ध महाराज ने इस प्रवाह का नाश करने की आज्ञा दी है; और इसमें प्रवाह के साथ चलने की आज्ञा है। इसके मत से निर्वाण बुराई समझी जायगी। जब सभी चीजें चल रही हैं, तब अचल क्या है? इसके उत्तर में वे कहते हैं कि ईश्वर के नियमों में चलना आवश्यक है; किन्तु चलने का प्रकार मात्र स्थिर है। चलने की निश्चयता ही अचल है।

मनुष्य को संतोषपूर्वक प्रकृति के अनिवार्य प्रवाह के साथ चलना उचित है; क्योंकि छटपटाने से कुछ फल नहीं होता। हेरेक्लीटस को धर्म आदि के विषय में जनता का मत बहुत ही नापसन्द था। यह मूर्ति-पूजा और हिंसापूर्ण यज्ञ की बड़ी निन्दा किया करता था। पार्मेनिडीज ने एकता और स्थिरता के आधार पर अपना दार्शनिक भवन बनाया था; और हेरेक्लीटस ने अस्थिरता तथा अनेकता का पक्ष लिया था। दार्शनिक विचार इस अस्थिर अवस्था में नहीं रह सकता था। एम्पेडोक्लीज् ने बीच का मार्ग ढूँढ़ा। निरा परिवर्तन असम्भव है; क्योंकि निरे परिवर्तन में भाव का अभाव हो जायगा और अभाव का भाव हो जायगा। सापेक्ष परिवर्तन होता है। मूल पदार्थ हमेशा रहते हैं; न घटते हैं न बढ़ते हैं; किन्तु एक दूसरे के सम्बन्ध परिवर्तित होते रहते हैं। परमाणुवादियों

ने एम्पेडोक्लीज़ के साथ सहमतता रक्खी; किन्तु भेद इतना था कि एम्पेडोक्लीज़ ने चार तत्व माने; परमाणुवादियों ने असंख्य परमाणु माने।

एम्पेडोक्लीज़ सुवक्ता और कार्य-शक्तिशाली पुरुष था। यह वैद्य, भविष्यवादी, धर्मोपदेशक आदि के अनेक कार्य करता था। इसके मत से संसार का आदि और अन्त नहीं। सब जगत चार तत्वों से उत्पन्न है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये तत्व गुणों से भिन्न हैं; और प्रत्येक के विभाग हो सकते है। ये तत्व परस्पर ऐसे विभक्त हैं कि एक से दूसरा कभी जुदा नहीं हो सकता और न इनका नाश हो सकता है। केवल अनेक तत्वों के सूक्ष्म अंश मिल जाने से एक विलक्षण द्रव्य हो गया, ऐसा जान पड़ता है। वस्तुतः सब तत्वों के अंश पृथक् ही रहते हैं। तत्वों के संयोग और वियोग के लिये संसार में दो शक्तियाँ हैं। एक का नाम प्रेम और दूसरी का द्रोह है। पहली शक्ति से तत्वों में आकर्षण होता है और दूसरी से तत्व एक दूसरे से हटते हैं। प्रेम के द्वारा तत्वों के धीरे धीरे एकत्र होने से नए नए रूप बने हैं। पृथ्वी पर पहले बड़े बड़े कुरूप जन्तु थे। क्रम से उनके अच्छे से अच्छे रूप उत्पन्न हुए। इसी का नाम विकास वाद (Evolution Theory) है; और डारविन ने इसी वाद को वैज्ञानिक नियमों के अनुसार शास्त्र का रूप दिया है।

समान से समान का ग्रहण होता है, यह एम्पेडोक्लीज़ का मत था। इसी लिये जिस इन्द्रिय में जिस तत्व का अंश अधिक है, वह उसी तत्व को ग्रहण करती है। जैसे आँख में आग्नेय तत्व अधिक

है; इससे आँख के द्वारा प्रभा का ग्रहण होता है *। तत्वों और इन्द्रियों के विषय में एम्पेडोक्लीज की बातें प्रायः वैशेषिक सूत्रकार कणाद से मिलती हैं; इसलिये इसे लोग पश्चिम का कणाद कहते हैं। पीथागोरस की तरह यह भी जीव की अनेक जन्तुओं में गति मानता था।

परमाणु वाद—प्रायः एम्पेडोक्लीज़ के साथ ही साथ ल्युकिपस् नाम का एक दार्शनिक हुआ था। इसका मत इसके शिष्य डोमोक्रीटस् के लेखों से विदित होता है। ये दोनों गुरु और शिष्य परमाणुवादी थे। इनके मत से भाव और अभाव दो पदार्थ हैं। भाव वह है, जिससे शून्य भरा हुआ है; और अभाव वह है जो शून्य रूप है। भाव अनेक परमाणुओं से बना है। सब वस्तुओ का विभाग करते करते अन्त में हम लोग परमाणु तक पहुँचते हैं; परन्तु परमाणु का विभाग नहीं हो सकता। गुण और गुरुत्व में सब परमाणु एक ही प्रकार के हैं। केवल आकार मे एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न होता है। परमाणुओं मे परस्पर आकर्षण होने से संसार उत्पन्न होता है। उन्हीं के विभाग से वस्तुओं का नाश होता है। परमाणुओ मे गुरुत्व होने के कारण अनादि काल से वे आकाश में नीचे गिरते जाते हैं। जो हलके हैं, वे धीरे धीरे गिरते हैं; और जो भारी हैं, वे शीघ्र गिरते है। अग्नि के चिकने और गोल परमाणुओं से मनुष्य की आत्मा

---

* हिन्दू शास्त्रों में भी इन्द्रियों का तत्वों से सम्बन्ध माना है। आकाश से श्रोत्र का, तेज से नेत्र का, वायु से स्पर्श का, जल से रसना (जिह्वा) का और पृथ्वी से घ्राण (नासिका) का सम्बन्ध कहा गया है।

बनी हुई है। आत्मा के ये परमाणु शरीर भर में व्याप्त हैं। साँस बाहर निकलने से आत्मा के अंश बाहर निकल जाते हैं। पर इस प्रकार जो कमी होती है, उसकी पूर्ति साँस भीतर लेने से, जिसमें वायु मण्डल के आग्नेय परमाणु अंदर पहुँचते हैं, हो जाती है। इन्द्रियों और वस्तुओं से कुछ परमाणु निकलकर बीच रास्ते में मिलते हैं; इसी से जन्तुओ को वस्तु का ज्ञान होता है। जिस आकार के परमाणु जिस इन्द्रिय में हैं, उस इन्द्रिय से उसी आकार के परमाणुओं से बनी हुई वस्तुओं का ग्रहण होता है। आनन्द से रहना मनुष्य के लिये परम सुख है और चिन्ता दुःख का मूल है। इस का क्या कारण है कि मनुष्य का सुख बाहरी विभव में नहीं, किन्तु चित्त की शान्ति और उस के संतोष में है, यह डीमोक्रीटस् ने नहीं दिखाया है। इस दार्शनिक के मत से वायु मण्डल में अत्यन्त प्रबल बड़े बड़े अदृश्य भूत हैं, जो कभी कभी स्वप्न आदि में मनुष्यों को देख पड़ते हैं *।

चित्‌शक्ति (Nous)—ऊपर चार वैज्ञानिकों के नाम आए हैं। उनमे से तीन का मत दिखलाया जा चुका है। चौथा एनैक्सागोरस् था, जिसने अपना धन आदि गँवाकर विज्ञान में अपने को लगाया और गणित शास्त्र में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। इस वैज्ञानिक ने एम्पेडोक्लीज और ल्यूकिपस् का यह मत स्वीकार किया है कि संसार का सर्वथा आरम्भ या अन्त अचिन्तनीय है; और

* हिन्दू दर्शनों में न्याय और वैशेषिक परमाणुवादी हैं। न्याय शास्त्र में परमाणु की इस प्रकार से परिभाषा दी है—परं वा त्रुटेः। अर्थात् जो त्रुटि से परे हो।

यद्यपि संसार की उत्पत्ति या उसके अन्त के लिये किसी और व्यक्ति की अपेक्षा नहीं है, तथापि इस संसार की जो अपूर्व गति और ऐसी सुन्दर रचना (Design) है, उसके लिये किसी सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमती सत् वस्तु की अवश्य अपेक्षा है। इस प्रकार जैसे भारत में ब्रह्म-सूत्रकार ने (रचनानुपपत्ते श्चनानुमतम् इत्यादि शास्त्रार्थ से) सांख्य मत का खण्डन कर ईश्वर का स्थापन किया, वैसे ही एनैक्सागोरस ने पहले पहल युरोप में ईश्वर का स्थापन किया। इसके पहले प्रायः किसी को ईश्वर की आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती थी। एनैक्सागोरस् ही के मत से संसार की रचना चित् शक्ति (Nous) ❀ से हुई। यह परमात्मा शुद्ध और सर्व शक्तिमान् है। सब वस्तुएँ पहले संकीर्ण थी। आत्मा ने अपनी विवेक शक्ति से उन वस्तुओं को अपने अपने स्थान में लगाकर इस संसार की रचना की है। एम्पेडोक्लीज का चतुर्भूतवाद और ल्युकिपस का परमाणुवाद दोनों ही एनैक्सागोरस के मत से अशुद्ध हैं। वस्तुतः संसार में सोना, चाँदी, हड्डी, मिट्टी आदि अनेक तत्व हैं। उन्हीं के छोटे से छोटे बीजों (Spermata) से संसार बना हुआ है। ये बीज बहुत छोटे हैं; परन्तु परमाणुओं के सदृश अविभाज्य नही हैं; और प्रत्येक द्रव्य के बीज अपने ही विशेष गुणो से युक्त हैं। एनैक्सागोरस् का सृष्टिक्रम प्रायः ऋग्वेद के नारदीय सूक्त में और मनुस्मृति

❀ इसके बारे में लोगों को सन्देह है कि यह नौस (Nous) प्रकृति से भिन्न कोई चेतन पदार्थ है अथवा प्रकृति का ही कोई विकार है। बहुमत यही है कि एनैक्सागोरस ने इसको प्रकृति से स्वतंत्र माना है।

के आरम्भ में दिए हुए सृष्टि-क्रम से मिलता जुलता है। इसके मत से सृष्टि के आरम्भ में सब वस्तुएँ मिली हुई थीं; कोई विशेष नहीं विदित हो सकता था। चित् शक्ति (Nous) ने किसी एक केन्द्र में चक्राकार गति उत्पन्न की। उसी आवर्त में आस पास के सब द्रव्य आने लगे। घन द्रव्य नीचे जमने लगे और हलके द्रव्य ऊपर आ गए। इसी घन द्रव्य से पृथ्वी हुई है। इसी प्रकार सृष्टि-क्रम चला। एक बार गति उत्पन्न करके फिर ईश्वर संसार में हाथ डालता है या नहीं, इस विषय में एनैक्सागोरस ने कुछ नहीं कहा है।

इन्द्रियज ज्ञान विरुद्ध वस्तु का होता है; अर्थात् जिस इन्द्रिय में प्रभा का अंश अधिक है, उससे अन्धकार प्रधान पदार्थ का ग्रहण होगा। इसी लिये दृष्टि भास्वर दृष्टि के पार हो जाती है और मन्द प्रभाववाले द्रव्य को देखती है। ऐसा ही और इन्द्रियों के विषय में भी समझना चाहिए।

वितण्डावादी—जिस शतक में पूर्वोक्त चारो दार्शनिक हुए, उस शतक में प्रायः दार्शनिकों में इन्द्रियज ज्ञान को प्रमाण न मानने की प्रवृत्ति रही; और संसार की सृष्टि आदि के विषय में कई प्रकार की कल्पनाएँ वर्तमान थीं। जब एक विषय में बहुत से मत खड़े हो जायँ, तब उनकी सत्यता में लोगों को स्वाभाविक रीति से सन्देह होने लगता है। इसके साथ ही यह भी सन्देह होने लगता है कि जिस बुद्धि द्वारा इन सब मतों का प्रादुर्भाव हुआ है, उस बुद्धि की सत् ज्ञान प्राप्त करने में कहाँ तक सामर्थ्य है। इसी के साथ यूनान देश की ऐसी राजनीतिक अवस्था हो रही थी कि उसमें विचार की स्वतंत्रता बढ़ना स्वाभाविक था।

प्रजासत्व प्रधान (Democratic) संस्थाएँ बढ़ गई थीं। उसी के साथ व्यक्तिवाद की मात्रा बढ़ती जाती थी। सभी अपने को पण्डित मानने लगे थे। दूसरों के मत का विरोध और अपने मत की पुष्टि ही शिक्षकों और विद्यार्थियों का काम होता जाता था। ख्याति और राजनीतिक प्रभाव के लिये प्रत्येक महत्वाकांक्षी पुरुष फीस देकर वक्तृत्व कला में प्रवीणता प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। ऐसी अवस्था में तर्क से सब मतों की परीक्षा करनेवाले सर्व साधारण को वक्तृता आदि से शिक्षा देनेवाले वितण्डावादी (Sophist) हुए *। इस सम्प्रदाय के लोगों में मुख्य प्रोटेगोरस् नाम का दार्शनिक था। यह डीमोक्रीटस् का मित्र था। हेरेक्लीटस् ने दिखलाया था कि कोई वस्तु, जिसको हम इन्द्रियों से देख सकते हैं, स्थिर नहीं है; इसलिये इन्द्रियज सत्य शुद्ध परमार्थ को नहीं बता सकता। परमार्थ जानने के लिये विवेक की शरण लेनी चाहिए।

---

* सोफिस्ट (Sophist) का वास्तविक अर्थ विद्वान् या पंडित है। आरम्भ में इनका उद्देश्य अच्छा था; किन्तु जब ये लोग अपने पाण्डित्य का दुरुपयोग करने लगे, तब से इस शब्द का बुरा अर्थ हो गया।

दूसरा अध्याय

-----•••-----

सुकरात की शिष्य-परम्परा

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू (Socretes, Plato and Aristotle)—सुकरात उन दार्शनिकों में से प्रथम है, जिन्होंने पूर्वोक्त तार्किकों के कुतर्कों का खण्डन कर पुनः दर्शन शास्त्र की नीव डाली। सुकरात स्वयं बड़ा तार्किक था। इसका पिता पत्थर काटनेवाला था और माता दाई का काम करती थी। इसके पिता का नाम सोफ्रोनिस्कस और माता का नाम फैनारेटी था। किसी किसी ने लिखा है कि यह एनैक्सागोरस का शिष्य था; पर इस बात का पक्का प्रमाण नहीं है। यह सोफिस्ट लोगों से प्रायः मिला करता था और उनके व्याख्यान सुना करता था। पर इसको दार्शनिक विज्ञान किसी गुरु से नहीं मिला; वह इसी के गम्भीर विचारों से आविर्भूत हुआ। इसने अपने पिता का कार्य सीखा था। पर विज्ञान में लगने के कारण इसकी जीविका अच्छी तरह नहीं चल सकती थी। बड़ी दरिद्रता की अवस्था में भी अपने उदार विचारो को इसने नही छोड़ा। इसका जीवन बहुत ही साधारण था। न्याय, दया, भक्ति आदि गुणों के कारण यह मनुष्यों के लिये आदर्श रूप समझा जाता है। इसका मुख्य कार्य बाजार वगैरह में जाकर अच्छे लड़कों के सामने धर्म आदि

पर व्याख्यान देना और उनको अच्छे मार्ग पर ले चलना था ॐ। अन्त में इसके मूर्ख शत्रुओं ने इस पर नास्तिकता आदि का अपवाद लगाया और वहाँ के नगर-शासकों ने विष द्वारा इस के वध की आज्ञा दी। इसके मित्रों ने इसके कारागार से भाग निकलने का प्रवन्ध किया। पर इसने इस छल को स्वीकार नहीं किया। शासकों की आज्ञा से समय पर इसे विष दिया गया और इसने शान्ति के साथ विष खाकर यह संसार छोड़ दिया।

ॐ सुकरात के विषय में यह कहा जाता है कि जिस प्रकार उसकी माता बच्चे जनाने का काम करती थी, उसी प्रकार वह मनुष्यों में विचार उत्पन्न करता था। उसकी पद्धति भी ऐसी थी कि वह स्वयं बहुत कम बात कहता था; किन्तु प्रश्नों के द्वारा और लोगों के मुँह से यथार्थ सिद्धान्त निकलवा लेता था। उसमें यह बड़ी बात थी कि वह लोगों के अज्ञान को तुरन्त प्रकट कर देता था। जिन बातों को लोग निश्चित समझते थे, उनको वह अपने तर्कपूर्ण प्रश्नों द्वारा शीघ्र ही अनिश्चिति सिद्ध कर देता था। इसी कारण बहुत से लोगों ने उसे सोफिस्टों अथवा कुतार्किकों की श्रेणी में रक्खा है। कुतार्किकों में उसे शामिल करना ठीक नहीं जँचता; क्योंकि कुतार्किकों की अल्पज्ञता उसने खूब दिखाई थी। फिर वह अपने श्रोताओं से कोई फीस भी नहीं लेता था। कुतार्किकों का अभिप्राय केवल खण्डन करना रहता था; पर वह तो खण्डन के द्वारा लोगों की अल्पज्ञता प्रकट करके उन्हें सुविचार की ओर झुकाने का यत्न करता था। वह साधारण जीवन से उदाहरण लेकर उनके आधार पर प्रश्न करता; और साधारण विचारों की सीमा स्थिर करके उनकी परिभाषा निश्चित करने में लोगों की सहायता करता था। यही उसमें और कुतार्किकों में भेद था।

इसके दो प्रिय शिष्य थे। एक प्लेटो और दूसरा जेनोफन*। सुकरात का कोई अपना लेख न होने के कारण इन्हीं दोनों के लेखों से इसके दर्शन का पता लगता है। सुकरात का यह मत था कि मनुष्य को प्रकृति-विज्ञान से उतना लाभ नहीं है, जितना आचार-विज्ञान से है। इसलिये आचार तत्वों का अन्वेषण ही दार्शनिकों का मुख्य कर्तव्य है। सुकरात समझता था कि ज्ञान और धर्म अभिन्न हैं। अज्ञानी धर्म नहीं कर सकता और ज्ञानी अधर्म नहीं कर सकता। अधर्म वही मनुष्य करता है, जो अधर्म ही से अपने वास्तविक लाभ की आशा रखता हो। जिसको यह पक्का ज्ञान है कि धर्म से पारमार्थिक लाभ है, वह पुरुष कभी अधर्मी नहीं हो सकता। मनुष्य को आत्म-ज्ञान पर, अर्थात् अपनी बुद्धि और शक्ति पर, विचार करना चाहिए। प्राय: जिस बात को मनुष्य कुछ नहीं जानते, उसको भी वे समझते हैं कि वे अच्छी तरह जानते हैं। इसलिये मनुष्य को सदा अपने ज्ञान की परीक्षा करते रहना चाहिए। जिसमें उचित प्रकार से लाभ हो, वही कार्य मनुष्य को करते रहना चाहिए। अपनी

---

* इन दोनों शिष्यों ने सुकरात का वृत्तान्त लिखा है। इस पर भी लोगों में मत-भेद है कि दोनों में किसका लिखा हुआ वृत्तान्त अधिक माननीय है। जेनोफन ने ऐतिहासिक दृष्टि से लिखा है और प्लेटो ने दार्शनिक दृष्टि से। प्लेटो के वर्णन में यह जानना कठिन है कि कितना स्वयं प्लेटो का लिखा हुआ है और कितना सुकरात का। प्लेटो दार्शनिक था और वही अपने गुरुवर का यथार्थ अभिप्राय समझ सकता था। उसके वर्णन में यद्यपि बहुत सी बातें स्वयं उसी की हों, किन्तु उनके द्वारा हम सुकरात के यथार्थ भाव समझ सकते हैं।

आवश्यकताओं को कम कर देने से और सहनशीलता आदि गुणों को बढ़ाने से मनुष्य का जीवन सुख से बीत सकता है।

सुकरात के कर्तव्य संबंधी विचारों की उसके शिष्यों द्वारा दो परस्पर प्रतिकूल शाखाएँ हो गई थीं। एरिस्टिपस (Arristipus) ने सिरेनिक सम्प्रदाय स्थापित किया और एन्टिस्थेनीज़ ने सिनिक सम्प्रदाय की नींव डाली। सिरेनिक लोग सुखवादी थे। इन लोगों के मत से सुख से अन्त होनेवाले कार्य ही कर्तव्य थे। एपिक्यूरियन लोगों ने इस मत को बहुत विस्तार दिया था। सिनिक लोगों ने कर्तव्य कर्मों को धर्म समझकर करना सिखाया। कर्तव्य कर्म करना चाहिए; क्योंकि वह कर्तव्य है, न कि इसलिये कि उसका फल सुख होगा। अर्थात् वे कर्म ही अच्छे हैं और उनका करना ही धर्म है; इसलिये फल की कुछ परवा न करके धर्म पर दृढ़ रहना चाहिए।

प्लेटो या अफलातून—सुकरात का मुख्य शिष्य प्लेटो था। इसका पिता एरिस्टी और माता पेरिक्रियनी दोनों ही बड़े प्रतिष्ठित और धनी वंश के थे; इससे प्लेटो को अच्छी शिक्षा का सुभीता मिला। प्लेटो का पहला नाम एरिस्टोक्लीज़ था। इसको केटिलस और सुकरात से दर्शन का अभ्यास हुआ था। सुकरात की मृत्यु के समय यह बाहर था; और उसका वृत्तान्त सुन उदास होकर मिस्र आदि देशों में घूमता हुआ एथेन्स में आया। वहाँ कुछ वर्ष रहने के बाद यह फिर देशाटन को गया। अनेक क्लेश सहने के बाद लौटकर एथेन्स की व्यायाम भूमि में, और कुछ दिन अपने उद्यान में, इसने पाठशाला खोलकर वहाँ पढ़ाना और व्याख्यान देना शुरू किया। यह बड़ा गणितज्ञ

भी था। इन पाठशालाओं में गणित और दर्शन की शिक्षा होती थी।
सच्चरित्रता, विद्या और शान्ति के कारण सब लोगों में मान पाकर और बहुत से दर्शन ग्रंथ लिखकर अन्त तक पूर्ण शारीरिक और मानसिक शक्ति रखता हुआ यह अस्सी बरस का होकर मरा। इसके ग्रंथ प्रायः संवाद के रूप में लिखे गए हैं। इनमे दो या अधिक पुरुष दर्शन, नीति आदि विषयों में परस्पर शंका समाधान करते हैं। गूढ़ विषयो में मनुष्य के विचार की भी यही स्वाभाविक पद्धति होती है। सब पक्षों का विचार करने में एक प्रकार का संवाद हो ही जाता है। प्लेटो के ऐसे पैंतीस संवाद और तेरह पत्र ज्ञात हैं। इन ग्रंथों में सुकरात मुख्य वक्ता बनाया गया है और उस समय के और लोग शंका आदि करनेवाले हैं।

युरोप के प्राचीन दर्शनों के इतिहास में सुकरात, प्लेटो और अरस्तू ये तीन व्यक्ति केन्द्र रूप हैं; और इन तीनों में भी प्लेटो मुख्य है। प्लेटो के पूर्व की फिलासोफी उसके विचारों की भूमिका थी और उसके पीछे की फिलासोफी उसके विचारों का उपसंहार है। प्लेटो में एक प्रकार से उसके पूर्वगामी दार्शनिकों के मत का समाहार हो गया है। एकानेक अथच परिवर्तन और स्थिरता ये दोनों समस्याएँ दार्शनिक इतिहास के प्रारंभ से चली आई हैं। प्रोटेगोरस के मत की भाँति प्लेटो भी इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को विश्वसनीय नहीं समझता। किन्तु वह वहीं नहीं रह जाता, वरन् सुकरात के मत की भाँति निश्चित ज्ञान के प्रत्ययों को भी मानता है। उसके अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान और लोकमत केवल 'मत' (Opinion) की संज्ञा में आता है; ज्ञान की कोटि में नहीं पहुँचता। दार्शनिकों के निश्चित प्रत्यय

(Concepts) ज्ञान हैं। सुकरात के मत से यह सामान्य या प्रत्यय केवल ज्ञान है। प्लेटो के मत से यह पार्मेनेडीज़ की सत्ता की भाँति अचल है और पीथागोरस की संख्याओं की तरह यह दृश्य पदार्थों का सारभूत है। मनुष्य चाहे रहे, चाहे जाय, मनुष्यत्व सदा रहेगा; और मनुष्यत्व के द्वारा ही मनुष्य सदा मनुष्य होता है।

हेरेक्लाइटस का परिवर्तन और डेमोक्राइटस की अनेकता का भी प्लेटो ने तिरस्कार नहीं किया। अनेकता तो संवित्तों में ही आ गई; किन्तु यह अनेकता सम्बन्ध-रहित अनेकता नहीं है। ये अनेक सामान्य एक सामान्य अर्थात् श्रेय (Good) के अन्तर्गत और अधीन हैं। ये परिवर्तनशील सांसारिक दृश्य पदार्थ प्रत्ययों की प्रतिलिपि (Copies) हैं; और इनकी सत्ता कुछ सत् और असत् के बीच की सत्ता है। प्रधान सत्ता सामान्यों की है और गौण सत्ता दृश्य पदार्थों की। सामान्यों की प्रधान सत्ता मानकर प्लेटो ने एनैक्सेगोरस का मत पुष्ट किया। सुकरात ने इन सामान्यों को विशेषों के अनुगत किया था; और प्लेटो ने विशेषों को सामान्यों से निकाला। शांकर वेदान्त की भाँति प्लेटो दृश्य पदार्थों की गौण सत्ता मानता है; पर इसमें और वेदान्त में इतना भेद है कि आचार्य शंकर का सत् पदार्थ निर्विशेष और भेदशून्य एक पदार्थ है; और प्लेटो के सत पदार्थ अनेक तथा सविशेष हैं। किन्तु इसके साथ ही इतना अवश्य है कि इन संवित्तों की अनेकता एक के अधीन है। प्लेटो को बहुत से लोगों ने प्रत्यय-वादी (Idealist) कहा है; किन्तु वास्तव में वह प्रत्यय-वादात्मक वस्तुवादी था; अर्थात् सामान्य प्रत्यय ही इसकी वस्तु है। प्लेटो

के प्रत्ययों का सिद्धान्त बहुत ही कठिन है। संक्षेप में वह सिद्धान्त इस प्रकार है।

प्रकृति का सिद्धान्त—प्लेटो एक प्रकार से द्वैतवादी था। ऊपर कहा गया है कि प्लेटो दृश्य पदार्थों को सत् सामान्यों की प्रतिलिपि मानता था। अब यह प्रश्न होता है कि यह प्रतिलिपि किस पर उठाई जाती है? इस चित्र के लिये कोई भीत या कागज है या नहीं? इसके लिये प्लेटो ने प्रकृति रूप, निर्गुण, आकार-रहित एक 'अदृश्य' पदार्थ माना है, जिस पर ईश्वर या विश्वात्मा अपने मन के प्रत्ययों और आकारों का ठप्पा लगा देती है। ये मौलिक आकार (Original forms) विश्वात्मा में रहते हैं। कुछ लोगों ने इस अदृश्य पदार्थ को शून्य तथा कुछ ने दिशा (Space) कहा है। इस प्रकार प्लेटो में काण्ट के सिद्धान्तों के बीज वर्तमान थे। सांख्यवालों के प्रधान से अफलातूनी प्रकृति भिन्न है। सांख्यवालों के प्रधान में गुण और क्रिया है, किन्तु इसमें नहीं है। प्लेटो के मत से संसार मे जो बुराई है, वह इसी प्रकृति के द्वारा आती है। इस विषय मे प्लेटो का सांख्य तथा वेदान्तवालों से सादृश्य है।

ज्ञान-मीमांसा और मनोविज्ञान (Epistomology and Psycholgy)—ऊपर बतलाया गया है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान और लोकमत का तिरस्कार करके बुद्धि-जन्य ज्ञान या सिद्धान्त को यथार्थ ज्ञान माना है। प्लेटो ने मत (Opinion) और सिद्धान्त ज्ञान (Knowledge) इन दोनो विभागों में से प्रत्येक के दो दो विभाग किए हैं—एक नीची श्रेणी तथा दूसरी उच्च श्रेणी। नीची णी का मत नितान्त अन्ध विश्वास है, जिसके अनुसार कपूर

और कपास, वस्तु और छाया में कुछ भेद नहीं है। उच्च श्रेणी के मत को प्लेटो ने विश्वास कहा है। इसमें सत् और असत् का थोड़ा बहुत विवेक रहता है। नीची कोटि के ज्ञान में गणित संबंधी ज्ञान रक्खा है; क्योंकि उसमें कल्पना का बहुत अंश रहता है। उच्च कोटि का ज्ञान 'श्रेय' (Good) का ज्ञान है। इसी ज्ञान के विचार से आत्मा परम पद को प्राप्त होती है। यह ज्ञान संस्कार रूप से आत्मा में वर्तमान रहता है। सौन्दर्य के मनन से उत्पन्न हुए प्रेम द्वारा आत्मा मे इस ज्ञान का पूर्ण उदय होता है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप श्रेय का ज्ञान है; किन्तु प्रकृति के योग से आत्मा में नीच कोटि के दो और तत्व आ जाते हैं। उनमें से पहले के अन्तर्गत क्रोधादि मनोविकार हैं; और दूसरे में क्षुधा, तृष्णा आदि शारीरिक आवश्यकताएँ हैं। इनमे बुद्धि-जन्य ज्ञान ही प्रधान है और वह इन दोनो तत्वो को नियमित करता रहता है।

प्लेटो ने बुद्धि की तुलना सारथी से की है। हमारे यहाँ उपनिषदों में कहा है—"बुद्धिंतु सारथं विद्धि*"। क्रोधादि विकार हमारी उन्नति के मार्ग मे बाधा डालते हैं; किन्तु बुद्धि को चाहिए कि उन पर जय प्राप्त करे। प्लेटो ने आत्मा को अमर माना है; और इस के साथ ही साथ उसने आत्मा का पूर्व जन्म और पुनर्जन्म भी माना है। आत्मा के अमरत्व के विषय मे प्लेटो ने अपने फीडो (Phoedo) नामक ग्रंथ में चार युक्तियाँ दी हैं। पहली

---

* पूरा मंत्र इस प्रकार है—

आत्मानं (ऽ) रथिनं विद्धि शरीर (ऽ) रथमेवतु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रह मेवच ॥

युक्ति इस आधार पर है कि संसार में सभी पदार्थों के द्वन्द्व हैं। घटने के साथ बढ़ना और उन्नति के साथ ह्रास लगा है। भलाई के साथ बुराई और बुराई के साथ भलाई है। जागने के साथ निद्रा और निद्रा के साथ जागना है। इसी प्रकार जीवन के साथ मरण और मरण के साथ जीवन होना चाहिए। दूसरी युक्ति इस आधार पर है कि शरीर भौतिक, मिश्रित तथा दृश्य है; और आत्मा—ज्ञान की भाँति—अभौतिक, अमिश्रित एवं अदृश्य है। अतः शरीर का ही विच्छेद और मरण होता है, आत्मा का नहीं। तृतीय युक्ति हम में पूर्वार्जित ज्ञान के उदय होने के आधार पर है। इससे पूर्व-जन्म सिद्ध होता है। चौथी युक्ति इस आधार पर है कि मृत्यु का विचार आत्मा के विचार के विरुद्ध है। आत्मा सब पदार्थों का जीवनदाता है; अतः वह स्वयं अमर है।

प्लेटो के कर्त्तव्य-तथा राजनीति सम्बन्धी विचार—प्लेटो के कर्तव्य सम्बन्धी विचार उसके अन्य विचारों के फल हैं। सुकरात की भाँति प्लेटो ने भी ज्ञान को ही मुख्य कर्तव्य माना है। इसी लिये प्लेटो के समाज मे दार्शनिक ही आदर्श पुरुष है। प्लेटो ने आत्मा के तत्वों का जो विश्लेषण किया है, उससे चार मुख्य धर्म निकलते हैं। आत्मा की तीन प्रकार की प्रकृति है। एक उच्चतम जो कि आत्मा की स्वाभाविक है। अन्य दो प्रकृतियाँ स्वयं प्रकृति के सम्बन्ध से प्राप्त होती हैं, जिनमें से एक ऊँची तथा दूसरी नीची है।

आत्मा—

	बौद्ध प्रकृति	तत्सम्बन्धी इन्द्रिय	तत्सम्बन्धी धर्म
(१)	(Rational nature)	मस्तिष्क	चातुर्य (Wisdom)

(२) अशौद्ध प्रकृति (Irrational nature) — उच्च भाग–हृदय — शौर्य (Courage); मध्य भाग–प्रकृति — संयम (Temperance) *

इन तीनों धर्मों के साम्य का नाम न्याय (Justice) रक्खा है। सुव्यवस्थित समाज में ही मनुष्य इस न्याय का आदर्श चरितार्थ कर सकता है। आदर्श मनुष्य के लिये आदर्श समाज चाहिए। समाज मनुष्य अथवा व्यक्ति का विशद रूप है (Society is individual writ large)। मनुष्य की आत्मा में तीन तत्व हैं। उन्ही के अनुकूल समाज में भी तीन विभाग हैं। राजा लोग (जिन्हें दार्शनिक होना चाहिए) समाज के मस्तिष्क हैं। उनमें बुद्धि और चातुर्य की प्रधानता होनी चाहिए। जिस प्रकार बुद्धि मनुष्य की नीची प्रकृतियों पर शासन करती है, उसी प्रकार राजा लोग समाज की अन्य जातियों पर शासन करते हैं। दूसरे तत्व के अनुकूल समाज में लड़नेवाले सिपाही योद्धा लोग हैं। तीसरे तत्व के अनुरूप समाज में कारीगर और पेशेवर लोग हैं। इनका मुख्य धर्म संयम है †। अच्छे समाज में इन तीनों धर्मों का

---

* यह विवरण हमारे यहाँ के 'सत्' 'रज' और 'तम' गुणों से किसी अंश में मिलता है। सत् का बुद्धि से सम्बन्ध है; सत् की चातुर्य्य से समानता है। रज का क्रिया से सम्बन्ध है; इसलिये इस विभाग में शौर्य्य का स्थान रज को मिलता है। तम का सम्बन्ध काम, क्रोधादि मनोविकारों से है; और प्लेटो के विभाग में 'संयम' इन मनोविकारों को नियमित रखने से सम्बद्ध होने के कारण 'तम' से सम्बन्ध रखता है।

† यह विभाग हमारे यहाँ के वर्ण-विभाग अथवा वर्ण-व्यवस्था से कुछ कुछ मिलता जुलता है।

न्याय द्वारा पालन होना आवश्यक है। समाज को अच्छा बनाने के लिये कई बातें आवश्यक हैं। सब से पहले समाज के शासकों की शिक्षा न्यायानुकूल होनी चाहिए। ये शासक लोग अपने माता पिता से पृथक् रक्खे जायँ। स्त्री पुरुषों के अनुचित संभोग को रोककर समाज के लिये सुसंतान उत्पन्न करनी चाहिए। एक प्रकार से प्लेटो के समय में प्रजनन शास्त्र (Eugenics) के सिद्धान्त बीज रूप से वर्तमान थे। उसने अपने "रिपब्लिक" (Republic) नामक ग्रंथ में राज्य-शासकों की शिक्षा के संबंध में सम्मिलित सम्पत्तिवाद (Communionism) के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। प्लेटो के मत से शासक जाति में कोई व्यक्तिगत संपत्ति नहीं होनी चाहिए। यहाँ तक कि बच्चे और स्त्रियाँ भी सम्मिलित सपत्ति समझी जायँ! बच्चे अगर अपने को माता पिता की सतान समझेंगे, तो राज्य की यथोचित सेवा न कर सकेंगे। स्त्रियों और पुरुषों की एक सी शिक्षा और एक से अधिकार होने चाहिएँ। प्लेटो ने स्त्रियों को भी शारीरिक व्यायाम की शिक्षा देने का विधान किया है।

शिक्षा के सम्बन्ध में प्लेटो का यह विचार था कि समाज के भावी शासकों में स्वाभाविक शील और शौर्य होना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि ये गुण उचित मात्रा में बढ़ाए जायँ। उस समय के लोगों का विचार था कि शरीर के लिये व्यायाम और मन के लिये काव्य-कला आवश्यक है। प्लेटो ने इस शिक्षा-प्रणाली का इस प्रकार संशोधन करना चाहा कि व्यायाम भी मानसिक उन्नति का साधन समझा जाय। काव्य-कला की शिक्षा का भी उसने बहुत सुधार किया था।

प्लेटो देवताओं के सम्बन्ध में अश्लील बातों के लिखे या गाए जाने का पक्षपाती न था। नाटकादि कलाओं को भी वह बहुत अच्छा न समझता था। उसके मत से शासक वर्ग को पहले ज्ञान, गणित और ज्योतिष की शिक्षा देनी चाहिए। इसके पश्चात् उन्हें और बातो की शिक्षा मिलनी चाहिए; और अन्त में उन्हें श्रेय पर मनन करने के लिये तैयार होना चाहिए। जिसने श्रेय के सम्बन्ध में मनन किया हो, वही शासक हो सकता है। प्लेटो का आदर्श समाज कभी वास्तविकता के निकट नही पहुँचा। सिराक्यूज़ (Syracuse) में दार्शनिक राजा बनाने का यत्न किया गया था; किन्तु उसका शासन सफल नहीं हुआ। उस परीक्षा की विफलताओं से प्लेटो हताश नही हुआ। वास्तव में यह बात ठीक है कि राजा को विचारशील होना चाहिए; किन्तु इतना भी विचारशील न हो कि उसमे दीर्घ-सूत्रता का दोष आ जाय। सम्मिलित सम्पत्ति शास्त्र भी कठिनाइयों से भरा हुआ है। इसके विरुद्ध सब से बड़ी बात यह है कि यह सिद्धान्त कहीं और कभी कार्य रूप मे परिणत नहीं हो सकता। चाहे कोई क्रिया कार्य में परिणत न हो सके, तो भी उसके द्वारा विचार में परिवर्तन अवश्य होता है। प्लेटो का मूल्य उसके आदर्श से निर्धारित करना चाहिए, न कि उसकी विफलताओं से।

अरस्तू—प्राचीन यूनान मे यह कहावत थी कि प्रत्येक विचारशील पुरुष या तो प्लेटो का अनुयायी होगा या अरस्तू का। अरस्तू के महत्व का अनुमान इसी से हो सकता है। अरस्तू और प्लेटो के मत मे किन किन बातो का भेद है, यह आगे चलकर ज्ञात हो जायगा। प्लेटो और अरस्तू के मत-भेद का एक विनोदपूर्ण

चित्र भी वर्तमान है। उस चित्र में प्लेटो आकाश की ओर देख रहा है और अरस्तू जमीन की ओर। किन्तु वास्तव में यह बात ठीक नहीं है। न प्लेटो जमीन की ओर देखने में संकोच करता था और न अरस्तू ही आकाश की ओर देखने से किसी प्रकार घबराता था।

अरस्तू स्टेजिरा नगर के वैद्य निकोमेकस् का पुत्र था। इसने बहुत काल तक प्लेटो के स्कूल में शिक्षा पाई थी। पीछे से इसने अपना स्वतंत्र स्कूल स्थापित कर लिया था। इसने कुछ वर्ष तक मेसिडन के राजा प्रसिद्ध सिकन्दर के अध्यापक का कार्य किया था। सिकन्दर अपनी विजय-यात्रा में इसको भारत आदि देशों से अनेक जीव-जन्तु भेजा करता था, जिनसे इसको विज्ञान के अन्वेषणों में बड़ी सहायता मिलती थी। एथेंस नगर के लीकियम के बागों में यह अध्यापन किया करता था। सिकन्दर के मरने पर एथेंस में लोगों ने राज-विप्लव की अवस्था में अरस्तू पर नैतिक अभियोग लगाए। इस कारण वहाँ से हटकर यह कार्लिकस नगर में गया और कुछ दिनों बाद वहीं मर गया। प्राचीन समय का ऐसा कोई दर्शन या विज्ञान का विषय नहीं था, जिस पर अरस्तू ने कुछ न लिखा हो। युरोप में न्याय शास्त्र का उपक्रम इसी ने किया। इसने आचार, नीति, शारीरिक, जन्तु विद्या आदि अनेक शास्त्र प्रकाशित किए।

तर्क शास्त्र—यद्यपि तर्क की नीव सुकरात के समय में पड़ गई थी, तथापि अरस्तू को ही तर्क शास्त्र के आदि कर्त्ता होने का गौरव प्राप्त है। इसने अपने तर्क शास्त्र को एनैलेटिक्स (Ana-latics) नाम दिया है। तर्क शास्त्र का मुख्य उद्देश्य ज्ञान-

प्राप्ति की पद्धति बतलाना है। यह यथार्थ विचार का शास्त्र है। विचार तर्क द्वारा होता है। तर्क द्वारा सामान्य (Universal) से विशेष (Particular) की प्राप्ति होती है। अनुमान निर्धारणों द्वारा होता है। निर्धारण प्रत्ययों से प्राप्त होता है। हमारे ज्ञान का प्रारम्भ प्रत्यक्ष से होता है; और प्रत्यक्ष से सामान्य की प्राप्ति होती है; इसलिये निगमनात्मक अनुमान के लिये आगमनात्मक अनुमान की आवश्यकता होती है। विशेष की प्राप्ति निगमनात्मक (Deduction) द्वारा होती है; और सामान्य की प्राप्ति आगमन (Induction) से होती है।

अरस्तू ने दस पदार्थ (Catagories) माने हैं। ये पदार्थ निर्धारण या निर्णय के विधेय (Predicates) के साधारण आकार हैं। ये विधेय की संज्ञाएँ हैं। ये पदार्थ इस प्रकार हैं—द्रव्य, गुण, परिमाण, सम्बन्ध, देश, काल, स्थिति, अवस्था, क्रिया और भोग।

जितनी प्राकृतिक या कृत्रिम वस्तुएँ हैं, उन सभी के निर्माण के लिये चार कारणों की अपेक्षा होती है—समवायिकारण, असमवायिकारण, निमित्त कारण और लक्ष्य (Material, formal, efficient and final causes)। जैसे घड़ा बनाने में मिट्टी समवायि कारण या उपादान कारण है, जिसको लिए हुए घड़े का निर्माण होता है। उस घड़े का कोई विशेष रूप है, जिसके सदृश आकार कुम्हार के मन में भी था। उसी आकार पर घड़ा बना है। कुम्हार के मन में घड़े का जो यह आकार था, वह असमवायि कारण हुआ। कुम्हार की शक्ति, दण्ड, चाक आदि निमित्त कारण हैं। इसी प्रकार पानी भरना, या जो घड़े का प्रयोजन हो,

लक्ष्य कारण है। इन चारों कारणों में से भी असमवायि, लक्ष्य या उद्देश्य और निमित्त ये तीनों ही एक तत्व में पाए जाते हैं। जैसे मनुष्य की उत्पत्ति में तीन कारण मनुष्य के आकार स्वरूप हैं, केवल समवायि कारण भिन्न है; अर्थात् पिता माता में मनुष्य का जो आकार है, वह पुत्र का असमवायि कारण है। वही आकार अपनी शक्ति से अपने सदृश दूसरा आकार उत्पन्न करता है; इसलिये वही निमित्त कारण हुआ। वैसा आकार हो, यही माता पिता का प्रयोजन है; इसलिये आकार ही उद्देश्य हुआ। केवल जिन वस्तुओं से शरीर बना है, उनका समवायि कारण पृथक् रहा। इसलिये मुख्य दो ही कारण हैं—आकार और द्रव्य। इन्हीं दोनों वस्तुओं से सब कुछ बना है। इनमें भी आकार प्रधान है। द्रव्य केवल सहकारी है। द्रव्य वस्तु का अपूर्ण रूप है। आकार पर पहुँचने के लिये द्रव्य की प्रवृत्ति होती रहती है।

आकार वस्तु की पूर्ण सम्भावना है। जैसे जैसे वे सम्भावनाएँ वास्तविकता में परिणत होती जाती हैं, वैसे वैसे वस्तु अपने पूर्ण स्वरूप या लक्ष्य को प्राप्त होती जाती है। आकार ही वस्तु में गति का कारण है।

अपूर्ण द्रव्य का अपने पूर्ण आकार में परिणाम होता है। इसलिये अरस्तू के दर्शन में द्रव्य, परिणाम और आकार ये तीन विषय सर्वत्र मिलते हैं। अरस्तू के मत से सब कुछ द्रव्य और आकार से मिलकर बना है। मनुष्य का शरीर द्रव्य है और आत्मा आकार है। द्रव्य से उसका सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर सब जगत् का निमित्त और लक्ष्य है। ईश्वर ने संसार में पहले गति उत्पन्न की। वस्तुओं में जो गति है, उसके सम्बन्ध में एक के

पहले दूसरा, उसके पहले तीसरा, ऐसे ही कारण-परम्परा पाई जाती है। यदि कहीं ऐसी वस्तु इस परम्परा में न मानी जाय जो स्वयं स्थिर और अचल होकर भी औरों में गति उत्पन्न करती है, तो अनवस्था दोष आता है। इसलिये ईश्वर वह पदार्थ माना गया है जो स्वयं कूटस्थ और अचल है, पर सब वस्तुओं में गति उत्पन्न करता है। प्रेम-पात्र की भाँति ईश्वर अचलित संचालक (Unmoved mover) है। सांख्यवालों का भी यही कहना है कि पुरुष में क्रिया नहीं है। प्रकृति पुरुष की उपस्थिति में नटी की भाँति नृत्य करती रहती है। इसलिये संसार में प्रेम ही समस्त क्रियाओं का कारण है। सब का आदर्श स्वरूप महाशक्तिशाली ईश्वर है। ईश्वर अशरीर है; इसलिये वेदना, क्षुधा, तृष्णा, इच्छा आदि ईश्वर में नहीं हैं। ईश्वर शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान ही ईश्वर की क्रिया है। ईश्वर सत् रूप से संसार में कारणात्मा है; और फिर संसार से बाहर भी है; क्योंकि उसी के स्वरूप की प्राप्त करने के लिये सारे संसार की प्रवृत्ति है। ईश्वर को सभी वस्तुओं का स्वाभाविक नित्य ज्ञान है। आत्म-मनन के अतिरिक्त ईश्वर का और कोई कार्य्य नहीं है। यदि कोई कार्य्य माना जायगा, तो ईश्वर से भिन्न उसका लक्ष्य या उद्देश्य भी माना जायगा। इससे ईश्वर में परिमितता दोष आ जायगा। इस अंश में अरस्तू का ईश्वर जैनों के ईश्वर से मिलता है।

द्वितीय दर्शन अथवा विज्ञान—संसार गतिमय है। विज्ञान का मुख्य उद्देश्य गति के तत्वों का अन्वेषण है। गति ही परिवर्तन और विकार का कारण है। गति के चार मुख्य भेद हैं। द्रव्य के सम्बन्ध में उत्पत्ति, नाश अथवा अभाव, गुण के सम्बन्ध में परि-

वर्तन, परिमाण के सम्बन्ध में अधिकता और न्यूनता तथा वास्तव गति है। स्थान-परिवर्तन वास्तव गति का मुख्य रूप है। इस गति में वृत्ताकार गति पूर्ण है। रेखाकार गति अपूर्ण है। ग्रहों की गति वृत्ताकार है।

देश और काल दोनों गति के नियामक हैं। परिछिन्न और परिच्छेदक की सीमा को देश कहते हैं। वस्तुतः देश कोई शून्य या द्रव्यान्तर नहीं है। द्रव्यों के अंदर या बाहर कही शून्य नहीं है। एक द्रव्य के हटने से उसके स्थान में दूसरा द्रव्य आ जाता है। वास्तव में देश परिछिन्न है; क्योंकि जिसका आकार नहीं, वह केवल सम्भाव्य है, वास्तव नही। इसलिये वास्तव देश अर्थात् सब जगत गोलाकार है। काल केवल परिवर्तन की संख्या बतलाता है और सम्भाव्य है; इसलिये उसका अन्त नहीं है। जैसे शिल्प कला आदि में उद्दश्य-साधन के लिये यत्न है, वैसे ही प्रकृति के भी कार्य उद्देश्यपूवक होते है। प्राकृतिक वस्तुओं में उत्तरोत्तर एक उन्नति-क्रम है। निर्जीवों से उत्तम जीव हैं। जीवों में भी वृक्ष आदि में केवल रस-ग्रहण और उत्पादन की शक्ति है। ये पशु-पक्षी आदि के उपयोग के उद्देश्य से बने हैं। पशु-पक्षी आदि प्राणियों में रस-ग्रहण और उत्पादन शक्ति के अतिरिक्त सवेदन शक्ति भी है, जिससे उनको सुख, दुःखादि का अनुभव होता है।

मनोविज्ञान—पृथ्वी पर मनुष्य से उत्तम सृष्टि और कोई नहीं है। इसमे वनस्पतियो की ग्रहण और वृद्धि शक्ति तथा पशु-पक्षियों की इन्द्रिय-ज्ञान शक्ति है। आत्मा की वास्तविक शक्ति ज्ञान ही है। मनुष्य में जो विवेक शक्ति है, उसके कारण वह

सर्वोत्तम है। विज्ञान आत्मा का रूप है। आत्मा कोई पृथक् द्रव्य नहीं है। शरीर की शक्ति या आकार अथवा आत्मा का बन्ध और मोक्ष मानना भ्रम है। पर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आत्मा में दो अंश हैं। एक अनुभवाधीन ज्ञान (Nous Pothetikos) और दूसरा शुद्ध, जो अनुभव-निरपेक्ष स्वयं ज्ञान स्वरूप है। इनमें जो अनुभवाधीन पराधीन अंश है, वह नश्वर है। पर शुद्ध निरपेक्ष अंश (Nous pointikos) अमर है। यह शुद्ध विवेक शक्ति प्रकृति का अंश नहीं है, और न यह शरीराधीन है। यह शुद्ध आत्मा एक है या अनेक, यह साक्षात् ईश्वर है या और कोई पदार्थ है, यह अरस्तू के व्याख्याताओं को निश्चय नहीं हुआ है।

आचार—मनुष्य में अनुभव और विवेक दोनों ही होने के कारण आचार का मनुष्य से विशेष सम्बन्ध है। ईश्वर शुद्ध विवेक स्वरूप है; इसलिये उसके यहाँ अनौचित्य की सम्भावना ही नहीं है। छोटे जन्तुओं में विवेक नहीं है; इसलिये उन्हें उचितानुचित का भेद ज्ञात ही नहीं हो सकता। केवल मनुष्य ही को अनुभव के द्वारा विषयों के ग्रहण की सामर्थ्य है; और विवेक के द्वारा कौन विषय ग्राह्य है और कौन अग्राह्य है, इसके विचार की सामर्थ्य भी है। इसलिये आचार का ध्यान मनुष्य ही को है। आचार धर्म है, और अधर्म दुराचार है। जिस से कोई वस्तु अपनी पूर्णता को पहुँचे, वही धर्म है; और जिससे अपूर्णता हो, वही अधर्म है। किसी मनुष्य का यदि अनुभवांश या विवेकांश नष्ट हो या दुर्बल हो, तो यह अपूर्णता है; अतः अनुभव के मूल शरीर की रक्षा करते हुए विवेक के द्वारा निश्चिन्त और सुखी रहना ही धर्म है।

शरीर को नष्ट करके ईश्वरमय होने की इच्छा या विवेक का नष्ट करके संसार ही में पचने की इच्छा, दोनों ही मूर्खता है। धर्म व्यसन का अत्यन्त विरोधी है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। प्रायः दो अन्तों के मध्य में ही धर्म की स्थिति रहती है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' ही धर्म का तत्व है। कातरता और निरर्थक साहस, दोनों ही पाप हैं। उत्साह दोनों के बीच में है; इसलिये, उसी को धर्म समझना चाहिए।

अरस्तू ने धर्म या सदाचार दो प्रकार के माने हैं। एक कर्म-सम्बन्धी और दूसरे ज्ञान-सम्बन्धी। पिछले प्रकार के सदाचार में मनन और ज्ञानोपार्जन आदि धर्म आते हैं।

राजनीति—अरस्तू ने भी राष्ट्र को व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये आवश्यक माना है। उसने राष्ट्र के किसी विशेष आकार पर जोर नहीं दिया। उसके मत से सभी प्रकार के राष्ट्र अच्छे हैं, यदि उनका शासन अच्छा हो। व्यक्ति के हित को राज्य के हित की अपेक्षा नीचे रखा है; किन्तु राज्य के हित में उसका लय नहीं हो जाता। अरस्तू विवाह और परिवार का पक्षपाती था। इस बात मे प्लेटो से उसका मत-भेद था।

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू—ये तीनों यूनान के सब से बड़े दार्शनिक थे *। इन तीनों के मतों को आधुनिक दर्शन और

---

* संसार के इतिहास में ऐसे थोड़े ही उदाहरण मिलेंगे, जिनमें एक गुरु के शिष्य और प्रशिष्य बराबर गुरु के समान, वरन् किसी अंश में गुरु से भी अधिक ख्याति प्राप्त करते गए हों। प्रायः संसार में ऐसा देखा

विज्ञान का मूल समझना चाहिए। आचार शास्त्र (Ethics) का उपक्रम सुकरात और उसके अनुयायियों ने किया। सत्ता शास्त्र (Ontology) का उपक्रम प्लेटो और उसके अनुयायियों से समझना चाहिए। विज्ञान (Natural Philosophy) की प्रायः सभी शाखाओं की उत्पत्ति अरस्तू और उसके अनुगामियों से है।

सुकरात के अनुयायियों में से अरस्तू, ऐटिंस्थेनीज़ आदि कितनों ने आचार ही को मुख्य समझा; और दूसरे युक्लिडीज़ आदि ने व्यावहारिक विषयों पर उतना ध्यान न देकर ज्ञान के विषयों पर ही अधिक ध्यान दिया। साइरीन के अरिस्टिपस के मत से मनुष्य को वास्तव सत्ता का ज्ञान नहीं हो सकता। तार्किकों का अनुसरण करके इसने माना है कि प्रत्येक मनुष्य का ज्ञान भिन्न है। दुर्व्यसनों से बचकर विचारपूर्वक सुख सेवन करना ही मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है। मैत्री आदि मानसिक सुख बाह्य सुखों से उत्तम हैं; इसलिये इन सुखों पर अधिक श्रद्धा रखनी चाहिए। बाह्य सुखों के पीछे बहुत नहीं पड़ना चाहिए। साइरीन के दार्शनिकों ने सुख को अन्तिम उद्देश्य मानकर अन्त में कुछ विलक्षण ही निश्चय किया। इनमें हेजीसियस नाम का एक दार्शनिक हुआ, जिसने यह दिखलाया कि यदि मनुष्य का उद्देश्य सुख है और अनुभव से सुख की अपेक्षा कहीं अधिक दुःख इस संसार में देख पड़ता है, तो इस दुःखमय जीवन को छोड़ने में ही सुख है; इसलिये सब को आत्मघात करना ही उचित है। पर ऐसे मृत्यु-सुखवादी अपने मत का प्रचार न कर सके; और फिर

जाता है कि एक बड़े दार्शनिक के पश्चात् दूसरे बड़े दार्शनिक का आविर्भाव होने में बहुत कालान्तर हो जाता है।

एपीक्यूरस ने सांसारिक सुखवाद बड़ी तत्परता से चलाया, जैसा कि आगे लचकर दिखलाया जायगा ❀।

ऐंटिस्थेनीज़ सुकरात का दूसरा अनुयायी था। इसके मत से धर्म ही मनुष्य का उद्देश्य है; धर्म-विरुद्ध सुख निरर्थक है। धर्माचरण का और कोई बाह्य उद्देश्य नहीं है। कर्त्तव्य बुद्धि से ही धर्म करना चाहिए। इस मत के अनुयायी डायोजेनीज़ आदि भी सभ्यता, शील आदि को छोड़कर पशुओं के सदृश जीवन बिताने लगे; पर जीनो नामक दार्शनिक ने पुनः इसका संस्कार किया; और इस मत का पूर्ण प्रतिपादन किया, जैसा कि आगे बतलाया जायगा।

सुकरात का तीसरा अनुयायी युक्लिडीज़ बड़ा विचारशील दार्शनिक था। इसने कहा कि पार्मेनिडीज़ की सत्ता और सुकरात का निश्रेयस् दोनों एक हैं। इसके अतिरिक्त इस दार्शनिक के विषय में कुछ भी विदित नहीं है। प्लेटो को इस के मत से बड़ी सहायता मिली, ऐसा बोध होता है।

प्लेटो के अनुयायी स्युसिपस् आदि हुए; पर प्लेटो के मत का पुनः प्रचार चिरकाल के बाद प्लोटिनस आदि ने किया, जैसा कि इस भाग के अन्त मे बतलाया जायगा। अरस्तू के फ्रैंसिस बेकन तक सहस्रों अनुयायी हुए, जिनका वर्णन यथास्थान होगा।

❀ बौद्ध धर्म में भी दुःख-रूपी प्रवाह का अन्त करना श्रेय माना है। किन्तु वहाँ आत्महत्या को साधन नहीं माना है; बल्कि ज्ञान से वासना का क्षय करने को मुख्य साधन माना है।

तीसरा अध्याय

यूनानी-रूमी दर्शन

ये पिछले तीन सौ बरस, जिनका इतिहास अभी समाप्त हुआ है, यूनान के उदय और वृद्धि के दिन थे। अरस्तू में यूनानी विचार उच्चतम श्रेणी तक पहुँच चुका था; और उसके शिष्य सिकन्दर शाह के काल में यूनान देश अपनी राजनीतिक उन्नति की चर्म सीमा को पहुँच चुका था। इसके पश्चात् प्रायः दो सौ वर्षों तक लड़ाई झगड़े का समय रहा; और फिर अवनति का क्रम आरम्भ हो गया। यूनान पर रोम का राजनीतिक सत्व हो गया; किन्तु इस के साथ ही रोम पर यूनान की सभ्यता ने अपना सिक्का जमा लिया। रोम में यूनानी साहित्य, दर्शन तथा कला-कौशल का आदर होने लगा। यह यूनानी-रूमी काल प्रायः आठ सौ वर्ष रहा। इसमें विचार की गति मध्यम रही। इसी प्रकार इस के बाद के माध्यमिक काल में, जो प्रायः एक सहस्र वर्ष रहा, युरोपीय विचार ने बहुत कम उन्नति की। इस यूनानी-रूमी काल में पहले दो सौ वर्षों तक आचार सम्बन्धी विचारों ने अपना प्रभाव डालना आरम्भ किया। कुछ काल तक आचार सम्बन्धी और धर्म सम्बन्धी दोनों विचार साथ साथ चलते रहे; और उसके पश्चात् धार्मिक विचारों

की प्रधानता हो गई। इस काल में भिन्न भिन्न जातियों के सम्मेलन से साम्राज्य के बढ़ने के कारण युरोपीय विचार क्रियात्मक हो गए। लोग इस बात पर कम ध्यान देते थे कि इस संसार का मूल तत्व क्या है; वरन् मनुष्य के जीवन का क्या लक्ष्य है, वह किस प्रकार सुखी हो सकता है, उसका दूसरे मनुष्यों के प्रति क्या कर्त्तव्य है, आदि प्रश्न उन के विचार के विषय बन गए थे। आचार सम्बन्धी विचारों में कुछ अविश्वास की वार्ता भी वर्तमान थी। ज्ञान की उपयोगिता और सम्मान पर अविश्वास ही एक प्रकार से आचार सम्बन्धी विचारों के उदय का कारण था। धार्मिक काल में प्रतिक्रिया के नियम से अविश्वास के स्थान में विश्वास आ गया। आचार सम्बन्धी विचारों में स्टोइक और ऐपीक्यूरियन लोगों के विचार प्रधान थे। स्टोइकों में जीनो प्रमुख था। इसकी फिलासोफी का वर्णन यहाँ किया जाता है।

ज़ीनो (स्टोइक)—जीनो का जन्म सीप्रस टापू में हुआ था। इसने एथेन्स नगर में अपने दर्शन का प्रचार किया। इसका आचार श्लाघनीय था। इसने अन्त में इच्छापूर्वक आत्मघात किया। इसके क्लिटोंथीज, पर्सियस् आदि अनेक अनुगामी थे। जीनो और उसके अनुयायियों के मत से प्लेटो का सामान्य प्रत्यय (Idea) कोई पृथक् वस्तु नहीं है। प्रत्यक्ष ही समस्त ज्ञान का मूल है। संसार के अनुभव के पहले आत्मा को ज्ञान नहीं था। जैसे मोम पर मोहर की जाय, वैसे ही आत्मा पर वस्तुओं से असर पड़ता है। इसी से हम लोगों को बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। जीनो इस बात में लौक (Locke) तथा अन्य अनुभव-

वादियों का मार्ग-दर्शक था। जब वस्तु का ठीक असर पड़ता है, तभी यथार्थ ज्ञान होता है। जब स्पष्ट असर नहीं पड़ता, तब भ्रम और सन्देह होता है। वस्तु एक है। वही कभी बाह्य संसार और कभी अन्तःकरण के रूप में देख पड़ती है। आत्मा पृथक् पदार्थ नहीं है। एक ही वस्तु की स्थिति-शक्ति को शरीर और कार्य-शक्ति को आत्मा कहते हैं। जैसे मनुष्य आदि के शरीर में स्थिति-शक्ति और कार्य-शक्ति दोनों ही हैं, वैसे ही सम्पूर्ण संसार मे भी है। संसार एक बड़ा जीव है, जिसका शरीर यह सब पृथ्वी आदि है और आत्मा ईश्वर है। समस्त जगत् में ज्ञान, प्राण, बुद्धि, कृति, नियम आदि कार्य ईश्वर के रूप हैं। हेरेक्लिटस के सदृश जीनो के अनुयायी भी अग्नि को मुख्य तत्व मानते हैं।

प्राण अग्निमय है; और युग के अन्त में सम्पूर्ण संसार जल जाता है; और पुनः आविर्भूत होता है। जैसा कि ऊपर कह आए हैं, ईश्वर इस जगत की सर्व-व्यापिनी शक्ति है। उसका ज्ञान अनन्त है। संसार में जो दोष देख पड़ते हैं, उन से भी अन्त में लाभ ही है। जैसे परस्पर विरुद्ध स्वरों के मेल से अच्छी संगीत-ध्वनि निकलती है, वैसे ही सांसारिक दोष गुण आदि सब को मिला-कर उत्तम कार्य होता है।

जीनो के अनुयायियों के मत से अमूर्त कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है; इसलिये आत्मा को ये लोग उष्ण श्वास रूप मानते हैं। ईश्वर एक बड़ा समुद्र सा है, जिसका एक बिन्दु रूप यह जीवात्मा है। संसार जब प्रलयाग्नि से नष्ट हो जायगा, तब जीवात्मा ईश्वर में मिल जायगी। पर ईश्वर और आत्मा आदि की कल्पनाओं से क्या

प्रयोजन है, इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं है। जीनो के अनुयायियों के अनुसार आचार मुख्य है। निष्कारण धर्म करना ही मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है। इसी से हम लोगों की भलाई है। केवल बाह्य आचरण धर्म नहीं है। जब ऐसा अभ्यास हो जाय कि धर्म स्वभावतः हुआ करे, अधर्म की ओर प्रवृत्ति ही न हो, तब मनुष्य को वस्तुतः धार्मिक समझना चाहिए *। विचार, न्याय, संयम, उत्साह आदि सब विशेष धर्मों का मूल एक है। इसलिये जो एक धर्म का आश्रय करेगा, उसे और धर्म भी स्वयं सुलभ होंगे। धार्मिक मनुष्य प्रकृति, भवितव्यता अथवा ईश्वरीय न्याय सब को एक समझकर, संसार में ईश्वर के विचार से, जो हो रहा है, उसी को भला समझता हुआ, निश्चिन्त, शान्त, सुखी और स्वतंत्र रहते हैं। इस प्रकार स्टोइक लोगों ने मनुष्य की स्वतंत्रता नहीं मानी है। वे प्रकृति को मनुष्य और संसार दोनों की ही ज्ञान-शक्ति मानते हैं। प्रकृति के अनुकूल चलने का यही अर्थ है कि मनुष्य अपनी और संसार की बुद्धि के अनुकूल चले। साधारण लोग अपनी रुचि और प्रवृत्तियों के अनुकूल चलते हैं और ज्ञानी लोग बुद्धि के अनुकूल।

जीनो के अनुयायी (जिन को लोग स्टोइक भी कहते हैं) बहुत

---

* स्वसुख निरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवं विधैव ॥

कालिदास।

अर्थात तू अपने सुख की अभिलाषा छोड़कर दूसरों के हेतु रहता है, अथवा तेरा स्वभाव ही ऐसा है ?

से हुए और उसके मत का सर्वत्र बड़ा आदर हुआ। रोम में भी सिसिरो, सेनेका आदि इस के उत्तम अनुगामी हुए। रोम का धार्मिक सम्राट् मार्कस आरीलियस् भी इसी का अनुयायी था।

जीनो के साथ ही साथ एपीक्यूरस नामक सुखवादी दार्शनिक का मत भी खूब चला। इसके भी अनुगामी यूनान और रोम दोनों ही प्रदेशों में हुए। जूलियस् सीजर आदि रोम के बड़े लोग एपीक्यूरस के ही मतानुयायी थे।

एपीक्यूरस (सुखवाद)—जिस वर्ष जीनो का जन्म हुआ, उसी वर्ष गार्गेटीज नगर में एपीक्यूरस का जन्म हुआ। अपने घर एवं देश में देवताओं पर विश्वास आदि अनेक प्रकार की विज्ञान-विरुद्ध कल्पनाओं को देखकर और उन विश्वासों द्वारा अनेक कर्म-बन्धनों में पड़े हुए मनुष्यों में अशान्ति और असन्तोष पाकर इस दार्शनिक ने डीमोक्रीटस के मत का अवलम्बन किया। शान्त, सन्तुष्ट और सुखमय जीवन बिताना ही इसके आचार शास्त्र का उद्देश्य है। इसके मत से मूर्त पदार्थ, जैसा कि आत्मवादियों ने कहा है कि असत् है, वैसा नहीं है।

नित्य परमाणुओं से बना हुआ मूर्त संसार ही सत् है। मूर्त पदार्थों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ये मूर्त पदार्थ परमाणुओं से बने हैं। परमाणुओं में स्वाभाविक गति है। डीमोक्रीटस ने परमाणुओं में केवल अधोगति मानी है; पर एपीक्यूरस के मत से यह गति कभी कभी अकस्मात् टेढ़ी और गोलाकार हो जाती है। इस ये सब वस्तुएँ कारणपूर्वक ही होती हैं, ऐसा मत इस दार्शनिक क नहीं है। कितनी वस्तुएँ बिना मिल ए और अकस्मात् भी हो जाती । इसलिये मनुष्य स्वतंत्र है;

पर आकस्मिकता जो चाहे सो कर सकती है। मनुष्य के सब कार्य पूर्व कर्मों से नियत हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए।

यह दुःख, सुख आदि परस्पर विरुद्ध वस्तुओं से मिश्रित अपूर्ण संसार कभी पूर्ण सुखमय देवताओं या ईश्वर का बनाया हुआ नहीं हो सकता; क्योंकि पूर्ण सुखमय व्यक्ति को अपूर्ण वस्तु बनाने का क्या प्रयोजन है! इसलिये एपीक्यूरस देवता या ईश्वर आदि अप्राकृत कोई वस्तु नहीं मानता। यदि मान भी लें कि जगत किसी का बनाया हुआ है, तो बनाई हुई चीज शाश्वत तो हो ही नहीं सकती। वह किसी विशेष समय में बनी होगी और उसके बनने से बनानेवाले को सुख या असुख हुआ होगा। यदि सुख हुआ, तो सृष्टि के पहले स्रष्टा को सुख न था। यदि अल्प सुख था, तो वह सदा सुखमय और पूर्ण नहीं हुआ। और यदि सृष्टि से उसे असुख हुआ, तो भी वह सुखमय नहीं है। इसलिये जगत स्वभाव-सिद्ध और शाश्वत है—किसी का बनाया हुआ नहीं है। इसके अतिरिक्त काँटा, कुशा, मरुस्थल, सर्प, व्याघ्र, बर्फ, व्याधि, अकाल मृत्यु, शोक, दुःख आदि से भरा हुआ यह संसार किसके रहने के लिये बना है? अप्राकृत पुरुषों को ऐसी वस्तु की आवश्यकता नहीं; और प्राकृत पुरुषों में ज्ञानियों को संसार की अपेक्षा नहीं।

तब यदि केवल मूर्खों के लिये यह बना है, तो मूर्ख भी उप-द्रवकारी क्यों बनाए गए? और उनके आराम के वास्ते यह संसार भी क्यों बनाया गया? इसलिये अप्राकृत वस्तुएँ—देवता आदि—सृष्टि के लिये आवश्यक नहीं हैं। देवता यदि कहीं हों भी, तो निश्चिन्त और शान्त अलग पड़े होंगे। संसार में उनसे कोई लाभ या हानि नहीं; और उनकी पूजा करने की भी आवश्यकता नहीं।

शरीर पर आघात आदि होने से आत्मा पर मूर्छा आदि प्रभाव देखा जाता है; इससे आत्मा सूक्ष्म मूर्त पदार्थ है। यदि वह अमूर्त होती, तो मूर्त शरीर के आघात से उसको मूर्छा कैसे होती? इसलिये आत्मा भी मूर्त है। शरीर के साथ ही उसकी उत्पत्ति होती है और उसके साथ ही उसका नाश भी होता है। बच्चे की बुद्धि छोटी और जवान की बुद्धि पक्की होती है। फिर बूढ़े सठिया जाते हैं। इससे भी जान पड़ता है कि शरीर के सदृश आत्मा भी घटने बढ़नेवाली कोई मूर्त चीज है। मरने के समय आत्मा धीरे धीरे निकलकर परलोक को भागती हुई नहीं जान पड़ती; किन्तु केवल शरीर की शक्ति घटती जाती है। इन बातों से भी अमूर्त परलोक-गामिनी आत्मा सिद्ध नहीं होती। फिर यदि जैसे मनुष्य घर से ससुराल जाय, वैसे यदि आत्मा इस लोक से परलोक जाय, तो मृत्यु से मनुष्य डरते क्यों हैं? इसलिये लोकान्तर-गामिनी आत्मा कोई वस्तु नहीं है *। मनुष्य को मरण का भय या स्वर्ग की स्पृहा करना अथवा नरक का त्रास आदि मानना व्यर्थ है।

---

* इनका मत चार्वाक के मत से मिलता है। नीचे के श्लोक देखिए—

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवायुर्नलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रवेभ्योमदशक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामान्याधिकरणतः ॥
देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एव आत्मा न चापरः ॥
न स्वर्गो न चापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ॥
नैव वर्णाश्रमादीनाम् क्रियाश्च फलदायिकः।
यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतंपिबेत् ॥

मरण का भय तो सर्वथा व्यर्थ और निर्मूल है। यदि आत्मा सद्वादियों के अनुसार सत् है, तो मैं मरा ही कहाँ! फिर भय किस बात का? और यदि शरीर-नाश के बाद आत्मा है ही नहीं, तो जलने का, कीड़ों के काटने का, या नरक आदि का भय किसको होगा? लोग समझते हैं कि मरे भी और न भी मरे; इसी लिये मरने पर भी उन्हें क्लेश का भय रहता है। सच पूछो तो मरण से किसी का सम्बन्ध ही नहीं है; क्योंकि जब तक कोई जिन्दा है, तब तक मौत है ही नहीं। और जब मर गया, तब मौत का जिन्दगी से कोई वास्ता नहीं। मौत कोई ऐसा जानवर नहीं है जो किसी को जीते जिन्दगी आकर धीरे धीरे पकड़कर खा जाय। इसलिये ज्ञानवान् पुरुष को मृत्यु का भय दूर करके निश्चिन्त, शान्त और सुखमय जीवन बिताना चाहिए। धर्म मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य नहीं है; सुख ही धर्म का भी उद्देश्य है। पर उत्तेजन और उसके बाद थकावट से सुख नहीं होता। इसलिये इन्द्रियों को विषयों में अत्यन्त

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।
यदि गच्छेत्परंलोकं देहादेष विनिर्गतः॥
कस्माद्भूयोन् चाऽऽयाति बन्धुस्नेह समाकुलः।

अर्थात्—जिस प्रकार महुए आदि से मादकता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार चारो भूतों से आत्मा उत्पन्न हो जाती है। देह के लिये ही कहा जाता है कि मैं मोटा हूँ, दुबला हूँ; इसलिये देह ही आत्मा है। स्वर्ग, अपवर्ग कुछ नहीं है, न परलोक है। जब तक जीओ, सुख से जीओ। भस्मीभूत शरीर का पुनरागमन कहाँ! यदि शरीर को छोड़कर आत्मा जाती है, तो घरवालों के प्रेम से फिर लौटती क्यों नहीं?

लगाना उचित नहीं है। शारीरिक सुखों की अपेक्षा मानसिक शान्ति अधिक स्पृहणीय है।

स्टोइक और एपीक्यूरियन दोनों ही व्यक्ति के लिये शान्ति चाहते थे। इन दोनों के भेद संक्षेपतः यहाँ लिखे जाते हैं।

स्टोइक	एपीक्यूरियन
(१) विश्वव्यापी नियम (Universal Law) प्रधान है।	(१) व्यक्ति प्रधान है।
(२) मनुष्य ज्ञान-प्रधान जीव है।	(२) मनुष्य भाव-प्रधान (feeling) जीव है।
(३) व्यक्तिगत भावों और इच्छाओं का दमन करने से स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।	(३) भावों को आदर्श रूप बनाने से स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।
(४) ये लोग धार्मिक थे।	(४) यद्यपि ये लोग जाति के देवताओं की पूजा करते थे, तथापि ये धार्मिक न थे।
(५) संसार में धर्माधर्म है।	(५) संसार यन्त्रवत् चल रहा है।
(६) व्यष्टि समष्टि के अधीन है।	(६) समष्टि व्यक्तियों की क्रिया का फल है।
(७) संसार में ज्ञान ओत-प्रोत है।	(७) संसार परमाणुओं से बना है।

पीरो (संशयवाद)—अरस्तू के समय में सिकन्दर का एक मित्र पीरो नामक दार्शनिक था। इसने थेलीज़ से लेकर अरस्तू तक सब दार्शनिकों के मतों मे परस्पर अत्यन्त विरोध देखकर और मनुष्य की ज्ञान शक्ति का वास्तव सत्ता तक पहुँचना असम्भव समझकर इस मत का प्रचार किया कि किसी बात पर निश्चय नहीं करना;

सहसा कोई प्रतिज्ञा नहीं करना; और सर्वदा संशय में मग्न रहना। थेलीज़ आदि ने प्रमाण के बिना ही ऐसी कल्पना कर ली थी कि संसार के मूल कारण का ज्ञान हो सकता है; और यह प्रतिपादित किया था कि बिना तार्किकों के पूर्ण विचार किए इन वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये पीरो की दृष्टि में ये दोनों मत भ्रम-मूलक थे। उसका मत था कि विचारशील दार्शनिक को पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान हो सकता है या नहीं, इस विषय में संदिग्ध ही रहना उचित है। इस संशय वाद का पुनः एनेसिडिमस के समय में बड़े आडम्बर के साथ उत्थान हुआ, जैसा कि इसी अध्याय में आगे दिखलाया जायगा। संशयवाद उस समय यहाँ तक प्रबल हो चला कि प्लेटो के अनुयायी और उसकी अध्यापन शाला (Academy) के रक्षक आर्कीसिलास और कार्नियेडीज़ आदि भी संशयवाद का अवलम्बन करने लगे। आर्कीसिलास ने इन्द्रिय-जन्य, बुद्धि-जन्य और सामान्य प्रत्यय रूप ज्ञानों को असम्भव और भ्रममूलक बतलाया; और आर्कीसिलास तथा कार्नियेडीज दोनों ही ने स्टोइक दर्शन का, जो उस समय प्रचलित था, खंडन किया। कार्नियेडीज़ ने प्रतिपादित किया कि सभी इन्द्रिय-जन्य ज्ञान परस्पर विरुद्ध और भ्रामक हैं; इसलिये सत्य को जानने का कोई उपाय नहीं। फिर स्टोइक लोग कैसे कह सकते हैं कि क्या आचार है और क्या अनाचार है, क्या धर्म है और क्या अधर्म है? किसी वस्तु का उपपादन प्रमाण ही से होगा। पर प्रमाण ठीक है या नहीं, इसके लिये भी एक प्रमाण चाहिए। इसलिये बड़ी अनवस्था होगी। किसी बात का अन्तिम प्रमाण देना वस्तुतः सम्भव नहीं; इसलिये स्टोइक लोगों का ईश्वर भी सिद्ध नहीं हो सकता।

एक तो यह आपत्ति है कि यदि यह संसार ईश्वर की सृष्टि है, तो फिर इसमें इतने दोष और उपद्रव क्यों हैं? दूसरी बात यह है कि जो ईश्वर सत्स्वरूप और ज्ञानवान् पुरुष है, यदि उसे सगुण और सशरीर मानें, तो वह ईश्वर अनित्य हो जाता है। यदि उसे निर्गुण मानें, तो ऐसी वस्तु अभाव स्वरूप ज्ञानादि-हीन हो जाती है। इस प्रकार एक ओर संशय-वाद का प्रचार हो रहा था और दूसरी ओर संग्रहवादियों ने अपने मत का प्रचार करना आरम्भ किया। संग्रहवादियों ने संशयवादियों के सूखे कुतर्कों से उकताकर यह दिखलाया कि भिन्न भिन्न मतों में परस्पर विरोध होने के कारण सभी में विश्वास न करना अनुचित है।

जो विरुद्ध बातें हों, उन्हें छोड़कर और शेष सब मतों को मिला कर ठीक अविरुद्ध बातों के संग्रह करने के एक कार्य का मार्ग निकालकर मनुष्य को अपने आचार-व्यवहार और लोक-परलोक आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। इधर संशयवादियों के कुतर्कों से लोग उकताए हुए थे; उधर यूनान पर रोम की विजय हुई। रोमन लोग कार्य-शक्तिशाली थे। उनको अज्ञता तथा अश्रद्धा में पड़कर नष्ट होना कभी पसन्द नहीं हो सकता था। इसलिये उन लोगों के संघर्ष से संग्रह वाद को बड़ा उत्साह मिला और भिन्न भिन्न मतानुयायी दार्शनिक परस्पर मिलकर मतों की संगति दिखाने के लिये प्रस्तुत हुए।

बीथिसस्, पेनोटियस्, पोसीडियोनिस, जेसन, जिमिनस, केटो आदि स्टोइक, मेट्रोडोरस, फाइलो, न्युकुलस, ऐंटियोकस् आदि प्लेटो के अनुयायी, अरिस्टोकेटियस् आदि अरस्तू के

अनुगामी तथा सिसिरो, सेनेका, लूशियन, गेलेन आदि प्रसिद्ध दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने संग्रह वाद का अनुसरण किया। इन विद्वानों ने कोई नवीन दार्शनिक विषय नहीं निकाला; इसलिये इनके विचारों का विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं किया जाता।

इस प्रकार संशयवादियों और संग्रहवादियों का संघर्ष चल रहा था। पर अभी तक संशयवादी शुद्ध दार्शनिक थे। केवल तार्किक युक्तियों से विचारों में परस्पर विरोध दिखाकर उन्होंने मतों का खण्डन किया था। अब विज्ञान के बल से शुद्ध दार्शनिक तर्कों के अतिरिक्त शरीर शास्त्र (Physiology) और सामान्यतः अनुभवमूलक दूसरे विषयों की सहायता से एनेसीडिमस् और उसके अनुयायी सेक्टस तथा एम्पिरिकस् ने सब प्राचीन मतों का नए ढंग से खण्डन करना आरम्भ किया।

सेक्टस्, एम्पिरिकस् और एनेसिडिमस—जिस प्रकार पित्तोपहत मनुष्य को सब कुछ पीला ही सूझता है, उसी प्रकार इन्द्रियों की रचना में भेद होने के कारण सम्भव है कि प्रत्येक जन्तु को भिन्न भिन्न रूप में संसार देख पड़े। स्त्री आदि एक ही वस्तु से किसी को सुख, किसी को दुःख आदि होने से स्पष्ट विदित होता है कि सब लोग एक वस्तु को एक ही दृष्टि से नहीं देखते। एक ही वस्तु एक इन्द्रिय को सुख और दूसरी इन्द्रिय को दुःख देती है। जो पत्थर आँख को अच्छे रंग का देख पड़ता है, वही हाथ को रूखा मालूम हो सकता है।

जब कि एक ही वस्तु (नारंगी) चिकनी, मीठी, पीली गोल आदि अनेक धर्मों से युक्त विदित होती है, तो सम्भव है कि वह वस्तु या तो शुद्ध एक धर्मवाली हो; या इन्द्रियों के धर्म

भेद से उस में गुण भेद दिखलाई पड़ता हो; या उस के वस्तुतः उतने ही गुण हों, जितने दिखलाई पड़ते हैं। अथवा एक तीसरी ही बात हो कि जितने गुण उस वस्तु में हम लोग पाते हैं, उनसे कहीं अधिक गुण उसमें हों; पर उन गुणों के ग्रहण करने के योग्य इन्द्रियाँ हमारे पास न हों। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होने के कारण हम रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द पाँच ही गुणों का अनुभव करते हैं। अवस्था और सम्बन्ध के भेद से एक ही व्यक्ति को एक ही वस्तु भिन्न जान पड़ती है*। घी साधारणतः अच्छा लगता है; पर बीमारी में तीता लगता है। दूर से वस्तु छोटी और समीप से बड़ी देख पड़ती है। जवानी में जो विषय अच्छे लगते हैं, वे बुढ़ापे में नहीं भाते। किसी वस्तु के शुद्ध निज गुण पृथक् नहीं मिलते। या तो वे देखनेवाले के शरीर के गुणों से अथवा आस पास की वस्तुओं के गुणों से मिले हुए अनुभव में आते हैं। एक ही वस्तु की तौल पानी में हलकी और हवा में भारी होती है। बुद्धिमान् के बुद्धि-गुण से जो चीज जैसी जान पड़ती है, वही चीज मूर्ख को वैसी नहीं जान पड़ती। इसी प्रकार देश,

---

* हौं ही बौरी बिरहबस, कै बौरो सब गाँव ।
कहा जानिये कहत क्यों, ससिहि सीतकर नाँव ॥

बिहारी।

वेई वन बागन बिलोके सीस भौन वेइ
हार, मनि, मोती कछू लागत न प्यारो सो ।
वाही चन्दमुखी की सुमधुर मुसकान बिन,
सब जग लागत है अधिक अँध्यारो सो ।

देव।

आचार, अभ्यास आदि के भेद से जो एक पुरुष को अच्छा मालूम होता है, वही दूसरे को बुरा मालूम होता है*। जो एक को धर्म जान पड़ता है, वही दूसरे के लिये अधर्म है। रोम का लम्बा चोगा यूनानवालों को बुरा जान पड़ता है; और एक देश की मूर्ति-पूजा और हिंसापूर्ण यज्ञ दूसरे देशवालों को अधर्म सा देख पड़ता है। इन कारणों से यह स्पष्ट विदित होता है कि वस्तु का स्वरूप क्या है, यह हम कभी नहीं जान सकते। हमें वह वस्तु अपनी इन्द्रिय रचना, शिक्षा-प्रणाली आदि के अनुसार कैसी देख पड़ती है, यही हम कह सकते हैं। हम उसका वास्तविक स्वरूप नहीं बतला सकते।

इस प्रकार ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तत्प्रयोज्य ज्ञान का खण्डन करके एनेसीडिमस् ने कारण का भी खण्डन किया। कार्य-कारण भाव या तो दो मूर्त पदार्थों में, या दो अमूर्त पदार्थों में, या एक मूर्त और एक अमूर्त पदार्थ में रह सकता है। अब एक मूर्त पदार्थ से दो कैसे हो सकते हैं? यह सम्भव नहीं है। मूर्त से अमूर्त यदि हो भी सके, तो उससे इस मूर्त संसार की सिद्धि नहीं होती। अमूर्त से मूर्त या मूर्त से अमूर्त की उत्पत्ति मानना भी संगत नहीं; क्योंकि अमूर्त और मूर्त का कोई संसर्ग नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यह भी आपत्ति है कि कारण के गुणों से कार्य में विरुद्ध गुण तो हो ही नहीं सकते; क्योंकि यदि ऐसा होता, तो पशु से चिड़िया, बालू से तेल आदि भी उत्पन्न हो सकता। और यदि अमूर्त तथा मूर्त के बीच कार्य-कारण भाव

---

* अमली मिसरी छाँड़िकै, आफू खात सराहि।

-मानें, तो विरुद्ध गुण की आपत्ति आ पड़ती है। इसलिये कार्य-कारण भाव सर्वथा विरोध-ग्रस्त है और मानने के योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त कार्य—कारण भाव के मानने में और भी अनेक विरोध पड़ते हैं। एक समान वस्तु से दो समान वस्तुएँ नहीं हो सकतीं; और असमान से असमान की उत्पत्ति नहीं हो सकती, यह ऊपर अभी कहा गया है। यह एक विरोध हुआ। दूसरा विरोध यह है कि कार्य से कारण पहले रहता है, या उसके साथ रहता है, या उसके बाद आता है? यदि कारण पहले और कार्य पीछे हो, तो जब तक कारण है, तब तक कार्य नहीं। जब कार्य आया, तब कारण नहीं है। फिर दोनों में सम्बन्ध ही कहाँ है, जिसके द्वारा एक कार्य और दूसरा कारण होगा? यदि कार्य कारण दोनों एक साथ मानें, तो कौन कार्य और कौन कारण है, इसका निर्णय होना दुर्घट होगा। यदि कार्य के बाद कारण मानें, तो यह पागल की बकवाद सी जान पड़ती है; क्योंकि बेटे के बाद भला कहीं बाप का जन्म होता है! तीसरा विरोध यह है कि कारण क्या स्वतंत्र ही कार्योत्पादक होता है अथवा किसी अन्य वस्तु के द्वारा? यदि कारण स्वतंत्र कार्य-कारक हो, तो सदा कार्य होता रहना चाहिए। पर ऐसा देखने में नहीं आता। और यदि अन्य वस्तुओं की सहायता की अपेक्षा है, तो ये वस्तुएँ भी कारण हुईं। अब इन दूसरे कारणों को किसी तीसरे की अपेक्षा होगी, और तीसरे को चौथे की। बस कहीं ठिकाना ही नहीं लगेगा और बड़ी भारी अनवस्था होगी। कार्य-कारण भाव में चौथा विरोध यह पड़ता है कि कारण के अनेक गुण हैं या एक? यदि एक गुण कहें, तो अग्नि से कभी चावल पकता है, कभी जल जाता है। एक ही चीज़ से ये दो कार्य कैसे हो

सकते हैं ? यदि अनेक कहें, तो एक ही काल में अग्नि से पकाना, जलाना आदि अनेक कार्यों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ?

अन्त में पाँचवाँ विरोध यह पड़ता है कि मृत्तिका से घट, पानी से बर्फ, चावल से भात हो जाता है, ऐसा जो कहते हैं, उनकी युक्ति सर्वथा असंगत है; क्योंकि एक वस्तु में अनेक विरुद्ध धर्म तो हो नहीं सकते। इसलिये जो पिघला हुआ है, वह कड़ा नहीं हो सकता; और जो कड़ा है, वह पिघल नहीं सकता। अर्थात् कड़े चावल का नरम भात या द्रव रूप जल का कठिन बर्फ कभी नहीं हो सकता; इसलिये कार्य कारण का भाव मानना सर्वथा असंगत है।

एनेसिडिमस के बहुत से अनुगामी हुए। पर सब से अन्तिम और महा वैज्ञानिक सेक्सटस एम्पिरिकस हुआ। यह अलेक्ज़ेण्ड्रिया नगर में रहता था। वहाँ दर्शन की दुर्बल अवस्था देखकर लोग गणित, विज्ञान आदि की ओर प्रवृत्त हो रहे थे। पर सेक्सटस ने यह प्रतिपादन किया कि केवल दार्शनिक सिद्धान्त ही नहीं, वरन् गणित विज्ञान आदि के भी सिद्धांत वैसे ही विरोध और संशय से ग्रस्त हैं। रेखा गणित बड़ा पक्का शास्त्र समझा जाता है; परन्तु उस शास्त्र में बिन्दु की स्थिति तो मानते हैं, पर उसके साथ ही उसे आयामहीन भी मानते हैं। भला जिसका आयाम नहीं, उसकी तो मन में कल्पना भी नहीं हो सकती; फिर संसार में उसकी स्थिति कहाँ से हो सकती है ! इसी प्रकार रेखा को दीर्घ मानते हैं; पर साथ ही उसे दीर्घताहीन बिन्दुओं से बनी हुई मानते हैं। भला यदि एक अन्धा नहीं देख सकता, तो क्या जब सौ अन्धे मिल जायँ, तो कभी उन में दृष्टि शक्ति आ सकती है ? कभी नहीं। ऐसे ही यदि एक बिन्दु सर्वथा आयामहीन

है, तो उन बिन्दुओं की समूह-रूप रेखा में या रेखा-समूह समतल में आयाम कैसे आ सकता है ? इसलिये गणित विज्ञान की भी वही दशा है, जो दर्शन की है।

अन्त में संशयवादी यहाँ तक संशय में पड़े कि सभी विषयों में संशय है या किसी में निश्चय भी है, यह भी वे ठीक नहीं कर सके। फलतः उनकी कुकल्पनाओं में मनुष्यों की श्रद्धा घटने लगी।

इस प्रकार संशयवाद से सब दर्शन का लोप होने पर प्रकृति शास्त्र की वृद्धि होने लगी। इतस्ततः पीथागोरस के नए अनुयायियों ने ज्योतिष का अध्यापन आरम्भ किया और वैज्ञानिक गेलेन आदि ने विज्ञान की शाखाओं का प्रचार किया, जिसका विस्तृत वर्णन इस दार्शनिक इतिहास में नहीं हो सकता।

मिस्र के नए महानगर अलेक्जेण्ड्रिया में सब विद्याओं का केन्द्र स्थापित होना आरम्भ हुआ। वहाँ सात लाख पुस्तकों की एक पुस्तकशाला थी *। यूनानी सभ्यता का चमत्कार वहाँ पूर्ण रीति से देख पड़ता था।

संसार के अनेक दार्शनिक और वैज्ञानिक हिन्दुस्तानी, यहूदी, रोमन, यूनानी सब वहाँ जाया करते थे। वहीं

---

* कहा जाता है कि यह पुस्तकशाला एक मुसल्मान खलीफा ने यह कहकर जलवा दी थी कि यदि इन सब पुस्तकों में वही ज्ञान है, जो कुरान में है, तो ये सब पुस्तकें निरर्थक हैं। और यदि इनमें कोई बात ऐसी है, जो कुरान में नहीं है, तो फिर ये पुस्तकें असत् ज्ञान की प्रचारक होने के कारण नष्ट करने के योग्य हैं। अतः दोनों ही अवस्थाओं में ये पुस्तकें रखना ठीक नहीं है।

यूनानी दर्शन की वृद्धावस्था की अन्तिम तीन सन्तानें उत्पन्न हुईं—(१) पीथागोरस के नए अनुगामी, (२) यहूदी धर्म और यूनानी दर्शन का योग करनेवाले और (३) प्लेटो के नए अनुगामी। यहाँ इन तीनों का संक्षिप्त वृत्तान्त देकर यूनानी अर्थात् प्राचीन दर्शन समाप्त किया जायगा ।

इस समय पीथोगोरस के जो नए अनुयायी हुए, उन में किसी नए विचार का आरम्भ नहीं हुआ। इनको संग्रहवादी समझना चाहिए। पीथागोरस, प्लेटो, अरस्तू इन तीनों की दार्शनिक बातों को मिलाकर और ईसाई धर्म पुस्तकों की कुछ बातों को भी मिला जुलाकर किसी प्रकार इन लोगों ने नष्ट होते हुए यूनानी दर्शन को कुछ दिन तक सँभाल रक्खा। प्लूटार्क नामक प्रसिद्ध इतिहासकार विद्वान् इन्हीं का अनुयायी था। प्लूटार्क के मत से मनुष्य की ज्ञान शक्ति अत्यन्त क्षुद्र है। कभी कभी करुणामय ईश्वर साक्षात् ज्ञानों का प्रकाश कर मनुष्य के हृदय को अज्ञान से बचाता है। जो लोग शान्त रहते हैं, बहुत छटपटाते नहीं, उन्हीं के ऊपर ईश्वर की ऐसी कृपा होती है। संसार में जितने देव पूजे जाते हैं, वे ईश्वर ही है; केवल नाम का भेद है। हमारे यहाँ भी कहा है—"सर्वदेव नमस्कारं केशवं प्रतिगच्छति।"

दर्शन के इतिहासकारों ने बहुत से ऐसे विचार इस प्रकरण में दिए हैं, जिनमें कोई नई बात नहीं है; इसलिये यहाँ उनका विशेष विवरण नहीं किया जाता।

फाइलो—यहूदी फाइलो अलेक्जण्ड्रिया नगर का दार्शनिक था। यह यूनानी दर्शन का पूर्ण तत्ववेत्ता था। ईसा के पहले यहूदी धर्म की जो पुस्तकें संगृहीत हुई थीं, उनमें इसकी

अधिक श्रद्धा थी। उन पुस्तकों को यह ईश्वर द्वारा प्रकाशित समझता था। इसने यूनानी दर्शन को यहूदी धर्मशास्त्र से अच्छी तरह मिलाया था। यद्यपि कई दार्शनिकों ने ऐसा प्रयत्न किया था, किन्तु उनको इसके सदृश सफलता नहीं हुई।

फाइलो के मत से ईश्वर अनिर्वचनीय, निर्गुण और सर्वथा पूर्ण है। ईश्वर क्या वस्तु है, इसे लोग कभी नहीं जान सकते। ईश्वर की सत्ता मात्र मनुष्य जान सकता है। इसी लिये ईश्वर का नाम "येहोया" अर्थात् सत् है। ईश्वर सर्व शक्तिमान् और सब का कारण है। महत्तत्व ईश्वर की प्रथम सृष्टि है। इसी Logos *

---

* ईश्वर और सृष्टि के बीच का तत्व लोगस है। यह एक प्रकार से प्लेटो के सामान्य या आकृतियों (Idealised torms) का एकीभूत संघात रूप है। मैक्समूलर ने इसको वैदिक वाक् से मिलाया है। इस के विषय में बाइबिल में लिखा है कि संसार के आदि में शब्द था। वेद व्यासजी लिखते हैं—अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी विद्या यतः सर्व्वाः प्रवृत्तयः॥ इसी लोगस को ईसाई दार्शनिकों ने ईश्वर के पुत्र से मिलाया है।

शब्द और लोगस का विचार बहुत अंशों में एक ही सा है। कबीरदासजी ने भी शब्द की बहुत महिमा गाई है। देखिए—

साधो शब्द साधन कीजै।
जासु शब्द ते प्रकट भए सब शब्द सोई गहि लीजै।
शब्दहिं गुरू शब्द सुनि सिख भे शब्द सो बिरला बूझै॥

* * * *

षट्दर्शन सब शब्द कहत हैं शब्द कहै बैरागी।
शब्दै माया जग उत्पानी शब्दै केरि पसारा॥

या महत्तत्व के द्वारा ईश्वर सब संसार को बनाता है। इस महत् के पश्चात् क्रम से देव, दानव आदि हुए। जड़ प्रकृति सब सांसारिक दुःखों का कारण है। इसी अज्ञ जड़ प्रकृति से महत् के द्वारा ईश्वर ने जगत् बनाया। आत्मा का बन्धन अज्ञानमूलक है। शुद्ध ज्ञानी आत्मा अशरीर और मुक्त हो जाता है; पर अज्ञो की आत्मा अशुद्धि को जन्मान्तरों में हटाने के लिये अनेक शरीर धारण करती है। आत्मा स्वतंत्र है; वह चाहे तो शरीर बन्धन को तोड़ सकती है। पर शरीर के सम्बन्ध से इसकी प्रवृत्ति पाप में होती रहती है, जिस के कारण बन्धन नही छूटता। सब के ऊपर मुक्ति का उपाय ईश्वर में श्रद्धा है। जिस को ईश्वर में विश्वास है, वही मुक्त हो सकता है। जब संसार से छूटते छूटते मनुष्य लोगस या महत्तत्व के भी पार पहुँचता है, तब ईश्वर मिलता है और मुक्ति होती है।

इस रीति से यूनानी दर्शन अन्त में यहूदी धर्म से मिश्रित हुआ। यूनानी दर्शन के अन्तिम लेखक प्लोटिनस आदि के मतों में पूर्व देश की धर्म सम्बन्धी बहुत सी बातें पाई जाती हैं। प्लेटो के दर्शन को प्लोटिनस ने नवीन जीवन दिया। इसकी शिक्षाओं का प्रचार रोम में, जहाँ इसकी एक पाठशाला थी, हुआ। उस समय का रोम का सम्राट् गैलियेनस इसे बहुत

कह कबीर जहँ शब्द होत है तहँ न भेद है न्यारा।

*　　*　　*　　*

शब्द ही दृष्ट अनदृष्ट ओंकार है, शब्द ही सकल ब्रह्माण्ड जाई।
कहैं कबीर तैं शब्द को परखि लै शब्द ही आप कर्त्तार भाई॥

जानता था। आचार, विद्या आदि गुणों से अपने समय के सर्व साधारण में भी इस की बड़ी प्रतिष्ठा थी। इसके ग्रंथ इसकी मृत्यु के बाद इसके शिष्य पर्फ़री (Prophery) ने प्रकाशित किए।

प्लोटिनस और उसके अनुगामी—प्लोटिनस के दर्शन का उत्थान ईश्वर से है; और कैवल्य मुक्ति अर्थात् ईश्वर स्वरूप हो जाना ही इसका उद्देश्य है। इसलिये ईश्वर का स्वरूप, संसार का ईश्वर से आविर्भाव, इस संसार का ईश्वर में लय और मुक्ति का स्वरूप ये चार प्लोटिनस के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं।

कार्य से कारण और प्रमेय से प्रमाता अवश्य भिन्न है। इसलिये ईश्वर अप्रमेय, अनन्त, निराकार और अनिर्वचनीय है; क्योंकि प्रमेय साकार आदि पदार्थ तो उसके कार्य हैं। परमेश्वर अशरीर, अमनस्क और कृति तथा विकृति से रहित है। ज्ञाता ज्ञेय आदि के सब भेद सांसारिक हैं। अद्वितीय संसार से परमेश्वर में ये भेद सम्भाव्य नहीं हैं। ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःखादि का कारण बाह्य वस्तु है। पर एक अद्वितीय ईश्वर के समीप बाह्य वस्तु की सत्ता और अपेक्षा नहीं है; इसलिये ये धर्म ईश्वर में नहीं हो सकते। शुद्ध, निराकार, सत् और असत् दोनों से परे, प्रमाण और प्रमेय से अतिरिक्त ईश्वर का उपपादन युरोप में पहले पहल प्लोटिनस ने किया। प्लोटिनस के मत से ईश्वर के गुण नही कहे जा सकते और न उसकी परिभाषा की जा सकती है। केवल यही कहा जा सकता है कि वह सब विकारों से रहित और सब प्रमेयों से भिन्न है।

जैसे पूर्ण समुद्र की लाखों तरङ्गे हैं और जैसे प्रकाशमय सूर्य की असंख्य किरणें हैं, वैसे ही ईश्वर की यह सब सृष्टि है;

और जिस प्रकार अन्त में अन्धकार हो जाता है, उसी प्रकार अन्त में प्रकृति, मैटर या भूत द्रव्य रह जाता है। मैटर या भूत पदार्थ अभावात्मक है*। प्लोटिनस के मत से विकास का क्रम इस प्रकार है कि एकाद्वितीय ब्रह्म से पहले पहल महत्तत्त्व या मनस् की उत्पत्ति होती है। यह 'मनस्' और फाइलो का 'लोगस्' प्रायः एक ही पदार्थ है। यह ब्रह्म शक्ति से आविर्भूत होकर अपने को ब्रह्म रूप देखता है। उसके पश्चात् जीवात्मा (Soul) का आविर्भाव होता है। ब्रह्म का महत्तत्त्व से जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध महत्तत्व का इससे है। इसका स्वाभाविक स्वरूप तेजोमय है; किन्तु यह शरीर में प्रविष्ट होने के कारण अन्धकार के निकटवर्ती है। यह जीवात्मा दो प्रकार की है—एक समष्टि और दूसरी व्यष्टि। समष्टि जीवात्मा में संसार और संसार की शक्ति दोनों शामिल हैं। इसी प्रकार व्यष्टि में बुद्धि, जो इन्द्रियों से परे है, और इन्द्रियाँ, जिनसे शरीर बना है, शामिल हैं। इसके पश्चात् भूत पदार्थ (Matter) आता है और मैटर का मुख्य स्वरूप दिक् (Space) है।

इस संसार से आत्मा का सम्बन्ध काल्पनिक है; इस कारण इन्द्रियार्थों के बन्धन से छूटकर ज्ञानमय जीवन बिताना ही आत्मा के लिये परम सुख है। चित्त-शुद्धि (Katharsis) मुक्ति का प्रथम उपाय है। सामाजिक और नैतिक आदि कर्म अपरिहार्य हैं। शारीरिक कर्म सब को करना ही पड़ता है। बाह्य प्रत्यक्ष से वस्तु की छाया मात्र विदित होती है। तर्क से वस्तु का कुछ और अधिक परिचय होता है। पर बाह्य प्रत्यक्ष और तर्क दोनों ही

---

* इस विषय में यह मत बर्गसन के मत से मिलता जुलता है। बर्गसन ने भी भूत पदार्थ की उपमा अग्नि के धूएँ से दी है।

से बढ़कर आन्तर अनुभव (Immediate Intuition) है। यह आन्तर अनुभव या ध्यान केवल मनस् तक पहुँच सकता है।"

इसके भी ऊपर समाधि की अवस्था है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद सर्वथा लुप्त हो जाता है। इसी को निर्वीज या असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं, जिसमें पहुँचने पर दिव्य ज्ञान की ज्योति स्वयं प्रकाशित हो जाती है ॐ।

प्लोटिनस के शिष्यों में मैल्कस पर्फ़री मुख्य था। इसकी जन्मभूमि फिनीशिया की टायर नगरी थी। धर्म, तप, यम, नियम आदि से चित्त शुद्ध करके समाधि या तुरीय अवस्था में पहुँचकर मुक्त होना पर्फ़री के अनुसार मनुष्य का परम उद्देश्य है। यह स्वतंत्र विचार का दार्शनिक नहीं था। प्लोटिनस के ग्रंथों का प्रकाशन और व्याख्यान इसका मुख्य कार्य था।

कैल्किस का दार्शनिक आयौम्बिलकस पर्फ़री का शिष्य था। इसने मिस्र आदि पूर्वी देशों से देववाद की शिक्षा पाई थी। यह समझता था कि इसी संसार में तीन सौ साठ देवता, अनेक देवदूत, अनेक असुर आदि मनुष्यों के सहायतार्थ वर्तमान हैं।

कुस्तुन्तुनिया का प्रोक्लस नामक दार्शनिक प्लोटिनस के दर्शन का अन्तिम व्याख्याता था। यह धार्मिक और तपस्वी था। इसके मत से संसार में सर्ग, स्थिति और प्रलय ये तीन व्यापार मुख्य हैं। ईश्वर से महत् का आविर्भाव है, जिसके तीन गुण हैं—दिव्य, मर्त्य और असुर (सत्व, रजस् और तमस्)। जिस पर परमेश्वर

ॐ नीचे की श्रुतियों से इसका मिलान कीजिए—

भिद्यते हृदय ग्रंथि छिद्यन्ते सर्वसंशयः
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।

की कृपा होती है, उसी की मुक्ति हो सकती है। बुद्धि से ईश्वर तक कोई नहीं पहुँच सकता; क्योंकि ईश्वर अप्रमेय और अगोचर है।

प्रोक्लस प्रायः अन्तिम यूनानी दार्शनिक था। इसके पश्चात् यूनानी दर्शन का सर्वथा लोप हो गया; और अन्त में रोम के सम्राट् जस्टिनियन की आज्ञा से एथेंस की दार्शनिक पाठशाला बन्द की गई। जस्टिनियन के दो सौ वर्ष पहले ही कान्सटैंटाइन के समय में रोम के साम्राज्य भर में ईसाई मत का प्रचार हो चुका था। उसी समय से शुद्ध दर्शन में श्रद्धा घटने लगी और धीरे धीरे दर्शन उतना ही बच गया, जितना धर्म की सेवा में उपयुक्त था। धर्म और दर्शन का ईसाई मतानुयायियों में कैसा प्रचार हुआ, यह अब द्वितीय भाग में दिखलाया जायगा।

पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास

(दूसरा खंड)

माध्यमिक दर्शन

पहला अध्याय

प्राचीन दर्शन का आरम्भ स्वतन्त्र विचार में और अन्त विश्वास में हुआ। माध्यमिक काल के दर्शन का उदय धार्मिक विश्वास में और अन्त स्वतंत्र विचारों में हुआ। माध्यमिक काल के दर्शनों की भूमिका प्राचीन काल के अन्त में होनेवाले फाइलो और प्लोटिनस आदि के ग्रंथो में लिखी जा चुकी थी। बढ़ते हुए ईसाई धर्म को दार्शनिक विचारों की पुष्टि की आवश्यकता थी। विश्व-व्यापी होने का दावा रखनेवाले धर्म को अपने से बाहर के कुछ ज्ञान का अपने में समावेश करना आवश्यक था। फाइलो और प्लोटीनस के सिद्धान्त ऐसे थे, जो ईसाई धर्म में भली भाँति खप गए। महत्तत्व, वाक् या लोगस का सिद्धान्त ईसाई धर्म की त्रिमूर्ति में पुत्र रूप से स्थान पा गया। ईश्वर और उसके पुत्र ईसू खीष्ट का सम्बन्ध, ईश्वर रूपी खीष्ट का मनुष्य रूपी खीष्ट से सम्बन्ध, आरम्भिक पाप और मनुष्य की स्वतंत्रता आदि मध्य काल के आरम्भिक भाग के मुख्य प्रश्न हो गए। वास्तव में माध्यमिक काल सेएट आगस्टिन से आरम्भ होता है। इनके पहले ईसाई धर्म की पुष्टि और व्याख्या करनेवाले तीन सम्प्रदाय और हो चुके थे। पहले सम्प्रदाय के लोग एपोलोजिस्ट (Apologists) अर्थात् मएडनकर्त्ता लोग दूसरे के नोस्टिक्स (Gnostics) अर्थात् निश्चय ज्ञानवादी और तीसरे के केटिचिस्ट (Catechists) अर्थात् प्रश्नोत्तरवाले लोग थे। एपोलोजिस्ट लोगों ने बुद्धि-ज्ञान, शब्द या आप्त-ज्ञान (Revelation) को एक साबित

करने की चेष्टा की। संसार का तत्व ईसू खीष्ट के रूप में मूर्तिमान हुआ। जिस बात को यूनानी लोग साधारण बुद्धि द्वारा प्राप्त समझते थे, उसको वे शब्द ज्ञान या इलहाम द्वारा प्राप्त मानते थे। उन्होंने संसार में दुःख और बुराई की सत्ता से इलहाम की आवश्यकता दिखाई। ईश्वर का ज्ञान या लोगस सदा से वर्तमान था; किन्तु वह मनुष्य के उद्धार के हेतु ईसा के रूप में प्रकट हुआ था। नास्टिकूस या मिश्रित ज्ञानवादी लोग यद्यपि ईसाई थे, तथापि वे एक प्रकार से अविश्वासी या नास्तिक समझे जाते थे। वे बाइबिल के पुराने अहदनामे को दृष्टान्त रूप (Alegorical) मानते थे। ईसा मसीह के बारे में उन लोगों का विश्वास था कि स्वर्ग में रहनेवाले ईसा का साधारण मनुष्य के शरीर में आवेश रूप है। वे लोग ईसाई धर्म का ऊपरी अर्थ के अतिरिक्त एक गूढ़ अर्थ भी मानते थे। केटेचिस्ट या प्रश्नोत्तरवाले लोगों का सम्प्रदाय क्लीमेंट (Clement) द्वारा स्थापित हुआ था। इनमे ओरजियन (Orgeon) प्रमुख था। यह ईसाई था, किन्तु इसके विचार यूनानियों के से थे। यह बहुत सी बातों मे फाइलो का अनुयायी था।

आगस्टिन (Augustin)—यद्यपि प्राचीन ईसाई मतोपदेशकों में क्लीमेंट, ओरजियन, एथेनेसियस आदि अनेक दार्शनिक हुए, तथापि अगस्टिन ही को माध्यमिक काल के आदि दार्शनिक होने का गौरव प्राप्त है। विचार के इतिहास में इसका ऊँचा स्थान है। इस के द्वारा प्राचीन काल का सारभूत ज्ञान माध्यमिक काल के ज्ञान में समाविष्ट हुआ। आगस्टिन का जन्म न्यूमीडिया में हुआ था। अपनी आरम्भिक अवस्था में यह अनेक दुर्व्यसनों में लगा रहा। फिर

रोम आदि नगरों में घूमते घूमते दैवात् बाइबिल के धर्म पर इसकी श्रद्धा हुई। तब से इसके धार्मिक जीवन की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। बहुत समय तक हिप्पो नामक स्थान मे यह प्रधान धर्मोपदेशक (Bishop) भी रहा। वहीं इसके मुख्य ग्रंथ लिखे गए। अपराध-स्वीकार (Confessions) और दिव्य नगर (City of God) इसके प्रधान ग्रंथ हैं।

ज्ञान और उसका आधार—वास्तव में उपादेय ज्ञान केवल आत्मा और परमात्मा का है; और शास्त्रों की वहीं तक कदर है, जहाँ तक वे ईश्वर का ज्ञान देते हैं। यह हमारा धर्म है कि जिन बातों मे हम विश्वास करते हैं, उनको भली भाँति समझें। आप्त ज्ञान में विश्वास रखना ज्ञान का साधन है। जब विश्वास-जनित ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब बुद्धि उसे समझने का यत्न करती है। हम उन बातों को नहीं समझ सकते, जिन पर हम विश्वास नहीं करते; इसलिये हमको सम्प्रदाय (Church) के, जो कि ईश्वर का प्रतिनिधि है, सिद्धान्तों पर विश्वास करना चाहिए। हम जानते हैं कि हम सत् हैं। हमारे विचार हमारी सत्ता सिद्ध करते हैं। डेकार्ट (Descartes) की प्रख्यात युक्ति का मूल जन्मदाता आगस्टिन ही है। सत्य की सत्ता से इसने ईश्वर को सिद्ध किया है। सत्य व्यक्तिगत नहीं है, वास्तविक है। वह वास्तविक सत्य पूर्ण रूप से हमारे हृदय में नहीं रह सकता; इसलिये उसका आधार रूप एक ईश्वर मानना पड़ेगा। आत्मविश्वास होने ही से ईश्वर में भी विश्वास होता है। निर्गुण, निरुपाधिक, देश-कालातीत ईश्वर सर्वथा अनिर्वचनीय है। ईश्वर को कुछ लोग द्रव्य मानते हैं। यह अनुचित है; क्योंकि

द्रव्य तो गुण और क्रिया का आश्रय होता है और ईश्वर निर्गुण है। ईश्वर सब वस्तुओं से भिन्न है। इस प्रकार नेतिनेति कहकर ईश्वर को सत्ता मात्र माना जा सकता है; पर ईश्वर का क्या स्वरूप है, यह नहीं कहा जा सकता। ईसाइयों के अनुसार ईश्वर त्र्यात्मक है; अर्थात् उसके तीन रूप हैं—सत्, चित् और आनन्द। संसार सत् और असत् दोनों से बना है। अर्थात् सत्स्वरूप ईश्वर ने असत् से इसे बनाया है। मनुष्य को स्वातंत्र्य नहीं है। सब मनुष्य ईश्वर की कृपा के अधीन हैं। जिस पर उसकी कृपा होती है, उसी का उद्धार होता है। जिसके हृदय में परमेश्वर अपनी करुणा से भक्ति का प्रकाश करता है, वही श्रद्धा के द्वारा मुक्त होता है। अन्यथा अश्रद्धा और नास्तिकता में पड़कर जीव नष्ट हो जाता है।

अब यदि कोई यह प्रश्न करे कि उस करुणामय ईश्वर के संसार में बुराई कहाँ से आई, तो आगस्टिन साहब बुराई का भार ईश्वर के ऊपर नहीं रखते। इन के मत से वास्तव में बुराई नहीं है। वह सापेक्ष पदार्थ है। बुराई अभावात्मक है; भलाई सत् है। भलाई का अभाव बुराई है। ईश्वर ने संसार को बिना सामग्री के बनाया। उस की सृष्टि अनादि नहीं है, किन्तु अनन्त है। ईश्वर हमेशा सृष्टि रचता रहता है। ईश्वर में किसी प्रकार की आवश्यकता नहीं है। वह संसार को भी अपनी स्वतन्त्र इच्छा से बनाता है। संसार के बनाने में ईश्वर का प्रेम प्रकट होता है। किन्तु यह कहना ठीक न होगा कि ईश्वर ने प्रेम के वशीभूत होकर संसार बनाया। जीव अमिश्रित और अभौतिक है। मनुष्य जीव और शरीर का बना हुआ है। आत्मा

पदार्थ है, किन्तु शरीर से बिलकुल भिन्न है। वह शरीर का जीवन तत्व है। किन्तु यह एक अभेद्य रहस्य है कि जीव और शरीर का किस प्रकार संयोग होता है। इन्द्रिय-ज्ञान, कल्पना, कामना आदि जीव का मध्यमांश हैं। स्मृति, बुद्धि और संकल्प जीव का उत्तमांश हैं। जीव का पूर्व भाव नहीं है, किन्तु शरीरान्त होने पर उसका नाश नहीं होता। सदाचार और प्रेम को सब धर्मों में श्रेष्ठ माना है। प्रेम के ही द्वारा सब धर्म धर्म हैं। इसके विश्वास, आशा और उदारता ये मुख्य धर्म माने गए हैं। विवाह, कुटुम्बादि सांसारिक संस्थाओं को इसने उदार दृष्टि से देखा है।

स्काट्स एरिजेना—भक्तों को जो ज्ञान स्वयं प्राप्त होता है, उसे आगस्टिन ने बुद्धि-ग्राह्य और शिक्षा योग्य बनाया; और उसके बाद ज्ञान का ऐक्य रूप अति विस्तृत दर्शन चला। स्काट्स एरिजेना (जिस के जन्म-स्थान का ठीक पता नहीं है) यूनानी भाषा का जाननेवाला एक बड़ा बुद्धिमान् पुरुष था। खल्वाट चार्ल्स (Charles the Bald) ने इसे अपने देश फ्रांस में बुलाया था। और और देशों के राजाओं से भी इसकी मुलाकात थी। यह दार्शनिक आयर्लैण्ड का रहनेवाला था। इसके समय में आयर्लैंड विद्या का अच्छा केन्द्र था। इसके मत से विवेक अर्थात ज्ञान और धर्म या विश्वास एक हैं। विश्वास से जिस बात का स्वयं ग्रहण होता है, उसी का प्रमाण ज्ञान से दिया जाता है। सब मनुष्यों को एक मात्र ईश्वर ने विवेक शक्ति दी है। इसके द्वारा सब कोई अनर्थ का निश्चय कर सकते हैं। कार्य्य-कारण सम्बन्ध से पदार्थों के चार विभाग हैं—अकार्य-कारण, कार्य-कारण,

कार्य-अकारण और अकार्य-अकारण *। ईश्वर कार्य नहीं है, पर सब का कारण है। बुद्धि, प्राण, सुख आदि ईश्वर के कार्य हैं; और वे स्वयं भी अन्य वस्तुओं के कारण हैं। पृथक् व्यक्ति केवल कार्य हैं, कारण नहीं। फेर समस्त संसार जिसमें लौट जाता है, वह ईश्वर न कार्य है और न कारण। इस प्रकार यह देखा जाता है कि प्रथम और चतुर्थ दोनों एक ही वस्तु हैं। सृष्टि-कार्य को देखा जाय, तो ईश्वर प्रथम अर्थात् अकार्य-कारण है; और लय को देखा जाय तो अकार्य-अकारण है। दुःख कोई वस्तु नहीं है। सुख के अभाव को ही दुःख कहते हैं। ईश्वर से वैमुख्य के कारण मनुष्य की आत्मा दुःख में पड़ी है। ईश्वर के ज्ञान से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। ईश्वर का ज्ञान हो जाने से ही मनुष्य की सद्गति हो जाती है। ईश्वर के यहाँ पहुँचने पर मनुष्य की आत्मा ईश्वर में मिल नहीं जाती; केवल पूर्ण ज्ञानमय होकर सुखी हो जाती है।

स्काट्स एरीजेना माध्यमिक काल के प्रारम्भिक भाग का दूसरा महान् पुरुष हुआ। इसके और आगस्टिन के बीच में प्रायः पाँच सौ वर्षों का अन्तर है। इसलिये इन पाँच सौ वर्षों को अन्धकार युग (Dark Age) कहते हैं। यह दार्शनिक शार्लेमेन (Charlemagne) के ज्ञान सम्बन्धी पुनरोत्थान का फल है। इसने प्लेटो के सिद्धान्तों को सर्वेश्वर वाद (Pantheism) की

---

* मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
पोड़शकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः॥
सांख्य कारिका।

सीमा तक पहुँचा दिया था। इसने सामान्य को ही सत् मानकर सामान्य सम्बन्धी विवाद की नींव डाली। सर्वेश्वर वाद और व्यक्ति वाद एवं सामान्य सम्बन्धो विवाद स्कोलास्टिसिज्म (Scholasticism) या सम्प्रदाय वाद के मुख्य प्रश्न थे। सम्प्रदाय वाद पारिभाषिक अर्थ मे माध्यमिक काल के और विशेष कर एरिजिनो के उत्तर काल के दर्शनो को कहते हैं। ये लोग सम्प्रदाय (Church) सिद्धान्तों को जाँच के बिना स्वीकार करते थे। पीछे से बुद्धि द्वारा उनका समर्थन करते और निगमनात्मक तर्क द्वारा उनसे नए सिद्धान्त निकालते थे। इस काल में तर्क शास्त्र आकार वाद की पराकाष्ठा को पहुँच गया था।

एन्सेल्म—एरिजेना के बाद बिरेंगर, विलियम आदि बहुतेरे दार्शनिक हुए; पर इन सब में मौलिक विचारवाला एन्सेल्म था। युरोप के दर्शन पर इसका बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। एन्सेल्म का जन्म लोम्बार्डी के एक अच्छे वंश में हुआ था। इसने समयानुसार धार्मिक शिक्षा पाई थी। युरोप की प्राचीन धर्म-पुस्तको मे जो तत्व दिए हैं, उनको शुद्ध युक्तियो से उपपादन करना इसका मुख्य उद्देश्य था। जैसा प्लेटो ने दिखलाया है कि सामान्य प्रत्यय वास्तव है, अर्थात् उसी के रहने से व्यक्तियों की स्थिति है, वैसा ही एन्सेल्म ने भी दिखाया है। जैसे सब गो-व्यक्तियो में वर्तमान एक गोत्व है; फिर गो, महिष आदि में पशुत्व है। ऐसे ही ऊँचे जाते जाते सब से बड़ा जो सामान्य अर्थात् सत्ता है, वही ईश्वर है। जितने कार्य हैं, उन सब का कारण अवश्य है। यह कारण एक हो सकता है या अनेक। यदि एक है, तो ईश्वर सिद्ध हुआ। यदि अनेक है, तो तीन विकल्प हो सकते हैं। यदि इन अनेक कारणों का फिर कोई

कारण है, तो ईश्वर की सिद्धि हुई। या सब अनेक कारण स्वयं-भू हों, तो उनमे स्वयं होने की जो शक्ति है, वही शक्ति एक हुई; और यही ईश्वर-वादियों का ईश्वर है। तीसरा विकल्प यह हो सकता है कि ये अनेक कारण परस्पराधीन हों। पर इस पक्ष मे अन्योन्याश्रय दोष पड़ता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि एक ईश्वर ही सब जगत् का कारण है। यह ईश्वर स्वयंभू, पारमार्थिक, पराश्रय-रहित और परा शक्ति है।

ईश्वर की सत्ता का मुख्य प्रमाण एन्सेल्म ने इस प्रकार दिया है कि मनुष्य को पूर्ण ईश्वर का बोध है। अब यदि ईश्वर असत् है, तो उसमे अपूर्णता आई। इसलिये पूर्ण ईश्वर की सत्ता अवश्य है। पूर्णता में सत्ता शामिल है; वह सत्ताशून्य नही है। इसी प्रमाण को सत्ता-सम्बन्धिनी युक्ति (Ontological Argument) कहते हैं। गानिलो आदि दार्शनिको ने इस प्रमाण का खण्डन किया और दिखलाया कि वस्तु का बोध और वस्तु दोनो भिन्न हैं। यदि दूध का समुद्र मनुष्य के मन में आ जाय तो, उसकी बाह्य सत्ता मानना जैसे उन्माद है, वैसे ही ईश्वर की वास्तव सत्ता का कल्पना से प्रमाण देना भी उन्माद है। इसका यही उत्तर दिया जा सकता है कि जिस प्रकार पूर्णता के विचार में सत्ता का विचार शामिल है, उसी प्रकार दूध के समुद्र के बोध में आवश्यक रूप से सत्ता का विचार शामिल नहीं है।

मध्य युग के आगस्टिन, एन्सेल्म आदि दार्शनिकों ने ईसाई धर्म पर और बहुत सी बातें कही हैं, जिनको शुद्ध दर्शन के वृत्तांतो में बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

अब ईश्वर आदि के उपपादन में सामान्य प्रत्ययों की इतनी

आवश्यकता पड़ी कि इनके विषय मे दार्शनिकों के दो मत चले। कुछ लोग सामान्य प्रत्ययों को वास्तव और कुछ अवास्तव समझते थे। व्यक्तियों में गोत्व कोई एक पृथक् वस्तु है, जिसके रहने के कारण सब व्यक्तियाँ "गो" कही जाती हैं—यह एक मत था; और दूसरे मत के अनुसार व्यक्तियों से पृथक् जाति कोई वस्तु नहीं है। पहले मत को वस्तुवाद (Realism) और दूसरे मत को नाम वाद (Nominalism) कहते हैं *।

एन्सेल्म और विलियम के मत से जाति या सामान्य प्रत्यय पारमार्थिक वस्तु है। रोसेलिनस के मत से जाति पृथक् वस्तु नहीं हैं। एबेलर्ड नामक दार्शनिक ने एक प्रकार से इस झगड़े को तै किया था। यह नामवादी या वस्तुवादी न था। यह मानस-बोधवादी (Conceptualist) था। इसके मत से जाति पृथक् वस्तु नहीं है, पर उसकी मानस स्थिति है। एबेलर्ड और ह्यूगो स्वतंत्र विचार के दार्शनिक थे। इन्हे धर्म के बन्धनों मे व्यर्थ पड़ना अभिमत नहीं था। ये लोग ज्ञानवान् ही की मुक्ति मानते थे। ईसाई मत के अवलम्बन के बिना उद्धार नहीं होता, यह इनका मत

---

* यह समस्या न्याय एवं व्याकरण ग्रन्थों में भी उठाई गई है और दोनों ही मत प्रतिपादित किए गए हैं। एक पक्ष ने जाति को व्यक्तियों से भिन्न मानकर पद का अर्थ जाति में माना है। दूसरे पक्ष ने व्यक्ति को ही वास्तव मानकर शब्द का अर्थ व्यक्ति में माना है। और तीसरे पक्ष ने आकृति में शब्द का अर्थ माना है। न्याय दर्शन में तीनों का मत सिद्ध रक्खा है (न्याय दर्शन, अ० २, आ० २, सू० ५६—६०)। अरबी दार्शनिकों ने भी यह प्रश्न उठाया है। मुसलमानों में अलफाराबी महाशय वस्तुवादी (Realist) थे।

नहीं था। ह्यूगो ने समयानुसार मन की शक्तियो का भी अन्वेषण किया था। इसके मत से आत्मा की तीन शक्तियाँ है—शारीरिक, प्राण-सम्बन्धी और मानस। यकृत मे शारीरिक शक्ति है, जिसके द्वारा रुधिर आदि बनते हैं। हृदय में प्राणशक्ति है, जिसके द्वारा नाड़ी आदि में रुधिर की गति होती है। और मानस शक्ति मस्तिष्क में है, जिससे ज्ञान होता है।

इस समय दार्शनिको मे बहुत से व्यर्थ प्रश्न उठे। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर देने के प्रयत्न मे दार्शनिक अपना जीवन बिताते थे। पीटर दी लोम्बार्ड के लेखो में कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनसे उस समय के दार्शनिकों की प्रवृत्ति विदित हो जायगी। उनके कुछ उदाहरण यहाँ पर दिए जाते हैं।

ईश्वर सृष्टि में स्वतन्त्र है या परतंत्र? यदि स्वतंत्र हो, तो सृष्टि का ज्ञान उसे पहले से नही होगा; क्योंकि यह निश्चय ही नहीं है कि सृष्टि होगी कि नहीं। यदि पहले से ज्ञान हो, तो उसी के अनुसार सृष्टि होगी। ऐसी दशा मे ईश्वर परतंत्र हुआ।

सृष्टि के पहले ईश्वर कहाँ था? क्योंकि सब स्थान तो सृष्टि ही में है।

ईश्वर की वर्तमान सृष्टि से उत्तम सृष्टि हो सकती है या नहीं? यदि नही हो सकती, तो ईश्वर सर्वशक्तिमान् नही है; और यदि हो सकती है, तो वैसी ही उत्तम सृष्टि क्यों न बनाई गई?

देवताओ के शरीर है या नहीं? वे पाप करते है या नहीं? देवता या ईश्वर मनुष्यों को देख पड़ते है या नही? यदि देख पड़ते हैं, तो किस रूप में?

प्रायः ऐसे ऐसे काकदन्त परीक्षा-प्रश्नों के विचार इस समय

होते थे। इन दार्शनिकों ने किसी नई बात का विचार नहीं किया। इसलिये यहाँ सब के दर्शनों का विवरण न देकर इनमें से मुख्य तीन दार्शनिकों का कुछ वृत्तान्त दिया जाता है। ये तीन टॉमस, डंस स्कॉट्स और ओकम थे।

टामस ऐक्वाइनस—यह डौमिनिक सम्प्रदाय का एक साधु था। इसका मुख्य उद्देश्य अरिस्टाटल के मत का पुनरोद्धार था। इसके मत से भाव और अभाव दो पदार्थ हैं। गो, वृष आदि भाव हैं; दारिद्र्य आदि अभाव हैं। भाव पदार्थ के दो भेद हैं—द्रव्य और आकार (Matter and Form)। ईश्वर शुद्ध आकार है; और द्रव्य तथा आकार दोनों मिलकर बने हैं। आकार वास्तव है और द्रव्य योग्यता मात्र है। आकार जितना ही अपूर्ण होगा, व्यक्तियों की सख्या उतनी ही अधिक होगी। जितनी ही पूर्णता अधिक होती है, उतनी ही व्यक्ति-संख्या कम होती है। ईश्वर पूर्णाकार है; इसलिये वह एक है।

ईश्वर के यहाँ सत्ता और ज्ञान एक है। मनुष्यों में जिस वस्तु की सत्ता रहती है, उसका ज्ञान होता है; अर्थात् सत्ता और ज्ञान भिन्न हैं। पर ईश्वर के यहाँ ये दोनों एक हैं। ईश्वर सत्य स्वरूप है, इसलिये उसकी सत्ता में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए। दर्शन का प्रथम कार्य ईश्वर का उपपादन है। पर यदि ईश्वर ने अवतार लेकर मनुष्यों में अपने स्वरूप को प्रकाशित न किया होता, तो मनुष्य में इतनी शक्ति कभी न थी कि स्वय अपनी बुद्धि से ईश्वर का पता लगा लेता।

ईश्वर की सत्ता को इसने चार प्रकार से सिद्ध किया है—

(क) प्रत्येक वस्तु में गति है। गति का कोई प्रथम निरपेक्ष कारण होना चाहिए।

(ख) सांसारिक पदार्थ अपूर्ण और सापेक्ष हैं; इसलिये एक पूर्ण और निरपेक्ष पदार्थ चाहिए।

(इस प्रकार की युक्तियों को काण्ट ने "विश्व सम्बन्धिनी (Cosmological) युक्तियाँ" कहा है।)

(ग) संसार में पदार्थ क्रमबद्ध हैं। इस क्रम या श्रेणी को पूरा करने के लिये पूर्ण पदार्थ की आवश्यकता है।

(घ) प्रत्येक पदार्थ किसी उद्देश्य को पूर्ण करता है। संसार का उद्देश्य पूर्ण करने या कराने के लिये कोई बुद्धि चाहिए। ये पिछली दो सिद्धियाँ लक्ष्य सम्बन्धी (Tenological) कही गई हैं। इसने मनुष्य के अमरत्व के विषय में प्लेटो की दी हुई युक्तियों को थोड़े बहुत अन्तर से दोहराया है। इसने जीव की तीन शक्तियाँ मानी हैं—संवेदन शक्ति, बुद्धि की क्रियात्मक शक्ति और बुद्धि की शक्य या सम्भावित शक्ति। संवेदनात्मक ज्ञान नीचा है। सामान्य प्रत्यय सम्बन्धी (Conceptional) ज्ञान वास्तव है। किन्तु ऐसा ज्ञान संवेदनात्मक ज्ञान से ही प्राप्त होता है।

इसने मनुष्य की स्वतन्त्रता को माना है। अरस्तू की भाँति यह भी मनुष्य का निश्रेयस् (Summum Bonum) ज्ञान में ही मानता है; किन्तु इसके मत से यह ज्ञान ईश्वर के सम्बन्ध में मनन करने से प्राप्त ज्ञान या आनन्द है। अबौद्ध जीव स्वभाव से कार्य करते हैं और मनुष्य अपनी स्वतंत्र इच्छा से। किसी कार्य का नैतिक मूल्य उसके लक्ष्य अथवा कर्त्ता की नीयत पर निर्भर है।

सदाचार का परिमाण ईश्वर की बुद्धि या ईश्वरीय नियम है। बुराई को यह भी अभावात्मक मानता है।

डंस स्कॉट्स—यह नार्थम्बरलैण्ड का निवासी था। यह फ्रैंसिस सम्प्रदाय का साधु था और आक्सफोर्ड आदि स्थानों मे अध्यापक रहा था। इसके समय तक दर्शन शास्त्र फिर धर्म शास्त्र से स्वतंत्र हो चला था॰। यहाँ तक कि अनेक विषयों में दोनों परस्पर विरुद्ध थे। इसके अनुसार शास्त्र प्रमाण गौण है और तर्क मुख्य है। जो मनुष्य की बुद्धि से ठीक ठीक निकले, यदि वही शास्त्रों में भी हो, तो शास्त्र ठीक हैं। टॉमस के मत से ईश्वर की इच्छा बुद्धि के अधीन है; अर्थात् स्वतंत्र नहीं है। परन्तु स्कॉटस् के अनुसार यह बात ठीक नही जान पड़ती; क्योंकि इस बात के मानने से ईश्वर और मनुष्य सभी बुद्धि के अधीन हो जाते हैं। यदि कृति शक्ति पराधीन है, तो पाप पुण्य का भेद असम्भव है; क्योंकि मनुष्य अपनी इच्छा से तो कुछ कर नहीं सकता। बुद्धि के वश होकर जो चाहे, सो करता है। बुद्धि के अधीन होने से ईश्वर की भी स्वतंत्रता और सर्वशक्तिमत्ता जाती रहती है। इसलिये इच्छा शक्ति स्वतंत्र है। ईश्वर की इच्छा से सृष्टि हुई। इस सृष्टि में जिस की जैसी इच्छा होती है, वैसे कार्य होते हैं, यही निश्चय रखना चाहिए

ओक्कम—यह डंस स्कॉट्स का अनुगामी था। यह पक्का नामवादी था। जाति को कितने लोग पृथक् वस्तु मानते हैं। पर जाति यदि कोई पृथक् वस्तु होती, तो वह एक काल में अनेक

॰ यह स्वतंत्रता प्रायः टॉमस एक्वाइनस के समय से ही शुरू हो गई थी।

व्यक्तियों में अर्थात् अनेक स्थानों में कैसे रहती ! इसलिये ओकम के अनुसार जाति अनेक व्यक्तिगत सदृश धर्मों के समुदाय का नाम मात्र है। वह व्यक्तियों से पृथक् कोई वस्तु नहीं है।

ओकम के साथ माध्यमिक काल का दूसरा भाग समाप्त होता है। इस के समय में धार्मिक ग्रंथों की, दार्शनिक युक्तियों द्वारा पुष्टि करने की प्रथा प्रायः उठ गई थी। इसका आन्दोलन टॉमस एक्वाइनस से आरम्भ हुआ था। उसने इस बात को उठाया था कि कौन सी बात केवल श्रद्धा और विश्वास पर माननी चाहिए और कौन सी युक्ति से। यह बात डंस स्कॉट्स और ओकम के विचारों से और भी स्पष्ट हो गई। विश्वास और युक्ति के क्षेत्र, जो माध्यमिक काल के आरम्भ मे मिलाए जाते थे, अब अलग हो गए। जो सामान्य या जातियाँ वास्तविक मानी जाती थीं, उनकी सत्ता मनुष्य के मन मे ही रह गई। सामान्य तीन प्रकार से सत् माने जाते थे—(१) ईश्वर के ज्ञान में वास्तविक रूप से; (२) सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति से पहले (Aute Rem); मनुष्य के मन मे प्रत्यय रूप से अर्थात वस्तुओं में से प्रत्याहार रीति से प्राप्त होकर (Poste Rem); और (३) व्यक्तियों या पदार्थों में (In Rem)। टॉमस के मत से इन की वास्तविक सत्ता व्यक्तियों में ही हो सकती है। मनुष्य के विचार की सत्ता वास्तविक सत्ता नही है। पदार्थों का धर्म पदार्थों मे ही रहता है। ओकम मे आकर ये विचार और भी स्पष्ट हो गए। टामस ने इनकी स्वतंत्र सत्ता कुछ कुछ ईश्वर के ज्ञान मे मानी थी; किन्तु ओकम के मत से ईश्वर के ज्ञान में भी इन सामान्यों की वैसी ही सत्ता थी, जैसी कि मनुष्य ज्ञान में। इसी कारण पेरिस

के विश्वविद्यालय ने इस की पुस्तकों का बहिष्कार कर दिया था। उसके सौ वर्ष पश्चात् उस विद्यालय में यह प्रथा हो गई थी कि जो कोई वहाँ पढ़ावे, वह इस बात की शपथ खाकर प्रतिज्ञा करे कि मैं वस्तुवाद पढ़ाऊँगा। ईसाई धर्म में व्यक्ति को माना है। जैसे जैसे ईसाई धर्म यूनानी दर्शनों के प्रभाव से मुक्त होता गया, वैसे वैसे मुसलमानी सर्वेश्वर-वादियों के प्रभाव से बचाने के लिये उस पर ध्यान देना और भी आवश्यक हो गया।

टॉमस एक्वाइनस ने व्यक्ति की समस्या उठाई थी। अब यह प्रश्न उठा कि व्यक्तिता मैटर या पदार्थ का भेद है अथवा आकार का। टॉमस ने व्यक्तिता को पदार्थ या मैटर का भेद माना था। किन्तु डंस स्कॉटस् ने इस भेद को पदार्थ में नहीं माना। जिस प्रकार जाति मे उपजाति लगी रहती है, उसी प्रकार उपजाति में व्यक्ति लगा हुआ है। व्यक्तित्व का सिद्धान्त मैटर से अलग है। व्यक्ति वास्तव है और सामान्य हमारे विचार में है।

दूसरा अध्याय

वर्त्तमान काल का उदय

सोलहवीं शताब्दी के मध्य में जाग्रति या पुनरुत्थान (Renaissance) का समय आरम्भ हुआ। इस जाग्रति का फैलाव चारों ओर हुआ। युरोप की राजनीतिक अवस्था इस जाग्रति का कारण थी। यूनान पर तुर्कों की विजय हुई। यूनान का नाश हुआ, किन्तु उसके साथ ही और देश सभ्य हो गए। यूनान के लोग इटली और अन्य देशों में फैल गए और वहाँ पर उनके द्वारा यूनानी ग्रंथों का प्रचार हो गया। पहले अन्य देशवालों को जिन ग्रंथों का ज्ञान उलटे सीधे अनुवादों द्वारा होता था, अब उनका परिचय भागे हुए यूनानियों द्वारा मूल भाषा में होने लगा। यूनानी साहित्य और कला-कौशल के प्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ने लगी। उन दिनो पोप और चर्च का बड़ा प्रभाव था। राजनीतिक क्षेत्र में साम्राज्य के आगे राज्य कुछ नहीं समझा जाता था। जाग्रति के समय धार्मिक और राजनीतिक अधिकारियों का प्रभाव कम हो गया और व्यक्ति को खड़े होने की गुंजाइश मिली। पोप के अधिकार कम होने के और भी कई कारण थे; किन्तु उनमें मार्टिन ल्यूथर के सुधार मुख्य थे। प्राचीनता का भी अधिकार उठ चला था। लोग बाइबिल और अरस्तू तक के विरुद्ध कहने का साहस करते थे। यद्यपि उस समय के लोग नई बातों में विश्वास करने को तैयार न थे और गेलीलियो (Galileo) आदि को धार्मिक

लोगों के शासन मे आना पड़ा था, तथापि उन लोगों ने विचार-स्वातंत्र्य की नीव डाली। गेलीलियो, कोपर्निकस, केप्लर आदि ने ज्योतिष शास्त्र को पलटा दे दिया था। विज्ञान मे लोगों की रुचि बढ़ गई थी। इसी जाग्रति की अवस्था मे नवीन विज्ञान और दर्शनों का उदय हुआ। इटली में ब्रूनो, इंगलैण्ड मे फ्रैंसिस बेकन, और फ्रांस में डेकार्ट आदि ने नवीन दर्शन चलाया *।

ब्रूनो—जायोर्डेना ब्रूनो नेपुल्स का निवासी था। यह डोमिनिक मत का साधु था और देश देश घूमता फिरता था। अन्त में वेनिस नगर मे धर्म-परीक्षा सभा (Inquisition) की आज्ञा से यह कैद किया गया और जीता ही जला दिया गया।

ब्रूनो ने सूर्य-केन्द्रिक ज्योतिष का अनुसरण किया। यह नक्षत्रो को भी सूर्य समझता था। इसका मत था कि पृथ्वी चारों ओर चलती है और ग्रहों में से एक है। विश्व अनन्त है और उसमें असंख्य सूर्य हैं।

दो अनन्त वस्तुओ की स्थिति नही हो सकती; क्योंकि उनमें से एक दूसरो से अलग रहकर परस्पर दोनो को परिमित करती रहेगी। संसार अनन्त है; और ईश्वर को भी लोग अनन्त कहते हैं; इसलिये ईश्वर संसार से अभिन्न है। संसार का उपादान कारण

---

* यद्यपि माध्यमिक काल के अन्त में जेकब, बीम, एकहार्ट और जर्मनी के कई ईसाई मीमांसक हुए, पर उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जायगा। अरब, तुर्की और स्पेन के मुसलमानों ने यूनानी दार्शनिकों की परम्परा में आकर माध्यमिक काल के दर्शनों का विस्तार किया। उन लोगों के विचार ईसाई दार्शनिकों के से ही थे।

(Imminent cause) ईश्वर है। जैसे मृत्तिका और घट अभिन्न हैं, वैसे ही संसार और ईश्वर अभिन्न हैं। ईश्वर सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् है। उत्पत्ति और नाश आपेक्षिक वस्तुएँ हैं। सर्वथा न किसी चीज़ की उत्पत्ति है और न किसी वस्तु का सर्वथा नाश है। केवल सब वस्तुओं का अवस्थान्तर में परिणाम होता रहता है, जिससे देखनेवाले को उत्पत्ति और नाश मालूम होता है। मूर्त और अमूर्त का भेद वास्तव नहीं है। एक ही वस्तु छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी हो सकती है। बीज से पौधा, पौधे से अन्न, अन्न से रस, रस से रुधिर, रुधिर से वीर्य, वीर्य से गर्भ, गर्भ से शरीर और शरीर से मिट्टी होती है। फिर उसी मिट्टी से बीज आदि क्रम से शरीर होता है। इसलिये जो वास्तव द्रव्य सब मे रहता भी एक सा है, वह न मूर्त है और न अमूर्त है। वह कुछ अनिर्वचनीय है, जिसके नाना रूप हो सकते हैं। संसार में सभी वस्तुओ मे एक प्रत्यक्ष शरीरांश है और एक कारण शक्ति अर्थात् आत्मा का अंश है। सम्पूर्ण संसार एक शरीर है, जिसकी आत्मा ईश्वर है। इस संसार में असंख्य वस्तुएँ शक्ति केन्द्र स्वरूप (Monad) वर्तमान है। ये सभी शक्ति-केन्द्र सजीव हैं। प्रत्येक केन्द्र में अन्तर और बाह्य अर्थात् संकोच और प्रसार रूपी दो शक्तियाँ हैं। प्रसार-शक्ति के द्वारा शरीर दृश्य होता है; और सकोच शक्ति से शक्ति-केन्द्र अपने ही अमूर्त रूप में रहता हुआ ज्ञानमय जीवन बिताता है।

कैम्पेनेला—इस समय इटली का दूसरा दार्शनिक कैम्पेनेला नाम का हुआ। उस समय रोमन कैथोलिक धर्म के अधिष्ठाता पोप महाशय के अत्याचारो से स्वतंत्र विचार का कोई पुरुष निर्भय

नही रह सकता था। सत्ताईस वर्ष तक भयानक कैद भोगकर कैम्पेनेला नेपुल्स में मरा।

कैम्पेनेला के गत से जब तक ज्ञान-शक्ति की परीक्षा न कर ली जाय, तब तक किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रकाश करना उचित नहीं है। ज्ञान के मूल दो हैं—प्रत्यक्ष और तर्क; अर्थात् बाह्य ज्ञान और आन्तर ज्ञान। बाह्य ज्ञान से जो वस्तु विदित होती है, वह वास्तव नहीं है, जैसा कि यूनान के संशय-वादियों ने दिखाया है; क्योंकि वस्तुतः बाह्य पदार्थ हमारी ही इन्द्रियों मे होनेवाले परिवर्तनों के समूह रूप है। तथापि बाह्य वस्तु की स्थिति तर्क या अनुमान से जान पड़ती है। आन्तर ज्ञान के द्वारा ज्ञाता और ज्ञाता से पृथक् ज्ञेय अर्थात् अहम् और इदम् दोनो का अलग अलग भान होता है। जिस बाह्य वस्तु का भान स्वाभाविक रूप से सभी को होता है, उसका यदि प्रमाण माँगा जाय, तो बाह्य इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से उसका उपपादन नहीं हो सकता। किन्तु आन्तर ज्ञान से बाह्य वस्तु की स्थिति का प्रमाण दिया जा सकता है; क्योकि ज्ञाता कहाँ तक स्वतंत्र है और किन विषयों में बाह्य वस्तुओ के अधीन है, यह उसे स्वयं ज्ञात है। पर इस आन्तर ज्ञान से भी वस्तुओ का पूर्ण ज्ञान नहीं होता; क्योकि ज्ञान की श्रेणियाँ हैं। ईश्वर का ज्ञान सर्वथा पूर्ण है; औरों का ज्ञान अपूर्ण है। पूर्ण ज्ञान की ओर ले जाना ही दर्शन का उद्देश्य है।

शक्ति, ज्ञान और प्रवृत्ति ये तीनों ससार की स्थिति के मूल हैं। संसार का आविर्भाव होने के लिये जिस वस्तु से उसका आविर्भाव हुआ, उसमे शक्ति अर्थात् सत्ता; जिसे उत्पन्न करता है, उसका बोध अर्थात् चिति; और उत्पत्ति की प्रवृत्ति अर्थात् उत्पादन में

रुचि (आनन्द) इन तीनो की आवश्यकता है। इसलिये सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर है, जिसमें संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय है। इसी लिये थोड़ी बहुत सत्ता, ज्ञान और आनन्द निर्जीव तथा सजीव सभी मे अवस्थानुरूप वर्तमान है। सजीव, निर्जीव सब में असत्ता, अज्ञान और दुःख से भय तथा सत्ता, ज्ञान और विवेक से प्रीति होना स्वाभाविक है। इसी से सब की स्थिति है। यही धर्म है। सच्चिदानन्द की ओर समस्त ससार की प्रवृत्ति है। इसी को धर्म कहते हैं।

इधर इटली में कोपर्निकस आदि वैज्ञानिकों ने टालेमी का भूकेन्द्रक ज्योतिष नष्ट कर नया सूर्य-केन्द्रिक ज्योतिष सिद्धान्त उपस्थित किया; और दार्शनिक लोग ब्रूनो, कैम्पेनेला, गैसेंडी आदि प्लेटो तथा अरस्तू तक के प्राचीन दर्शनो का सारांश लेकर मध्य समय के सूखे दर्शनों की जड़ खोद रहे थे। उधर इंगलैण्ड में बेकन और हाब्स तथा फ्रांस में डेकार्ट बड़े स्वतंत्र विचार के दार्शनिक हुए, जिनके विचारों ने नए दर्शन का पूर्ण समारोह से आरम्भ किया।

फ्रैंसिस बेकन—सूखी दार्शनिक कल्पनाओं में इंगलैण्ड की श्रद्धा कभी अधिक न थी। तेरहवीं सदी में भी राजर बेकन अपने समय का बड़ा वैज्ञानिक और गद्य लेखक हुआ। यह बहुत काल तक अँगरेजी शासन में प्रतिष्ठित पदों पर था। पीछे अप्रतिष्ठा के कारण इसे पद छोड़ना पड़ा। अरस्तू ने निगमनात्मक अनुमान प्रधान तर्क शास्त्र (Logic) लिखा था। जिसमें निश्चित व्याप्तियों से अनेक विशेष निर्णय हो सकते थे।

सब मनुष्य मरते हैं, यह ज्ञान होने से साक्रेटीज़ यदि मनुष्य था, तो अवश्य मर्त्य था, यह जानना सुलभ है। पर इस विषय

पर अभी तक बहुत कम दृष्टि दी गई थी कि यह व्यापक ज्ञान कि सब मनुष्य मरते हैं, कहाँ से और किस प्रकार हुआ। बिना इस बात का निश्चय किए कि सब मनुष्य नाशवान् हैं, इस पर से अनुमान करना वृथा है। अनुभव और परीक्षा (Observation and Experiment) के द्वारा व्याप्तिग्रह का साधन और उपपादन ही बेकन का मुख्य उद्देश्य था। बेकन के नए तर्क शास्त्र (Novum Organum) द्वारा पहले पहल आगमनात्मक तर्क (Induction) का प्रचार हुआ। बेकन नवजात विज्ञान का पिता समझा जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसने कोई बड़े भारी आविष्कार किए थे; वरन् इसका यही अभिप्राय है कि उसने वैज्ञानिक पद्धति निश्चित की। माध्यमिक काल में केवल धार्मिक विश्वास के आधार पर किसी बात को मानकर लोग निगमन निकालते थे। यदि ऐसे निमगनों का आधार सत्य है, तो वह भी सत्य है; अन्यथा नहीं। सत्य निगमनों को प्राप्त करने के लिये अनुमापक वाक्यों (Premises) की सत्यता पूर्णतया सिद्ध कर लेनी चाहिए। यह व्याप्ति ज्ञान केवल गणना नही है, वरन् भेद और समता के सम्बन्ध या आकार को देखना है।

पुस्तकों के निरीक्षण से, प्राचीनो के अनुकरण से और मन की कल्पनाओं से किसी बात का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। आलस्य के कारण भाग्य मानकर संतोष करना या सुन्दरता की दृष्टि से स्वर्ग, अमृत आदि की कल्पना करके मन बहलाना आदि वैज्ञानिकों या दार्शनिकों का कार्य नहीं है।

मनुष्य के मन की तीन शक्तियाँ हैं–स्मृति, कल्पना और

वास्तव ज्ञान। स्मृति के अधीन ऐतिहासिक शास्त्र हैं। कल्पना के अधीन कविता के विषय हैं। ज्ञान के अधीन दर्शन के विषय हैं, जिन के तीन विभाग है, धर्मशास्त्र—प्रकृतिशास्त्र, और नरशास्त्र। देवता आदि के विषय धर्मशास्त्र के अन्तर्गत हैं। वैज्ञानिक विषय प्रकृति शास्त्र में है; और मनः शास्त्र आदि नर शास्त्र के विषय हैं। उपदेशों के ऊपर विश्वास न रखकर एक नियम के लिये धीरे धीरे अनेक प्रकार के उदाहरणो की परीक्षा करके उस नियम की यथार्थता या अयथार्थता का निर्णय करना मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है। खोज करनेवाले को चाहिए कि वह अपने मन को प्रचलित विश्वास से खाली कर दे। अभिप्राय यह है कि वैज्ञानिक खोज में इन विश्वासो का प्रभाव न पड़ने दे। ये विश्वास जाति के (Idols of the tribes), व्यक्ति के (Idols of the den), बाज़ार के लोगों के (Idols of the market) और दार्शनिकों तथा पण्डितों के (Idols of the Theatre) हैं। ईश्वर-विद्या विश्वास का विषय है, विचार और परीक्षा का नहीं। इसने ईश्वर-विद्या दो प्रकार की मानी है—एक प्राकृतिक (Natural Theology) और दूसरी इलहामी (Revealed Theology)। प्राकृतिक ईश्वर-विद्या द्वारा ईश्वर सम्बन्धी मोटा ज्ञान होता है। सूक्ष्म ज्ञान के लिये इलहामी ज्ञान या शब्द-प्रमाण की शरण लेनी पड़ेगी। बेकन के ग्रन्थों में माध्यमिक काल का प्रभाव कम हो गया। बेकन का कहना था कि थोड़े ज्ञान से मनुष्य अनीश्वरवादी हो जायगा; किन्तु पूर्ण ज्ञान ईश्वर में विश्वास स्थापित कर देगा। तात्पर्य यह कि विज्ञान और ईश्वर-विद्या के क्षेत्र बिलकुल अलग हो

गए। जैसा कि दिखाया जा चुका है, इस बात का सूत्रपात माध्यमिक काल के अन्तिम भाग में ही हो गया था। बेकन में यह और भी स्पष्ट हो गया। बेकन ने अनुभव वाद (Empiricism) की नीव डाली। जो कुछ हमारा ज्ञान है, वह इन्द्रियो द्वारा ही प्राप्त होता है। इस अनुभव वाद का पूर्ण परिणाम लॉक (Locke) से आरम्भ होनेवाले सम्प्रदायों मे प्रकट होगा।

हाब्स—बेकन के कुछ समय बाद इंगलैण्ड मे हाब्स नामक दार्शनिक हुआ। यह नीति और आचार के विषयो का लेखक था।

कार्य से कारण का और कारण से कार्य का ज्ञान दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। यह उद्देश्य शुद्ध विचार करने से सिद्ध हो सकता है। विचार करना प्रत्ययो को जोड़ने और घटाने के अतिरिक्त और कुछ नही है। इसलिये उन्ही वस्तुओ का विचार हो सकता है, जो सावयव अर्थात् मूर्त हैं*; क्योंकि उन्ही के अंशों का जोड़ना और घटाना हो सकता है। जो निरवयव अमूर्त वस्तुएँ हैं, जैसे देव, देवदूत, आत्मा, ईश्वर आदि, वे दर्शन के विषय नही हैं। उनका ज्ञान भी नहीं हो सकता। वे भक्ति शास्त्र के विषय हैं। दार्शनिको को चाहिए कि भक्तो के लिये इन विषयों को छोड़ दें और केवल मूर्त पदार्थों मे कार्य कारण भाव की परीक्षा करें। परीक्षा के अविषय जो वस्तुएँ है, उनका ज्ञान असम्भाव्य है।

---

* यह नामवादी था। यद्यपि विज्ञान में सामान्य विचारो से काम पड़ता है, किन्तु वास्तव में सामान्य पदार्थ कोई नहीं है।

संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं। अकृत्रिम या प्राकृत और कृत्रिम या मानवाधीन। तर्क शास्त्र, पदार्थ विज्ञान आदि के विषय अकृत्रिम हैं। आचार, नीति आदि कृत्रिम विषय हैं, जो मनुष्य के अधीन हैं। संवेदन (Feeling) के अतिरिक्त कोई ज्ञान नहीं है। इन्द्रियो में जो परिणाम होता है, उसी के अनुभव को संवेदन कहते हैं। स्मृति के द्वारा सब विचार होते हैं और स्मृति संवेदन का सात्यय रूप है। संवेदन मे न कुछ इन्द्रियों से बाहर निकलकर बाह्य वस्तुओं मे जाता है, न बाह्य वस्तुओं से कोई प्रतिबिम्ब निकलकर इन्द्रियो मे आता है। ऐन्द्रिक परमाणुओं में परिणाम उत्पन्न होता है, जो स्नायु तन्तुओं के द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचता है। इसी से संवेदन होता है। शब्द, रूप, रस आदि केवल इन्द्रिय विकार हैं। इन्द्रियों में जो आघात होता है, वही प्रभा आदि के रूप में देख पड़ता है। प्रभा आदि कोई बाह्य वस्तु नहीं हैं। स्वनिष्ठ परिमाणो को बाह्य करके दिखलाना इन्द्रियो का भ्रम है। इन ऐन्द्रियक आघातों का कारण कोई द्रव्य है, केवल इतना ही हम कह सकते हैं। उस द्रव्य मे रूप, रस आदि का समझना केवल भ्रम है। केवल मस्तिष्क के परिणामो को आत्मा कहते हैं। अमूर्त आत्मा कोई पृथक् वस्तु नही है *।

मनुष्यो और पशुओं मे केवल श्रेणी का भेद है। वस्तुतः

---

* हॉब्स ने दोनों ही बातें मानी हैं। ज्ञान को मस्तिष्क की क्रिया या गति (Motion) माना है; और कहीं कहीं उसको गति का फल रूप माना है। पिछले मत को आज कल के लोग छाया वाद (Epiphenomalism) के नाम से निर्दिष्ट करते है।

दोनों ही काम, क्रोध आदि के अधीन हैं। दोनों ही प्रिय वस्तु, की ओर जाते हैं और अप्रिय वस्तु से हटते हैं। जिस बात की पूर्ण कारण सामग्री (Sufficient Reason) आ पहुचती है, वह अवश्य होती है। उसे मनुष्य रोक नहीं सकता। अच्छाई या बुराई कोई स्वतंत्र वस्तु नही है। जिसे जो अच्छा लगे, सो अच्छा; और जिसे जो बुरा लगे, सो बुरा।

निरपेक्ष भला कही नहीं है। ईश्वर की भी भलाई निरपेक्ष नहीं है। हमारा संकल्प (Will) हमारी इच्छाओं और प्रवृत्तियों का फल है। हमारा संकल्प कार्य कारण की श्रृंखला में बँधा हुआ होने के कारण स्वतन्त्र नही है। हमारी स्वतन्त्रता केवल इस बात में है कि हमारे लिये कोई बाहरी रुकावट नहीं है। मनुष्य अंदर से स्वतन्त्र नहीं, किन्तु बाहर से स्वतन्त्र है। वह अपने राजनीतिक विचारो में सब मनुष्यों के अधिकार बराबर रखता है। किन्तु बिना शासक के सब लोग लड़ाई झगड़ा करेंगे; इससे सब लोगों को स्वतन्त्रतापूर्वक एक राजा के अधीन होना चाहिए। अरस्तू ने मनुष्य को स्वभाव से समाजप्रिय माना है; किन्तु इसने उसे फाड़ खानेवाले जानवरों (Homo Homini hupus) की कोटि में रखा है। मनुष्य मनुष्य के लिये भेड़िया है। उसके इसी भेड़िएपन को दबाए रखने के लिये राजा या राज्य चाहिए।

इस प्रकार ब्रूनो, बेकन आदि दार्शनिकों ने नए विचार चलाए, जिनका पूर्ण विकास डेकार्ट आदि ने किया।

पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास

(तीसरा खंड)

आधुनिक दर्शन

पहला भाग

पहला अध्याय

अवसार वाद और उससे प्रभावित दर्शन

डेकार्ट—फ्रांस देश का विख्यात दार्शनिक और गणितज्ञ डेकार्ट टूरेन प्रान्त के हे नामक नगर में उत्पन्न हुआ था। जर्मनी आदि प्रदेशों में इसने कई युद्ध भी किए थे। दर्शन पर "चिन्तन" (Meditations) आदि अनेक ग्रंथ इसने लिखे थे। स्वीडेन देश की रानी क्रिस्टिना इस विद्वान् को बहुत मानती थी। उसके बुलाने पर यह स्वीडेन गया था। वहीं इसका देहान्त हुआ। नवीन रेखागणित में इसने बहुत से तत्त्वों का अन्वेषण किया था और अपने समय के गणितज्ञों में बड़ी प्रतिष्ठा पाई थी।

मनुष्य के शरीर विज्ञान से भी डेकार्ट बहुत कुछ परिचित था। शरीर विज्ञान के साथ प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान का कैसा सम्बन्ध है और शरीर पर मन का कार्य कहाँ तक निर्भर है, इत्यादि विषयों का विचार यह अच्छी तरह कर सकता था। इसलिये मानस विज्ञान की रीति (Psychological Method) और वैज्ञानिक रीति (Positive Method) का भी यही आरम्भक समझा जाता है।

जिस प्रकार बेकन नवीन विज्ञान का पिता समझा जाता है, उसी प्रकार डेकार्ट नवीन दर्शन का पिता माना जाता है। बेकन की भाँति इसने भी प्राचीन कल्पनाओं को बिना सिद्ध किए हुए मानना उचित नहीं समझा। यह सब बातों को विवेक की कसौटी

पर कसना चाहता था। यह स्वयं गणितज्ञ था और इसने दर्शन शास्त्र में भी गणित, विशेष कर रेखागणित की पद्धति लगाई थी। रेखागणित में कुछ स्वयंसिद्ध विचारों के आधार पर उनसे निगमन निकालकर चलते हैं। पर दर्शन शास्त्र में भी इसने स्वयंसिद्ध बातों का ढूँढ़ना चाहा। वह किसी बात को सहज में स्वयंसिद्ध मानने को तैयार न होता था—सब बातों की परीक्षा करना चाहता था। संशय को यह हद तक पहुँचाना चाहता था।

पर पीरो आदि दार्शनिकों ने जैसे इसी संशय पर विश्राम किया, वैसे इसने संशय तक ही रह जाना उचित नहीं समझा। यदि यह निश्चय है कि मुझे संशय है, तो यह भी निश्चय हुआ कि मैं सोचता हूँ; क्योंकि संशय करना एक प्रकार का सोच या विचार है। पर जो वस्तु है ही नहीं, वह कैसे कुछ विचार कर सकती है? इसलिये यदि मैं विचार कर सकता हूँ, तो मैं अवश्य हूँ। इससे यह निस्सन्देह सिद्ध हुआ कि मैं हूँ। "मैं सोचता हूँ; इसी लिये मैं हूँ।" (Cogito, ergo sum)* यही सिद्धान्त डेकार्ट के दर्शन की आधार-शिला बना। आगस्टिन ने भी यही प्रतिपादन किया था। पर डेकार्ट के प्रतिपादन की रीति कुछ नवीनता रखती है। "मैं सोचता हूँ, इसी लिये मैं हूँ" यह कोई अनुमान नहीं

---

* श्री शंकराचार्य्य का निम्नलिखित श्लोक इस भाव से मिलता जुलता है—

अहमित्यस्मिन्नर्थे कस्यास्ति संशयः पुंसः।
अत्रापि संशयश्चेत संशयिता यः स एव भवसित्वं॥

अर्थात्—"मैं हूँ" इस विषय में किस आदमी को संशय हो सकता है? यदि इसमें किसी को संशय हो, तो वह संशय करनेवाला ही तू है।

है। यह तो स्वयंसिद्ध है। इसका केवल विवरण हो सकता है, कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता।

इस प्रकार जब यह स्वयंसिद्ध है कि मैं हूँ, तब ऐसे ही स्पष्ट रूप से जो कुछ मेरे विचार में हो या जो इस प्रतिपाद्य से निकले, उसके अतिरिक्त और किसी बात का विश्वास नहीं करना चाहिए। स्पष्ट और असन्दिग्ध विचार ही सत्य कहे जा सकते हैं। जब इन्द्रिय ज्ञान द्वारा सत् ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और सत् ज्ञान के लिये स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों की आवश्यकता है, तब यह स्वयंसिद्ध सिद्धान्त या विचार मनुष्य में सहज या जन्म से ही प्राप्त होना चाहिए। यह सहज विचारों (Innate Ideas) को मानता था। यह विचार अनुभव से स्वतंत्र है।

एक ज्ञान ऐसा विलक्षण है, जो आत्मातिरिक्त वस्तु का साधक है। मनुष्य को ईश्वर की स्थिति में विश्वास है। पर यह विश्वास कहाँ से आया? यदि कहे कि बाह्य वस्तुओं की तरह ईश्वर भी मन की कल्पना या भ्रम है, तो ठीक नहीं; क्योंकि अनन्त, अपरिच्छिन्न, पूर्ण परमेश्वर की कल्पना सान्त, परिच्छिन्न और अपूर्ण मन कैसे कर सकता है? कारण में कार्य के उत्पन्न करने की सामर्थ्य चाहिए। इसके अतिरिक्त अपूर्ण से पूर्ण का अनुमान भी नहीं हो सकता। जब तक हमारे मन में पूर्ण का विचार न हो, तब तक हम किसी पदार्थ को किस प्रकार अपूर्ण कह सकते हैं? पूर्ण ही आदर्श है। जब हम अपने को इस आदर्श से न्यून पाते हैं, तभी हम अपने को अपूर्ण कहते हैं। हम यह कह सकते हैं कि जैसे मन में अशर्फ़ियों की कल्पना होने से वस्तुतः अशर्फियाँ आ नहीं जातीं, वैसे ही मन में ईश्वर की कल्पना होने से ईश्वर

की वास्तविक सत्ता स्थापित नहीं होती। परन्तु यह कथन परीक्षा से कुतर्क जान पड़ता है; क्योंकि ईश्वर पूर्ण है, ऐसा हम लोगों का ज्ञान है; और पूर्णता में सत्ता लगी हुई है। मनुष्य को जिस ईश्वर का ज्ञान है, यदि वह असत् हो, तो दूसरी सत् वस्तु उससे अधिक पूर्ण और उत्तम समझी जा सकती है। पर "ईश्वर" शब्द का तो अर्थ ही सत् और पूर्ण है; इसलिये सत् और पूर्ण का ज्ञान होने से उसकी सत्ता सिद्ध नहीं हुई, यह कहना कुतर्क मात्र है। यदि पूर्णता में सत्ता न हो, तो वह पूर्णता ही नहीं। असत् पूर्णता में वदतोव्याघात दोष आता है।

एन्सेल्म ने भी यह बात दिखलाई है; पर उसके मत से हमारे ज्ञान के अधीन ईश्वर की स्थिति है; और डेकार्ट के मत से ईश्वर की स्थिति के कारण हमें ईश्वर का ज्ञान है। यही दोनों मतों में भेद है।

अब इस प्रकार 'मैं हूँ' और 'ईश्वर है' इन दो बातों के सिद्ध होने पर एक और भी स्पष्ट तीसरी यह बात सिद्ध होती है कि "संसार सत् है"। ईश्वर ने हमें वस्तुओं का अनुभव दिया है। यदि किसी भूत प्रेत ने हमारे मन में संसार की स्थिति का विश्वास दिया होता, तो उस विश्वास को हम माया या भ्रम कह सकते थे। पर पूर्ण परमात्मा, जो स्वयं सद्रूप है, हमें भ्रमात्मक वस्तुओं में वास्तविकता दिखलाकर वंचित करे, यह कब सम्भव है। वंचना करना पूर्ण परमात्मा का धर्म कभी नहीं हो सकता; क्योंकि वंचना अपूर्णता का लक्षण है। इन तीन वस्तुओं में (जो ऊपर सिद्ध हुई हैं) ईश्वर स्वतंत्र वस्तु है। आत्मा और संसार भी गुणाश्रय हैं; इसलिये वस्तु कहे जा सकते हैं। पर उनकी

स्थिति स्वतंत्र नहीं है, वरन् ईश्वर के अधीन है। आत्मा का गुण ज्ञान है और बाह्य वस्तु मात्र (संसार) का गुण आयाम या विस्तार (Extension) है। संसार का धर्म विस्तार है; इसलिये शून्य और अणु आदि परिमाणहीन वस्तुएँ अभाव रूप हैं। उनकी स्थिति नहीं माननी चाहिए। इसी प्रकार विस्तार का अन्त अचिन्तनीय है; इसलिये संसार का भी प्रदेश में परिच्छेद नहीं है। संसार अनन्त और निष्केन्द्र है और उसकी गति उत्केन्द्रिक तथा केन्द्रापिगामिनी (Eccentric Centrifugal) है। विस्तार के कारण वस्तुओं में गति होती है। सब प्रकार की गतियों का कारण स्थान-परिवर्तन है। अब यह गति कहाँ से हुई, इस बात का यदि अन्वेषण करें, तो हम देखते हैं कि सब मूर्त पदार्थों का अणु से अणु अंश विस्तृति मात्र है। उन में आत्मा के सदृश गति देनेवाली कोई वस्तु नहीं है। इसलिये किसी बाह्य कारण से उनमें गति है, ऐसा अनुमान होता है। इससे सिद्ध होता है कि यह संसार एक यंत्र सा है, जिस में पहले ईश्वर ने गति उत्पन्न की; और उसी गति से यह चल रहा है। ज्ञाता और ज्ञेय अर्थात् आत्मा और मूर्त पदार्थों में सर्वथा भेद है *।

---

* आत्मा और मूर्त पदार्थ अर्थात् विषय और विषयी में सांख्य और वेदान्त दोनों ही ने भेद माना है। श्री शङ्कराचार्य्य कहते हैं—"विषय विषयिणोः तमः प्रकाशवत् विरुद्ध स्वभावयोः इतरेतर भावानुपपत्तिः।" सांख्यवाले भी कहते हैं—"शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्"। किन्तु इनके योग की समस्या जिस प्रकार युरोप में रही, वैसी यहाँ नहीं रही। न्याय तथा वैशेषिकवालों ने तो पुरुष को कर्त्ता माना है; लेकिन सांख्य और वेदान्त दोनों ही ने पुरुष को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव और अकर्त्ता कहा है।

आत्मा सर्वथा विस्तारशून्य है और सब बाह्य वस्तुएँ स-विस्तार हैं । आत्मा चेतन और विचारवान् है । भौतिक पदार्थ अचेतन और अविचारवान् हैं । जो बात आत्मा में है, वह भौतिक पदार्थों में नहीं; और जो बात भौतिक पदार्थों में है, वह आत्मा में नहीं है । किन्तु इसके विपरीत मनुष्य के शरीर में आत्मा और जड़ पदार्थ का योग दिखाई पड़ता है । वस्तुतः आत्मा और शरीर मे कोई सम्बन्ध नहीं है । फिर यह प्रश्न उठता है कि इन परस्पर प्रतिकूल पदार्थों में सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है ? यद्यपि यह प्रश्न डेकार्ट के अनुयायियों

हिन्दू शास्त्रों में जो प्रकृति का विचार है, वह मैटर (Matter) के विचार से भिन्न है । प्रकृति और माया में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सब आ जाते हैं । ज्ञान और क्रिया के साधन और मूल कारण सब एक हो जाते हैं; और फिर यह समस्या ही नहीं उठती । जब हमारी इन्द्रियों का भूतों से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और इन्द्रियों का मन से, और सब क्रियाओं का आधार प्रकृति ही में माना जाता है, तब विरोध कहाँ रहा ? और जिस बात में विरोध है, उस बात से युरोप के फिलास्फरों को विशेष मतलब नहीं । यह जो भेद रह जाता है, वह बन्ध और मुक्त के विषय में है। दूसरा भेद ज्ञान के आकार में है। बुद्धि एक प्रकार से आत्मा और प्रकृति के बीच का पुल है । आत्मा प्रकृति की सब क्रियाओं और ज्ञान के लिये दीपक का काम करती रहती है । सांख्य और वेदान्त में भेद इतना ही रह जाता है कि जिसको सांख्यवाले प्रकृति कहते हैं, उसको वेदांतवाले माया कहते हैं । "मायांतु प्रकृति विद्यात् ।" इसके अतिरिक्त यह एक और भेद है कि प्रकृति पुरुष की भाँति सत् है, पर माया सत् नहीं है। माया में आत्मा का गुण नहीं आ सकता । और सत् एक ही पदार्थ हो सकता है ।

के लिये सर्वप्रधान था, किन्तु डेकार्ट ने इस प्रश्न को उसकी चरम सीमा तक नहीं पहुँचाया। यदि वह ऐसा करता, तो दोनों के मेल और क्रिया प्रतिक्रिया (Interaction) की कोई सम्भावना न रहती। डेकार्ट मानता था कि क्षुधा, पीड़ा आदि के कुछ ऐसे संवेदन हैं, जो शरीर और आत्मा दोनों ही के कहे जा सकते है। किन्तु इससे यह बात पूरी तौर से मानने को तैयार न था कि दोनों का योग हो गया, अथवा दोनो एक पदार्थ है। हॉब्स ने विचार को इन्द्रियों की क्रिया का फल मान लिया था। किन्तु, डेकार्ट ने हॉब्स का साथ नहीं दिया। हॉब्स का यह मत था कि इन्द्रियों की पीड़ा से विचार में कुछ असर पड़ता है; लेकिन विचार इन्द्रियों की क्रिया का फल नहीं है। पर डेकार्ट इन्द्रियों की क्रिया को ज्ञान से स्वतन्त्र मानता था। इसका मत था कि शरीर में यंत्र के सदृश क्रिया होती रहती है; और उस क्रिया द्वारा प्राणशक्ति (Animal Spirits) उत्पन्न होती रहती है। इसने जानवरों को स्वयं चलनशील (Automaton) कहा है; किन्तु मनुष्य में यह विशेषता है कि उसकी क्रिया ज्ञान द्वारा नियमित होती रहती है। क्रिया को नियमित करना बुद्धि का काम है। बुद्धि शरीर मे नही है, आत्मा मे है। बुद्धि द्वारा नियमित होना तभी सम्भव है, जब आत्मा और शरीर का सम्बन्ध हो। पर यह सम्बन्ध कैसे हो ? डेकार्ट के मत से यह सम्बन्ध ब्रह्मरन्ध्र या मस्तिष्क रन्ध्र (Pineal gland) के द्वारा होता है। आत्मा की चिन्ताओं से पहले इसी रन्ध्र में गति उत्पन्न होती है। फिर यह गति समस्त शरीर में प्राण-शक्तियों द्वारा फैलती है। पहली दृष्टि से इन दोनों बातों में विरोध जान पड़ता

है। पर डेकार्ट ने इस विरोध के परिहार के लिये यह कहा है कि शारीरिक और आत्मा सम्बन्धी व्यापारों में केवल कालिक सम्बन्ध है; अर्थात् शरीर के दबने आदि से आत्मा में सुख दुःख और आत्मा की चिन्ताओं से उत्तर काल में शरीर की दुर्बलता आदि होती है। बस इतना ही है। शारीरिक और आत्मा सम्बन्धी विषयों में कार्य-कारण भाव नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि बाह्य वस्तुओं से आत्मा को सुख दुःख नहीं होता; किन्तु उन वस्तुओं के ज्ञान से होता है। और वस्तु तथा उसका ज्ञान दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं; इसलिये वस्तुतः आत्मा और बाह्य वस्तु अत्यन्त भिन्न और परस्पर असंबद्ध है, यही मानना उचित है।

इस प्रकार डेकार्ट ने शब्द प्रमाण पर विश्वास करने का खण्डन करके युक्ति और तर्क का प्रमाण स्थापित किया। इसके मत के सम्बन्ध में धर्मवादियों में बड़े बड़े विरोध चले। तथापि इसके लेख ऐसे युक्त और हृदयग्राही थे कि बहुत से लोगों ने इसका अनुसरण किया। डेकार्ट के अनुगामियों मे मुख्य मेलेब्रांश और ज्यूलिक थे। डेकार्ट के दर्शन पर दो प्रश्न उठे। एक प्रश्न तो यह था कि आत्मा और शरीर या ज्ञाता और ज्ञेय यदि परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, तो उनमे कौन सा सम्बन्ध है, जिससे आत्मा को शारीरिक विषयों का ज्ञान होता है। इस के साथ ही यह भी प्रश्न था कि ईश्वर जड़ प्रकृति में किस प्रकार गति उत्पन्न करता है। दूसरा प्रश्न यह था कि जीवात्मा का ईश्वर से क्या सम्बन्ध है। यदि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, तो जीवात्मा स्वतंत्र है या नहीं। डेकार्ट की फिलासोफी में इतनी कठि-

नाइयाँ इस कारण से आ गई थीं कि वह यंत्र विद्या के सिद्धान्तों को आत्म विद्या से मिलाना चाहता था। इन से बचने के कई उपाय हो सकते थे; और क्रम से दार्शनिकों ने उन सब उपायों का सहारा लिया। यथा—(१) दोनों को स्वतंत्र मानकर ईश्वर को मध्यस्थ करना। (२) दोनो को गौण मानकर ईश्वर में उनका समावेश करना। (३) प्रकृति को उड़ाकर चेतन को स्थापित करना। और (४) हॉब्स की भाँति चेतन को उड़ाकर उसकी जगह प्रकृति को कायम रखना और चेतन को उसका विकार बतलाना।

डेकार्ट के कई अनुयायियों का मत है कि जब जब शरीर पर असर होने से आत्मा को संवेदन या सुख दुःख आदि होते हैं और जब जब आत्मा की संकल्प शक्ति से शरीर हिलता डोलता है, तब तब आत्मा और शरीर के बीच मे पड़कर ईश्वर कार्य करता है। आत्म-संवेदन का शरीर से और शारीरिक गति का आत्मा से कालिक सम्बन्ध (Occassional cause) है। वस्तुतः इस संवेदन और गति दोनों ही का कारण ईश्वर है। इस-लिये इन दार्शनिकों का मत अवसर वाद (Occassionalism) कहा जाता है।

मेलेब्रांश—यह कहता था कि जो कुछ हम देखते हैं, वह वस्तु नहीं है, ज्ञान है। ईश्वर के ज्ञान में हम और सब सांसारिक पदार्थ रहते हैं। ईश्वर के ज्ञान को अनुभूत करने के कारण वह सांसारिक पदार्थ हमारे ज्ञान में आ जाते हैं। ईश्वर के बीच मे आ जाने के कारण बाह्य पदार्थ एक प्रकार से अनावश्यक हो जाते हैं; और इस प्रकार अवसर वाद हमें सर्वेश्वर वाद और प्रत्यय वाद की ओर ले जाता है।

ज्यूलिंक—इसने इस मत को निश्चित रूप दिया था। इसका कहना है कि प्रत्येक क्रिया, जिस में भीतरी और बाहरी संसार का योग होता है, ईश्वर की क्रिया का फल है। न आत्मा भौतिक संसार पर असर डाल सकती है और न भौतिक संसार आत्मा पर। अगर हम हाथ हिलाने का संकल्प करते हैं, तो हमारा हाथ हमारे संकल्प से नहीं हिलता, वरन् हमारा संकल्प ईश्वर के लिये एक ऐसा अवसर होता है कि वह हमारे हाथों में गति उत्पन्न करे। इसी प्रकार जब भौतिक संसार में कोई परिवर्तन होता है, तब उसके ज्ञान का कारण भौतिक परिवर्तन नहीं होता, वरन् उस अवसर पर ईश्वर की इच्छा के द्वारा हमारे मन में ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है।

स्पाइनोजा—इसका जन्म एमेंस्टर्डम नगर में हुआ था। यह जाति का यहूदी था। धर्म ग्रंथों का अभ्यास करने के बाद इसने स्वतंत्र दार्शनिक विचार आरम्भ किया, जिससे इसके धर्म-वालों ने इसे अपनी जाति से निकाल दिया था। कई नगरों में घूमते घूमते अन्त में इसने हेग नगर में अपनी स्थिति की। अध्यापक का पद मिलने पर भी इसने अपनी स्वतन्त्रता स्थापित रखने के हेतु उसे स्वीकार नहीं किया और दूरबीन आदि यंत्रों के लिये दर्पण बनाकर और बेचकर जीवन-निर्वाह किया। यह बड़ी दीन हीन दशा में प्रायः ४५ वर्ष की अवस्था में मरा। कहा जाता है कि इसका धन छीनने के लिये इसके डाक्टर ने इसका गला घोंट दिया था। इसने बहुत से ग्रंथ लिखे थे। उनमें "रेखा गणित की रीति से आचार का निरूपण" (Ethica Mone Geometrica Demonstrata) नाम का ग्रंथ सब से उत्तम समझा जाता है।

डेकार्ट के मत में जो विरोध थे, उनको हटाकर तर्क से अविरुद्ध एक दर्शन का प्रचार करना स्पाइनोजा का मुख्य उद्देश्य था। जैसे रेखा गणित में थोड़ी सी परिभाषाओं से बड़े बड़े साध्य उपपादित होते हैं, वैसे ही तीन मुख्य परिभाषाओं से दार्शनिक विषयों का उपपादन स्पाइनोजा ने किया है—(१) द्रव्य (Substance) उसे कहते हैं, जो स्वतंत्र अर्थात् बिना और किसी वस्तु की सहायता के विचारों में आ सके। (२) धर्म (Attribute) उसे कहते हैं, जिसके रहने के कारण द्रव्य अपने स्वरूप में रहता है। और (३) प्रकार (Mode) वह है, जो किसी द्रव्य का अवस्थान्तर हो; अर्थात् बिना द्रव्य के समझ में न आ सके। द्रव्य एक है। आयाम या विस्तार और ज्ञान ये दो परमात्मा के धर्म हैं। प्रकार अनेक हैं। जितने जीव हैं, वे सब ज्ञान के प्रकार हैं। जितने सांसारिक पदार्थ हैं, वे सब विस्तार के प्रकार हैं। प्रकार का यही अभिप्राय है कि विस्तार या ज्ञान धर्म अमुक रीति या प्रकार से प्रकट या व्यंजित होता है। डेकार्ट ने भी वस्तुतः निरपेक्ष द्रव्य एक ही ईश्वर को माना था; पर जीव और मूर्त पदार्थों को सापेक्ष रूप से पदार्थ माना था। इस प्रकार द्रव्य के सापेक्ष और निरपेक्ष दो भेद न मानकर शुद्ध निरपेक्ष द्रव्य ही मानना उचित है; क्योंकि निरपेक्षता ही द्रव्य का लक्षण है। इसलिये वस्तुतः एक ही द्रव्य है, जो स्वयंभू, अपरिच्छिन्न और अद्वितीय है; क्योंकि यदि वह किसी दूसरी वस्तु से उत्पन्न, किसी वस्तु से घिरा हुआ, या किसी के साथ रहता, तो बिना उस द्वितीय वस्तु के उसका बोध न होता; और सापेक्ष होने से उसकी द्रव्यता जाती रहती। इस स्वयंभू, अपरिच्छिन्न, अद्वितीय द्रव्य के नाम

मे कोई विवाद नही है। जो चाहें सो इसे कहें, पर सामान्यत: ईश्वर शब्द से इसका बोध होता है। यह द्रव्य स्वतंत्र है; क्योकि इसको दूसरे की अपेक्षा नहीं है। पर हाँ, यह अपने ही नियम या नियति के अधीन अवश्य है।

ईश्वर का स्वातंत्र्य यही है कि वह किसी दूसरे के नियमों के अधीन नहीं है। जो वस्तु स्वतंत्र है, उसके कार्यों में आकस्मिकता और अन्य-सापेक्षता दोनों ही सम्भव नहीं। इसलिये अकस्मात् जो चाहे कर बैठने को ही स्वातंत्र्य नहीं समझना चाहिए। ईश्वर शाश्वत, स्वतंत्र और सत् रूप है। जैसे तार्किकों और धार्मिकों ने इच्छा, ज्ञान आदि विशिष्ट व्यक्ति विशेष को ईश्वर समझ रक्खा है, वैसा वह नहीं है; क्योंकि ईश्वर तो वही है जो सर्वगत सामान्य सत्ता है। उसे इच्छादिविशिष्ट पुरुष मानना तो उसे परिछिन्न और अ-स्वतंत्र बना देना है। ईश्वर संसार का कारण है; पर उसकी कारणता सामान्य कारणता के सदृश नहीं है। जिस प्रकार माधुर्य, श्वेतता आदि का कारण दूध है, या वस्त्र का कारण तन्तु है, वैसे ही जगत् का कारण ईश्वर है; अर्थात् यह जगत् ईश्वर का विवर्त है, न कि उसकी सृष्टि है। ईश्वर जगत् का क्षणिक या बाह्य कारण नहीं है, किन्तु ईश्वर वह उपादान और वास्तव सत्ता है, जो समस्त संसार में व्याप्त है।

ईश्वर के अनन्त अपरिमित धर्म हैं, जिनमे से दो मनुष्य के ज्ञान-गोचर हैं। एक तो विस्तार या आकार और दूसरा ज्ञान। पर यह विस्तार और ज्ञान, जिसके कारण ईश्वर जीव रूप और बाह्य-पदार्थ-रूप जान पड़ता है, केवल मनुष्य की कल्पना है* ।

---

* कूनो फिशर का मत है कि स्पाइनोज़ा ने आकार और ज्ञान ये

वस्तुतः ईश्वर निर्गुण और निरुपाधिक है। ईश्वर को निर्गुण मानने का यह कारण है कि यदि ईश्वर में किसी गुण को मानें, तो यह सिद्ध होगा कि ईश्वर में उसके प्रतिकूल धर्म का अभाव है (Omni determenatio est negatio); इसलिये श्रुतियों में ईश्वर के लिये नेति नेति कहा है ❀ ।

मनुष्य की बुद्धि में इच्छा, द्वेषादि गुणों को प्रकाश करता हुआ कभी प्रमाता स्वरूप और कभी साकार मूर्त पदार्थ रूप ईश्वर देख पड़ता है ।

दो ईश्वर के वास्तविक धर्म माने हैं। हेगल और अर्डमैन का कहना है कि स्पाइनोज़ा ने यह माना है कि मनुष्य ने ईश्वर में इन धर्मों की कल्पना कर ली है ।

❀ कबीर साहब के निम्नलिखित शब्दों से यह सिद्धान्त भली भाँति प्रदर्शित होता है—

एक कहौ तो है नहीं दोय कहौं तो गारि ।
है जैसा तैसा रहे, कहै कबीर विचारि ॥

× × × ×

भारी कहूँ तो वहु डरूँ हलका कहूँ तो झीठ ।
मैं क्या जानूँ पीव को नैना कछू न दीठ ॥

× × × ×

रूप सरूप कछू वहँ नाहीं, ठौर ठाँव कछु दीसे नाहीं ।
अरज तूल कछु दृष्टि न आई, कैसे कहूँ सुमारा है ॥

× × × ×

नहिं निरगुन नहिं सरगुन भाई नहिं सूछम अस्थूल ।
नहि अच्छर नहिं अविगत भाई ये सब जग की भूल ॥

वस्तुतः ईश्वर के भिन्न भिन्न स्वरूप नहीं हैं। इसी प्रकार वह सर्वज्ञ है और उसका ज्ञान अनन्त है। पर उसका ज्ञान मनुष्य के ज्ञान के सदृश प्रत्यक्षादि के अधीन और अहंकारमूलक नहीं है; क्योंकि उस के यहाँ अहं और पर का तो भेद ही नहीं है। इसी लिये अनन्त ज्ञान होने पर भी प्रत्यक्षादि वाह्य वस्तु-सापेक्ष ज्ञान-विशिष्ट अहंकार परतंत्र ईश्वर नहीं है, किन्तु शुद्ध, स्वतन्त्र, ज्ञान स्वरूप है, ऐसा समझना चाहिए। जीव और शरीर दोनों एक ही वस्तु के विवर्त हैं; इसी लिये शरीर का असर जीव पर होने से सवेदन होता है और जीव की कृति-शक्ति से शरीर हिलता डोलता है। इसी मत को शरीरात्म सहचार (Psycho-Physical Parellelism) कहते हैं। जिन द्रव्यों को डेकार्ट ने गौण माना था, उन्हीं को स्पाइनोज़ा ने ईश्वर के गुण या धर्म मान लिया; और ईश्वर एक द्रव्य मान लिया। मेलब्रांश ने व्यक्तियों के ज्ञान को ईश्वर के ज्ञान में शामिल कर लिया था; और ज्यूलिक ने एक हिसाब से संसार या मूर्त पदार्थों के संचालन का ईश्वर को एक मात्र कारण मान लिया था। स्पाइनोज़ा ने अपने मत में डेकार्ट और उसके दोनों अनुयायियों के मत का योग कर दिया।

स्पाइनोज़ा का दर्शन डेकार्ट के दर्शन का स्वाभाविक परिणाम था। स्पाइनोज़ा की भाँति रामानुजाचार्य्य ने ईश्वर को चित् और अचित् से विशिष्ट माना है। अन्तर इतना ही है कि स्पाइनोज़ा का ब्रह्म निर्गुण है और श्री रामानुजाचार्य्य ने "हरिः" को सगुण माना है। स्पाइनोज़ा का मत शंकर स्वामी के मत से इस अंश में मिलता है कि स्पाइनोज़ा ने भी शंकराचार्य्य की भाँति अपने ब्रह्म को निर्गुण कहा है (यद्यपि आकार या आयाम

(Extension) को ईश्वर का धर्म मानने से वह निर्गुण नहीं रहता)। जिस प्रकार श्री शंकराचार्य्य एक ही वास्तविक सत्ता और द्रव्य मानते हैं, उसी प्रकार स्पाइनोज़ा भी मानता है। वह एक प्रकार से संसार को ईश्वर का विवर्त मानता है।

गति और स्थिति आकार के रूपान्तर या परिवर्तन हैं और वृद्धि तथा कृति ज्ञान के रूपान्तर हैं। गति और स्थिति, वुद्धि और कृति इन्हीं चारों से ज्ञाता और ज्ञेय स्वरूप समस्त ससार बना है। ये चारो स्वयं नित्य, अनादि और अनन्त हैं; पर तत्तत् व्यक्तियों मे इनके जो विशेष रूप देख पड़ते हैं, उन्ही का परिवर्तन हुआ करता है। अब यहाँ पर एक और विरोध पड़ता है। यदि द्रव्य नित्य और अपरिणामी है, तो परिवर्तन किसका है ? इस शंका का समाधान स्पाइनोज़ा ने किया है। आत्मा और शरीर दोनों समपरिवर्ती और सहचारी हैं; इसलिये प्रत्येक शरीर के लिये आत्मा और प्रत्येक आत्मा के लिये शरीर है। प्राणियों के शरीर में संवेदन होता है। सवेदन शरीर का धर्म है। पर प्रत्यक्ष मन का धर्म है। ज्यों ही शरीर में उत्तेजना होती है, त्यो ही मन में ठीक उसी आकार का प्रत्यक्षानुभव होता है। जो प्रत्यक्ष स्पष्ट नहीं होते, वे भ्रमात्मक भूत पिशाच आदि दृश्यों का खयाल कराते हैं। पर स्पष्ट ज्ञान के द्वारा वस्तुस्थिति यथावत् विदित होती है। जैसे प्रभा अपने को और दूसरी वस्तुओं को भी ग्रहण कराती है, वैसे ही वास्तव ज्ञान अर्थात् प्रभा स्वयं प्रमाण है। उसके बोध के लिये दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। मनुष्य भ्रमपूर्ण कल्पना से ईश्वर आदि को भी अपने ही सा मूर्तियुक्त देखता है और अपने ही को सब वस्तुओं का केन्द्र मानता है।

पर शुद्ध ज्ञान होने पर शाश्वत, अनादि, अनन्त, अपरिच्छिन्न ईश्वर का बोध हो जाता है और सब वस्तुएँ उसी के विवर्त हैं, ऐसा ज्ञान होने लगता है। आकस्मिकता और पदार्थों के अकारण और बिना नियम होने की मनुष्य भ्रम ही से कल्पना कर लेता है। शुद्ध ज्ञान से नियति का बोध हो जाता है और बिना ईश्वर के कुछ नहीं हो सकता, यह तत्व विदित हो जाता है। मनुष्यों को भ्रम है कि ईश्वर अपूर्ण है। ईश्वर किसी प्रयोजन के साधन के लिये और अपने को पूर्ण बनाने के लिये सृष्टि आदि करता है, इत्यादि प्रकार के भ्रम शुद्ध ज्ञान से दूर हो जाते हैं। सर्वव्यापी परा सत्ता केवल ईश्वर है। वह सदा परिपूर्ण है। अपना कारण और अपना प्रयोजन सब वह स्वयं ही है। उसको बाहर के किसी कारण या प्रयोजन की अपेक्षा नहीं। उसकी स्वतंत्र इच्छा ही उसकी क्रियाओं का एक मात्र कारण है।

मनुष्य का यही शुद्ध बोध केवल स्वतंत्र है और सब कुछ प्रकृति के नियम के अधीन है। इसलिये यथालाभ शरीर निर्वाह मात्र से सन्तुष्ट होकर, "जो होना है वही होगा" ऐसा समझता हुआ ज्ञानी पुरुष सर्वदा सुखी रहता है। ईश्वर को सर्वात्मा समझकर ज्ञानी को उसके प्रति वास्तविक प्रेम होता है। जो लोग ईश्वर को सगुण समझकर किसी सांसारिक सुख की इच्छा से उसका आराधन करते हैं, उनका प्रेम सच्चा नहीं है। ज्ञानी के प्रेम में प्रेमकर्त्ता और प्रेम-कर्म दोनों एक हो जाते हैं।

स्पाइनोजा के मत से एक ही द्रव्य ईश्वर है, जिस के दो रूप हैं—शरीर और आत्मा। शरीर साकार और आत्मा निराकार है। प्रतियोगी और अभाव, अन्धकार और प्रकाश ये दोनों एक

कैसे हो सकते हैं ? यही इस मत में विरोध पड़ता है। शरीर या मूर्त पदार्थों में आकार का आभास मात्र है। वस्तुतः यह मूर्त-युक्त होना केवल एक शक्ति है। इसलिये लीब्नीज़ नामक दार्शनिक ने दिखाया है कि मूर्त पदार्थ का, जिसे यथार्थ में शक्ति-मत्पदार्थ कहना चाहिए, ज्ञाता अर्थात् आत्मा के साथ प्रतियोगी और अभाव का सम्बन्ध नहीं है; और यदि प्रमाणों से सिद्ध हो तो उनका अभेद अविरुद्ध है। मूर्तता कोई आकार या प्रादेशिक धर्म नहीं है, किन्तु शक्ति मात्र है; यह बात आधुनिक वैज्ञानिक भी मानते हैं। इसलिये लीब्नीज़ का आविष्कार बड़ा गरिमापूर्ण है, और उसके दर्शन का विचारपूर्वक परिशीलन होना चाहिए।

लीब्नीज़—इसका जीवन स्पाइनोज़ा के सदृश दीनता और दुःख से पूर्ण नहीं था। यह धनी के घर में उत्पन्न हुआ था। इसने स्वयं भी राजकीय कार्य आदि में रहकर सुख-मय जीवन बिताया था। इसका जन्म लीप्सिक नगर में हुआ था। इसका मुख्य ग्रंथ La Monadologic है।

डेमोक्राइटस् ने अनेकवाद की नीव डाली थी, किन्तु उसका अनेकवाद जड़ परमाणुओं का था। लीब्नीज़ ने चेतन परमाणु माने। इनमें से कुछ की चेतनता प्रकट है और कुछ की गुप्त। इसने प्लेटो की भाँति वस्तुओं को अनेक, अनादि और ज्ञान सम्बन्धी माना; किन्तु उनको प्लेटो की भाँति केवल आकार रूप नहीं माना, वरन् अरस्तू की भाँति अपने शक्त्यणुओं को आकारयुक्त पदार्थ माना है। लीब्नीज़ ने स्वयं कहा है कि मेरी बातें समझने के लिये डेमोक्राइटस्, प्लेटो और अरस्तू की बातें समझनी

चाहिएँ। इसने डेकार्ट के परस्पर बिरोधी वस्तुओं के द्वैत बाद को, जो स्पाइनोज़ा के ऐक्य वाद में भले प्रकार न छिप सका था, अपने शक्त्यणुओं में मिला लिया और उसके स्थान में शक्ति रूप एक द्रव्य को स्थापित किया। ये शक्त्यणु अनेक हैं। इन शक्त्यणुओं में रन्ध्र नही है; इसलिये दूसरी किसी वस्तु का असर इन पर नहीं हो सकता। इनमें स्वयं कार्य ज्ञान आदि की शक्ति है।

डेकार्ट और उसके अनुयायियों ने आत्मा और भौतिक पदार्थों का पार्थक्य बहुत ही बढ़ा दिया था; और उस पार्थक्य के कारण वे लोग नाना प्रकार की कठिनाइयों में पड़ गए थे। लीब्नीज़ ने इस बात पर विचार किया कि क्या यह पार्थक्य वास्तव है। यह पार्थक्य दोनो पदार्थों के डेकार्ट द्वारा प्रतिपादित विरोधी धर्मों के कारण है। यह धर्म मुख्य नहीं है। आत्मा में सोते जागते और मूर्च्छा में हर समय ज्ञान नही रहता; इसलिये आत्मा को सर्वथा ज्ञान स्वरूप नही कह सकते। शरीर को केवल विस्तार स्वरूप भी नही कह सकते; क्योंकि यदि शरीर बिस्तार रूप ही है, तो उसमें गुरुत्व रोधन आदि की शक्तियाँ कैसे हैं? इसलिये वस्तुतः कार्य शक्ति ही स्थिति का लक्षण है। प्रदेश में विस्तार, गुरुत्व आदि सभी इसी कार्य शक्ति के फल हैं। विस्तार शक्ति की अपेक्षा करता है, न कि शक्ति विस्तार की। वह कार्य शक्ति किस वस्तु में है, यह ज्ञान मनुष्य को कभी नही हो सकता। उस शक्ति के कार्यों से उसकी पारमार्थिकता का अनुमान होता है। ऐसे ही ज्ञान भी उसी शक्ति का कार्य है। पर यह शक्ति स्पाइनोज़ा के द्रव्य की सी एक नहीं है। सभी चित् और सभी

सांसारिक पदार्थ स्वयं शक्तिशाली हैं। उनके कार्य पृथक् देख पड़ते है; इसलिये शक्तियाँ अनन्त हैं। शक्ति के जितने केन्द्र या अणु हैं, उतनी ही पृथक् शक्तियाँ हैं। प्रत्येक शक्त्यणु स्वतंत्र, गवाक्षहीन और समस्त जगत् का संक्षिप्त रूप है। इन शक्त्यणुओं में परस्पर समान-भावना पहले ही से चली आती है; इसी से एक दूसरे के अनुसार चलता हुआ जान पड़ता है। शक्त्यणु में इच्छा, ज्ञान, कृति सभी स्वाभाविक हैं; इसलिये ये सब अणु आत्म रूप हैं।

बाह्य पदार्थ भी एक नीचे प्रकार के अणु हैं। सब शक्त्यणु एक शक्ति और गुणवाले नहीं हैं। नीची श्रेणी के अणुओं की शक्तियाँ गुप्त रहती हैं। मनुष्य के और बाह्य पदार्थों के शक्त्यणुओं में इतना अन्तर है कि मनुष्य में शक्त्याणु का एक केन्द्र रूप मुख्य अणु रहता है जो और अणुओं को संघटित रखता है। बाह्य पदार्थों के अणुओं में ऐसा संघटन नहीं है।

इसके अतिरिक्त मनुष्यों की आत्मा मे और अन्य वस्तुओं मे इतना और भेद है कि मनुष्य की आत्मा को स्पष्ट आत्म-ज्ञान है और अन्य पदार्थों में अस्पष्ट वेदना मात्र है।

यद्यपि ये शक्त्यणु गवाक्षहीन हैं और बाह्य वस्तुओं का प्रवेश इनमे नहीं हो सकता, तथापि और वस्तुओं मे जो कार्य होता है, वह सब प्रत्येक शक्ति-केन्द्र में भी वैसा ही प्रतिबिम्बित होता है; अर्थात् यद्यपि वस्तुतः प्रत्येक शक्ति-केन्द्र अपने अतिरिक्त और कुछ नहीं देख सकता, तथापि प्रत्येक मे और सब के कर्मों के समान ही कार्य होता रहता है। इसलिये अपने को देखना सब वस्तुओं के देखने के तुल्य है। परन्तु सब शक्ति-केन्द्र एक प्रकार के नहीं हैं। किसी में संसार का प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है, किसी

में अस्पष्ट; अर्थात् कुछ शक्ति-केन्द्र स्वच्छ और उत्तम है, कुछ अस्वच्छ और मलिन हैं। उत्तम की आज्ञा में अधम केन्द्र रहा करते हैं। शारीरिक शक्ति-केन्द्रों में जैसे कार्य होते हैं, उन्हीं के समान कार्य आत्म केन्द्र में भी होता रहता है; क्योंकि दोनों में पूर्व स्थापित एकतंत्रता (Pre-established Harmony) है। जैसे दो घड़ियाँ ऐसे चलाई जायँ कि दोनों ठीक एक ही समय बतलावें, वैसे ही आत्म केन्द्र और शरीर केन्द्र दोनों ही समान भाव से चलते हैं। ईश्वर ने एक ही बार दोनों को ऐसा चला दिया है कि बराबर एक भाव से दोनों चल रहे हैं; उन्हें बार बार चलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

शक्त्यणु में उत्कर्ष और अपकर्ष होने के कारण एक शक्ति केन्द्र सब से उत्तम है और दूसरा सब से निकृष्ट है, जिनके बीच में असंख्य केन्द्र हैं। सब शक्त्यणु शाश्वत, अनादि और अनन्त हैं। शरीर शक्ति केन्द्रों ही का कार्य विशेष है, यह पहले कह आए हैं। इसलिये कभी कोई शक्त्यणु निःशरीर नहीं है। पर सशरीरत्व को आत्मा का बन्धन नहीं समझना चाहिए; क्योंकि आत्मा की शक्ति का आभास मात्र शरीर है; वह कोई पृथक् पदार्थ नहीं है जिससे आत्मा बद्ध हो।

शक्ति केन्द्रो मे सर्वदा परिणाम होता रहता है। इसी परिणाम को जीवन कहते हैं। मृत्यु इसी परिणाम की एक विशेष अवस्था है। प्रत्येक शक्ति केन्द्र में एक परिणाम भूतपूर्व दूसरे परिणाम के अधीन है; इसलिये अकस्मात् उन्नति या अवनति नहीं हो सकती। प्रत्येक शक्तिकेन्द्र अपनी ही पूर्वावस्थाओं से नियत है; वह किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता।

सब से उत्तम शक्ति-केन्द्र ईश्वर है। सब वस्तुओं का स्वयं पूर्ण स्वरूप अन्य-निरपेक्ष कोई कारण अवश्य होना चाहिए। वही सर्वकारण सब शक्त्यणुओं का भी शक्त्यणु (Monad of Monads) ईश्वर है। मनुष्य की बुद्धि प्रकृति में सर्वोत्तम है, तथापि उसमें ईश्वर के पूर्ण बोध की सामर्थ्य नहीं है।

मनुष्य की बुद्धि में ईश्वर का कुछ कुछ अस्पष्ट आभास हुआ करता है। ईश्वर अप्राकृत है और मनुष्य की बुद्धि से सर्वथा ग्राह्य नहीं है; तथापि उधर प्रवृत्ति करते करते मनुष्य की ईश्वर तक पहुँच हो सकती है। ईश्वर के न्याय, नियम आदि से यह सम्पूर्ण ससार चल रहा है। यद्यपि परमेश्वर स्वतंत्र है, तथापि उसने ऐसे नियम बना दिए हैं कि उन्ही के अनुसार संसार की प्रवृत्ति है और उन नियमो मे परिवर्तन नहीं होता।

जर्मनी में लीब्नीज़ के अनुयायी ज़ीर्न हासेन, प्युफेन्डार्फ, टामोसियस्, वुल्फ आदि बहुतेरे हुए और काएट के दर्शन के आविर्भाव तक इसका दर्शन खूब प्रचलित रहा। इन दार्शनिको में क्रिस्टियन वुल्फ मुख्य था। इसका जन्म ब्रेस्लाव नगर में हुआ था। इसका मुख्य उद्देश्य सर्व साधारण में दार्शनिक तत्वों का प्रचार करना था। इसके धर्म, आचार आदि सम्बन्धी जनप्रिय लेखों से जर्मनी मे दर्शन का अच्छा प्रचार हुआ।

यद्यपि बेकन और डेकार्ट दोनों ने अपरीक्षित विश्वासों का तिरस्कार किया, परन्तु दोनों ही भिन्न भिन्न मार्गों से निश्चयता की ओर चले। बेकन बाहर से अंदर की ओर गया और उसने इन्द्रिय ज्ञान को यथार्थ ज्ञान का साधक समझा। ज्ञान बाहर से अंदर आता है। इस प्रकार वह अनुभव वाद का जन्मदाता

हुआ। उसके अनुभव वाद की न्यूनता ह्यूम के विचारों में पूर्णतया प्रकट हो गई। डेकार्ट अंदर से बाहर आया। पहले उसने अपनी सत्ता का निश्चय किया। बस विचारों की स्पष्टता सत्य की कसौटी हो गई।

अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान गणित शास्त्र की सी निश्चयता को न पहुँच सका। अनुभव से स्वतंत्र ज्ञान बिल्कुल दृढ़ और निश्चित समझा गया। मन कोरी तख्ती नहीं समझा गया। बुद्धि के सहज विचारों को निश्चयता की सनद मिली। यह पथ बुद्धिवाद (Rationalism) नाम से प्रख्यात हुआ। इस मत का परिणाम लीब्नीज़ और वुल्फ में हुआ। लौक ने बेकन का अनुसरण करते हुए यह सिद्धान्त निश्चित किया था कि हमारे ज्ञान में कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो इन्द्रियों द्वारा न प्राप्त हुई हो। इस पर लीब्नीज़ ने कहा था कि और सब तो ठीक है, किन्तु अनुभवजन्य ज्ञान से भी पूर्व हमारी बुद्धि और उसके विचार मौजूद थे। इन दोनों विचार-प्रवाहों का योग जर्मनी के सुप्रख्यात दार्शनिक काण्ट (Kant) में हो गया और दर्शन शास्त्र ने एक प्रकार से नया जीवन प्राप्त किया। अनुभववाद का कहना था—"There is nothing in the intellect that does not come through the senses" इसमें लीब्नीज़ ने जोड़ा—"Exept the intellect itself"

* अर्थात्—बुद्धि में कोई ऐसी बात नहीं है जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त न हुई हो। इस पर लीब्नीज़ ने इतना और कहा—पर स्वयं बुद्धि इसमें शामिल नहीं है; अर्थात् बुद्धि इन्द्रिय ज्ञान से पहले है।

दूसरा अध्याय

ब्रिटिश अनुभववाद और उसका अन्तिम फल

लॉक—जॉन लॉक का जन्म इंगलैण्ड के रिंगट नामक नगर में हुआ था। इसने पहले वैद्यक का अभ्यास किया। एक तो पहले ही से इंग्लैण्ड-निवासियों का परीक्षा और अनुभव की ओर अधिक ध्यान था; दूसरे वैद्यक के अभ्यास से लॉक को प्राचीन दार्शनिको की रीति सर्वथा असंगत मालूम हुई। आँखें मूँद कर सृष्टि और ईश्वर आदि के विषय मे मनमानी कल्पना करना दार्शनिक का काम नहीं है। दर्शनो की विफलता देखकर इसका यह विचार हुआ कि किसी ज्ञान को यथार्थ या अयथार्थ बतलाने से पूर्व हमको अपने ज्ञान का आधार और उसकी सीमाएँ निश्चित कर लेनी चाहिएँ। हमारा ज्ञान कहाँ से आता है और कहाँ तक उसकी पहुँच हो सकती है, यह जानकर ही हम कह सकते हैं कि कौन सा ज्ञान ठीक है और कौन सा नहीं।

बाह्य पदार्थों के अनुभव से मनुष्य को ज्ञान होता है। हमारे ज्ञान में कोई बात ऐसी नहीं है जो इन्द्रियों के संवेदन से न प्राप्त हुई हो।

अपने ग्रंथ मे, जिसका नाम "मानव बुद्धि पर एक प्रबन्ध" (Essay on Humam Understanding) है, लॉक ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि ज्ञान मनुष्य में सहज नहीं है, वरन् वह उसे बाह्य वस्तुओं के अनुभव से प्राप्त है। डेकार्ट, लीब्नीज़ आदि

दार्शनिकों ने कहा है कि मनुष्य को अनेक ज्ञान पहले ही से हैं: पर उसको इनके होने का बोध नहीं है। ऐसे कथन में वदतोव्याघात दोष है। इसके अतिरिक्त यदि यह माना जाय कि बिना जाने हुए हमको सहज ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो सहज और अनुभव-जन्य ज्ञान की किस प्रकार परीक्षा हो सकती है? इसलिये यही कहना ठीक है कि बिना बाह्य पदार्थों के अनुभव के मनुष्य को ज्ञान नहीं हो सकता। नीति, धर्म, आचार आदि किसी विषय का ज्ञान ऐसा नहीं है, जो मनुष्य के मन में जन्म ही के समय से हो। सब ज्ञान शिक्षा के अधीन हैं।

लॉक का कहना है कि यदि कोई ज्ञान सहज है, तो बच्चों और जंगली लोगों में वह ज्ञान अवश्य होना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि वे सहज विचार पहले थे, पर अब अज्ञान, कुशिक्षा आदि के कारण उनका तिरोभाव हो गया है, तो ऐसे कथन में उन विचारों की विश्वव्यापकता में बाधा पड़ती है। डेकार्ट ने ईश्वर का विचार सहज माना है; किन्तु ऐसी बहुत सी जातियाँ हैं, जिनमें यह विचार वर्तमान नहीं है। और यदि यह भी मान लिया जाय कि यह भाव सब जातियों और मनुष्यों में एक रूप से वर्तमान है, तो भी यह इस विचार के सहज होने की कोई युक्ति नहीं; क्योंकि सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि का विचार सभी के मन में है, किन्तु यह विचार सहज नहीं है। ईश्वर की शक्ति और कार्य-भाव देखकर मनुष्य ईश्वर का अनुमान कर सकता है। ईश्वर के विचार को सहज मानने की कोई आवश्यकता नहीं। सहज विचारवादी लोगों का इस विषय में केवल इतना ही कहना है कि कारण आदि विचारों को कोई अनुभव से सिद्ध नहीं कर

सकता; और प्रत्येक विचार या अनुमान मे इनको पहले ही से मानना पड़ता है। पर इससे उनका यह मतलब नहीं कि यह विचार गढ़े गढ़ाए रूप में हमारे मन में हैं; बल्कि इनका अस्तित्व संस्कार रूप से रहता है। मन सादे कागज (Tabula rasa) के समान है। अनुभव से पूर्व हम मे कुछ नहीं होता।

प्रत्यक्ष सब ज्ञान का मूल है। लॉक ने मुख्य ज्ञान दो प्रकार का माना है। बाह्य संवेदन से बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है; और चिन्तन या अनुशीलन से मानस या आन्तरिक वस्तुओ का ज्ञान होता है। अनुशीलन भी स्मृति रूप है। जो वस्तु पहले संवेदन से ज्ञात होती है, उसी का पीछे अनुशीलन होता है। इसलिये सवेदन अर्थात् ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष ही मानस प्रत्यक्ष का भी मूल है। इसी से ज्ञान उत्पन्न होता है। मन में अनेक संवेदनो को जोड़ने घटाने आदि की शक्ति है; इसलिये प्रत्यय दो प्रकार के हैं— साधारण या शुद्ध (Simple) और मिश्र (Complex)।

शुद्ध प्रत्यय या विचार वे हैं जो हम को इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं–चाहे वह इन्द्रिय एक हो (जैसे गंध, रंग आदि प्रत्यय केवल एक ही इन्द्रिय द्वारा प्राप्त होते हैं) चाहे अनेक (जैसे विस्तार का विचार नेत्र और स्पर्श दोनों के द्वारा प्राप्त होता है)। मिश्रित वे है जो न तो शुद्ध संवेदन और न शुद्ध अनुशीलन या मनन द्वारा प्राप्त हुए हैं, वरन् दोनों के योग से हुए हैं। ऐसे विचार या प्रत्यय विशेषकर प्रत्याहार सम्बन्धी हैं। ये मिश्रित प्रत्यय असंख्य हैं; किन्तु ये तीन संज्ञाओं में विभक्त हो सकते हैं—(१) प्रकार (Modes) एक शुद्ध या अमिश्रित; जैसे सफेदी, या सीधापन; और दूसरे मिश्रित; जैसे सौन्दर्य्य। (२) द्रव्य (Substance) से आत्म

द्रव्य और प्राकृतिक द्रव्य दोनों ही का अर्थ है। और (३) सम्बन्ध (Relation) जैसे निकट, दूर, छोटा, बड़ा इत्यादि। यहाँ यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जिनके प्रत्यय या बोध चित्त में होते हैं, उनके सदृश गुण बाह्य वस्तुओं में हैं, ऐसा समझना चाहिए। मन में रूप आदि का जो बोध होता है, उस बोध को प्रत्यय कहते हैं; और वस्तु में उन प्रत्ययों के प्रयोजक जो धर्म हैं, उन्हें गुण कहते हैं; अर्थात् प्रत्यय चित्तगत हैं और गुण बाह्य वस्तुगत हैं। गति, आकार, विस्तार आदि द्रव्य के वास्तव या मुख्य गुण (Primary Qualities) हैं। अन्तःकरण में इनका जैसा भान होता है, वस्तु में भी वैसे ही ये हैं; पर वर्ण, रस आदि केवल इन्द्रियों के सम्बन्ध से विदित होते हैं। इस कारण इनको गौण गुण (Secondary Qualities) कहा है *। मुख्य गुणों का प्रायः एक से अधिक इन्द्रियों द्वारा बोध होता है। गौण गुणों का बोध केवल एक ही इन्द्रिय द्वारा होता है। ये वास्तव गुण बाह्य द्रव्य के नहीं है। जैसे सूई गड़ाने से जन्तु को दुःख होता है; पर वस्तुतः सूई में दुःख नहीं है, केवल दुःख-प्रयोजक कुछ तीक्ष्णता, कठिनता आदि गुण हैं। इसी प्रकार रस आदि बोध-प्रयोजक गुण रसादि से भिन्न कुछ दूसरे प्रकार की उन उन वस्तुओं में भी वर्तमान हैं। जो वस्तु पूर्ण हरी या लाल देख पड़ती है, वही सूक्ष्म दर्शन के द्वारा जब उसके दाने अलग हो जाते हैं, सफेद मालूम होने लगती है। इसी

---

* नैयायिकों ने इसी से मिलता जुलता गुणों का एक विभाग किया है—द्वीन्द्रिय ग्राह्य और एकेन्द्रिय ग्राह्य। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व आदि द्वीन्द्रिय ग्राह्य कहे गए हैं; क्योंकि इनका त्वचा और चक्षु दोनों से सम्बन्ध है। एकेन्द्रिय-ग्राह्य में रुप, रस, गंध आदि रक्खे हैं।

से वर्ण आदि गुण इन्द्रियाधीन हैं, न कि वस्तु के अधीन; क्योंकि वर्ण, रस आदि गुण यदि वस्तु के अधीन होते, तो सदा एक से अनुभव में आते। संख्या, परिमाण आदि मुख्य गुण वास्तव है। ये जैसे वस्तु में हैं, वैसे ही दिखाई पड़ते हैं। रूप, रस, गंध आदि गुणों का आधार मुख्य गुणों मे है। किन्तु वे वास्तव में जैसे हम को दिखाई पड़ते हैं, वैसे नही हैं। उनका दिखाई पड़ना हमारे मन के आश्रित है। यदि स्वाद का चखनेवाला न हो, तो रस और गंध वस्तु का ज्ञान ही न होगा। वस्तुवादी लोगो ने (जैसा कि आगे चलकर मालूम हो जायगा) यह भेद नही माना है। इस विषय में हिन्दू दर्शन शास्त्र भी वस्तु-वादियों से सहमत हैं। गौण गुणों से समानता रखनेवाले विशेष गुणों का अस्तित्व मन पर निर्भर नही है। इन्द्रियों का भूतों से सम्बन्ध होने के कारण वस्तु में रूप, रस, गंधादि गुण हैं। ये वस्तु के ही गुण माने गए हैं।

यदि मनुष्य के ज्ञान की परीक्षा की जाय, तो देखने मे आवेगा कि मनुष्य मे संवेदन, धारण, स्मरण, भेद प्रत्यय, तारतम्य-बोध और प्रत्याहरण या विवेचन की शक्तियाँ है। सवेदन के द्वारा रूप आदि का अनुभव होता है। धारण के द्वारा यह अनुभव कुछ काल तक मन में ठहरता है। स्मरण से उसका पुनरुज्जीवन होता है। भेद-बोध के कारण मनुष्य उससे या एक रूप को रूपान्तर से भिन्न समझ सकता है। एक रूप का दूसरे रूप से कितना भेद और कितनी समता है, इसी के बोध को तारतम्य बोध कहते हैं। ये सब शक्तियाँ केवल मनुष्य में ही नही, पर छोटे जन्तुओं में भी हैं। किन्तु अन्तिम शक्ति अर्थात्

प्रत्याहरण शक्ति (Abstraction) केवल मनुष्यों ही मे है। इस शक्ति के द्वारा सामान्य प्रत्यय बनते है। जातिबोध इसी शक्ति से होता है। सब वृक्षों में एक वृक्षत्व जाति है; और यही समान धर्म होने के कारण सभी का वृक्ष नाम पड़ा है। यह बोध अन्य जन्तुओं को नहीं हो सकता। इसी विशेष शक्ति को प्रत्याहरण शक्ति कहते हैं। इन संवेदन, धारण आदि व्यापारो में चित्त पहले बाह्य वस्तुओं के अधीन है। पर आगे की शक्तियों में क्रम से मन स्वतंत्र होता है और अपनी कार्य-क्षमता प्रकाशित करता जाता है। अनन्त शाश्वत वस्तु का अनुभव इन्द्रियों से नही होता; इसलिये कुछ लोग समझते हैं कि मन में ही अनुभव-निरपेक्ष ये बोध, विचार या प्रत्यय हैं। पर ऐसा समझना भ्रम है; क्योकि अनन्त, अनादि, अनश्वर आदि प्रत्यय केवल अभाव स्वरूप हैं, वास्तव भाव रूप नहीं हैं। चित्त में ऐसी शक्ति है कि जहाँ तक चाहे, किसी वस्तु, देश, काल आदि का प्रसार करता जाय। वस्तुतः परिच्छिन्न देश और काल ही चित्तगोचर हैं; पर इस परिच्छिन्न देश काल में मन और और देश-काल जोड़ता जाता है; इसी से अनन्त और शाश्वत प्रत्यय का आभास होता है।

लॉक ने यद्यपि सहज ज्ञान सम्बन्धी अनन्त या शाश्वत का विचार वास्तविक नही माना है, तथापि एक ऐसा द्रव्य (Substance) जिसमें मुख्य गुण रहते हैं और जिससे वे प्रकट होते हैं, माना है। इस सम्बन्ध मे उसका कथन है कि यह बात तो माननी ही पड़ेगी। यह अर्थापत्ति की भाँति बुद्धि सम्बन्धी आवश्यकता है। लॉक ने भारतीय पौराणिकों की एक स्थल पर यह कहकर हँसी उड़ाई है कि इन लोगों के मत से पृथ्वी शेषनाग या दिग्गज पर और दिग्गज कच्छप

पर है। यदि इन लोगों से पूछा जाय कि कच्छप किस पर है, तो इसका ठीक जवाब नहीं मिलेगा। किन्तु लॉक साहब इस द्रव्य को मानकर स्वयं हास्यास्पद बन गए हैं। यदि उनसे पूछा जाय कि गौण गुण किस आधार पर है, तो उसका उत्तर मिलता है कि मुख्य गुणों के आधार पर, और मुख्य गुण द्रव्य के आधार पर हैं। किन्तु स्वयं द्रव्य का कोई आधार नहीं बतलाया जायगा।

बर्कले ने इस द्रव्य का भली भाँति खण्डन किया है।

मनुष्य की कृति शक्ति (Will) सुख के अधीन है; इसलिये मनुष्य की कृति शक्ति स्वतंत्र है या नहीं, यह प्रश्न निरर्थक है। अब प्रश्न यह रहा कि ज्ञान किसे कहते हैं। दो या अनेक प्रत्ययों में सम्बन्ध या विरोध का जो अनुभव है, उसी को ज्ञान कहते हैं। यद्यपि मनुष्य को साक्षात् अनुभव अपने ही प्रत्ययों का और उनके पारस्परिक सम्बन्धो का है, तथापि कितनी ही वस्तुएँ तर्क से निश्चित होती हैं। हमारे प्रत्यय की प्रयोजक बाह्य वस्तुएँ अवश्य हैं। नहीं तो शुद्ध आन्तर स्वप्न आदि के ज्ञान में और वस्तु ज्ञान में कोई विशेष न होता; और मन के लड्डू से वैसी ही तृप्ति होती, जैसी असली लड्डुओं से होती है।

इसी प्रकार एक इन्द्रिय से जिस वस्तु का ज्ञान होता है, यदि उसकी बाह्य स्थिति में सन्देह हो, तो दूसरी इन्द्रिय से निश्चय कर लेते हैं। जैसे सामने दीवार है या योंही भ्रम है, यदि यह संशय नेत्र कृत ज्ञान में हो, तो स्पर्श से निश्चय कर लेते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों की बाह्य वस्तु सूचना मे एकता देखकर भी बाह्य वस्तुओं की स्थिति निश्चित होती है। पर यह बाह्य वस्तु कैसी है, इसका निश्चय नहीं हो सकता। ऐसे ही आत्मा,

ईश्वर आदि का भी मनुष्य को जो ज्ञान है, उसके विषय में इतना ही कह सकते हैं कि आत्मा की और ईश्वर की स्थिति है। विशेष परीक्षा केवल प्रत्यक्षानुभूत प्रत्ययों की ही हो सकती है। इसलिये आत्मा, ईश्वर आदि अप्रमेय विषयों का चिन्तन छोड़कर मनुष्य को उन्हीं के ज्ञान के लिये प्रयत्न करना चाहिए, जिनका अनुभव और परीक्षा हो सकती है।

लॉक ने डेकार्ट प्रतिपादित तीनों निश्चयों को माना है। जीव, ईश्वर और जगत् तीनों ही सत् हैं। मनुष्य की चेतनता के विषय में इसके विचार कुछ अस्थिर से हैं। कहीं कहीं इसने यह भी लिखा है कि सम्भव हो कि ईश्वर ने चेतनता को मैटर या जड़ प्रकृति में एक विशेष गुण रूप से लगा दिया हो। लॉक के देहात्म वाद सम्बन्धी (Materialistic) विचार उसके ईश्वर वाद में छिप गए हैं। वास्तव में देहात्म वाद को लॉक का स्थिर सिद्धान्त नहीं कह सकते। जहाँ कहीं उसे डकार्ट की समस्या ने अधिक तंग किया, वहाँ उससे बचने के लिये देहात्म वाद को सम्भावना मात्र कहा है; और फिर भी वह देहात्म वाद ईश्वर के अधीन है।

लॉक के आचार सम्बन्धी विचारों में भी अनुभव वाद भरा हुआ है। सुख की इच्छा और दुःख से बचने की प्रकृति ये मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृतियाँ (स्वाभाविक ज्ञान नहीं) हैं। अनुभव में जिन कार्यों से सुख होता है, वे अच्छे समझे जाने लगे और जिन से दुःख होता है, वे बुरे। यही प्राकृतिक नियम है और यही ईश्वरी नियम। लॉक के अनुभव वाद में ईश्वर वाद लगा हुआ है। इसके मत से ईश्वर भी उन्हीं कामों को

भला समझता है, जिनके करने से कर्ता को सुख और समाज की स्थिति हो; इसलिये ईश्वर की इच्छा के अनुकूल चलना ही धर्म है।

राजनीतिक विज्ञान में लॉक राजाओं का अधिकार ईश्वरीय अधिकार (Divine Right) नहीं मानता। इसके मत से राज्य एक प्रकार से शासित और शासकों का निबन्ध है। इससे दोनों का हित है और दोनो ही इसके पालन के लिये एक दूसरे को मजबूर कर सकते हैं। हॉब्स और लॉक की राजनीतिक कल्पना में इतना भेद है कि हॉब्स ने मनुष्य को स्वभाव से संघर्षण-प्रिय माना है और लॉक ने स्वभाव से शान्ति-प्रिय माना है।

बर्कले—जॉर्ज बर्कले का जन्म आयर्लैण्ड में हुआ था। यह बहुत दिनों तक क्लोयिन् नगर का प्रधान पादरी (Bishop) था। इसका मुख्य ग्रंथ "मनुष्य के ज्ञान का तत्व" (Treatise on the Principles of Human Knowledge) है।

बर्कले ने अपने दर्शन से ईश्वर वाद की बड़ी पुष्टि की। यद्यपि इसका दर्शन लॉक के सिद्धान्तो का स्वाभाविक फल था, तथापि इसने आधुनिक दर्शन शास्त्र में बड़ा भारी परिवर्तन किया है।

बर्कले ने लॉक की अनुभव वाद सम्बन्धी भित्ति को मानकर अपने दर्शन शास्त्र की रचना की। इसके दर्शन का एक भाग खण्डनात्मक और दूसरा मण्डनात्मक है। देहात्म वाद का मुख्य आधार लॉक के माने हुए मन से स्वतंत्र भौतिक द्रव्य में है। बर्कले ने अनुभव वाद के आधार पर इसी भौतिक द्रव्य के विरुद्ध आपत्ति की है। स्वयं लॉक का भी इस विषय में यह कहना है कि

इस द्रव्य का ज्ञान स्पष्ट तौर से किसी को नहीं होता। इस पर बर्कले का कहना है कि यदि वह जाना जा सकता है तो गुणों ही के द्वारा जाना जा सकता है। हम गुणों से बाहर नहीं जा सकते। और फिर जब द्रव्य में गुण नहीं रहते, तब वह क्या रह जाता है? यदि खरिया में से सफेदी, आकार, विस्तार, भारीपन, चिकनाहट आदि सब गुण किसी प्रकार से निकाल लिए जायँ, तो क्या रह जायगा? यदि कुछ रह जाय तो उसके भी कुछ गुण होंगे। और यदि गुण नहीं, तो वह ज्ञान मे ही नहीं आ सकती। यह बात असम्भव है कि कोई वस्तु हो और ज्ञान में न आ सके। ज्ञान में आना ही वस्तु की सत्ता है। सत्ता दृष्टि है (Esse est pericipi)। वस्तु के गुण यदि हमको कहीं अलग अलग मिलते हैं, तब तो हमको यह आवश्यकता प्रतीत हो सकती है कि इनका योग करानेवाली इन से भिन्न कोई वस्तु होनी चाहिए। लेकिन हमको कोई गुण अलग नही मिलता। न रंग बिना विस्तार के दिखाई पड़ता है और न विस्तार बिना रंग और गुरुत्व के। बर्कले ने इस भौतिक द्रव्य का भली भाँति खण्डन किया है। बर्कले से पूछा जा सकता है कि यदि भौतिक द्रव्य नहीं है, तो उसका विचार या प्रत्यय मन में कहाँ से आया? इसके उत्तर में बर्कले का कथन है कि यह एक मानसिक भूल है कि वास्तव में सामान्य या जातिबोध नही हो सकता; तो भी प्रत्याहार (Abstraction) द्वारा ऐसे जातिबोध बनाए जाते हैं। उसका कहना है कि यदि हम किसी सामान्य की कल्पना करना चाहें, तो नहीं कर सकते; क्योंकि जहाँ पर हम कल्पना करेंगे, वहाँ वह कोई न कोई व्यक्ति हो जायगा। यदि हम किसी साधारण

दावात की कल्पना करें, तो वह किसी न किसी प्रकार की दावात होगी; और वही पर उसकी व्यक्तिता आ जायगी। ऐसे मनुष्य की कोई कल्पना नहीं कर सकता जिसमें न कोई ख़ास लम्बाई हो, न ख़ास चौड़ाई हो, न ख़ास रंग हो और न ख़ास रूप हो। जिस साधारण मनुष्य की कल्पना की जायगी, वह किसी न किसी आकार और प्रकार का मनुष्य होगा। यदि बर्कले से पूछा जाय कि साधारण नाम किस प्रकार बन गए, तो उसका कहना है कि साधारण नाम के अनुकूल कोई विचार नहीं है, किन्तु व्यक्ति ही अपनी जाति का प्रतिनिधि हो जाता है। सब नाम जाति के प्रतिनिधि स्वरूप व्यक्तियों के हैं। बर्कले ने इस विषय में पूरा पूरा नाम वाद (Nominalism) प्रकट किया है।

इसी प्रकार हम गुण-रहित भौतिक द्रव्य की भी कल्पना नहीं कर सकते। किसी ऐसी वस्तु के मानने से क्या लाभ जिसकी न हम कल्पना कर सकें, जो न हमारे ज्ञान में आ सके और न जिससे कोई कार्य सधे ? हमारा सब कार्य और विचार वस्तु के गुणों के आधार पर होता है। जब कोई वैज्ञानिक किसी प्रकार का वैज्ञानिक सिद्धान्त निकालता है, तब गुणों के ही सम्बन्ध में निकालता है, भौतिक द्रव्य के सम्बन्ध में नहीं। उदाहरणार्थ जब किसी पदार्थ को गरम किया जाता है, तब उसका विस्तार बढ़ता है। गर्मी और विस्तार दोनों गुण हैं; और इन्हीं का सम्बन्ध बतलाया जाता है, न कि भौतिक द्रव्य का। बर्कले का मुख्य सिद्धान्त यह है कि मन या विचार से स्वतंत्र कोई पदार्थ नहीं है। गौण गुणों (Secondary Qualities) का अस्तित्व लॉक भी मन के आधार

पर मानते हैं। मुख्य गुणो को लॉक ने स्वतंत्र माना है; पर यह स्वतंत्रता भी परीक्षा के आलोक मे नष्ट हो जाती है। यदि विस्तार को हम मुख्य मानें, तो उसका परिमाण स्थिर नहीं है। वही पदार्थ दूर से बड़ा और नजदीक से छोटा ज्ञात होता है। फिर वास्तविक विस्तार क्या है? बर्कले ने अपनी दृष्टि सम्बन्धी कल्पना (Theory of Vision) के अनुकूल दूरी (Distance) के विचार को नेत्र के प्रयत्न सम्बन्धी संवेदन का फल बतलाया है। इसलिये दूरी और आकाश भी मन से स्वतंत्र नहीं है। गुरुत्व का भी परिमाण ठीक नहीं है; क्योंकि यदि कोई वस्तु पृथ्वी के केन्द्र पर तौली जाय, तो उसका बोझ शून्य होगा। ये सब शारीरिक और ऐन्द्रिक प्रयत्न के संवेदन के फल हैं।

यदि बर्कले से पूछा जाय कि हमारे मन मे जो विचार या संवेदन हैं, उनका कोई कारण है या नहीं, तो इसके उत्तर में बर्कले का यह कहना है कि पहले तो कारण की कोई आवश्यकता ही नहीं; और यदि कारण माना भी जाय तो वह भी प्रत्यय ही होगा।

जिस वस्तु की हमारे प्रत्यय नकल हैं, वह प्रत्यय ही हो सकती है। इसलिये प्रत्ययों की ही वास्तविक सत्ता है। बर्कले का प्रत्यय वाद (Idealism) अवश्य है, किन्तु उसमें वस्तुवाद (Realism) भी लगा हुआ है। हमारा ज्ञान मिथ्या नहीं है। सब पदार्थ वास्तविक हैं। वे जैसे दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही हैं। बर्कले और सामान्य लोगों में भेद इतना ही है कि बर्कले इन वाह्य पदार्थों को शरीर से वाह्य मानता है, किन्तु मन से बाहर नहीं। शरीर भी मन के भीतर ही है।

बर्कले से पूछा जा सकता है कि यदि सब वस्तुओ का अस्तित्व

उनके देखे जाने पर ही निर्भर है, तो क्या रात्रि मे या हमारी अनुपस्थिति में हमारे कमरे की वस्तुओ का अभाव हो जाता है ? क्या जंगल के पदार्थ, जिनको कोई नहीं देखता. असत् हैं ? बर्कले का इस विषय मे यह कथन है कि देखे जाने का यह अभिप्राय नही है कि मैं या और कोई विशेष व्यक्ति ही उस पदार्थ को देखे, वरन् यह अभिप्राय है कि कोई ज्ञाता उसे देखता हो। हमारी अनुपस्थिति मे सर्वज्ञ ईश्वर के ज्ञान में वे पदार्थ रहते हैं और इसी मे उनका अस्तित्व और वास्तविकता है। सब पदार्थों की वास्तविकता ईश्वर के ज्ञान में है।

बर्कले ने भौतिक द्रव्य के स्थान मे चेतन ईश्वर को रख दिया है। ईश्वर के अस्तित्व का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि सब पदार्थों की गति का मूल चेतन संकल्प मे है; और बहुत से ऐसे पदार्थ हैं, जिनकी गति का कारण मनुष्य नहीं है। अतः उनकी गति का कारण मनुष्येतर चेतन संकल्पवाला पदार्थ होना चाहिए; और वही ईश्वर है।

बर्कले ने भौतिक द्रव्य का खण्डन किया है, किन्तु आत्मिक द्रव्य का प्रतिपादन किया है। इसके मत से यद्यपि आत्मा का कोई प्रत्यय नही होता, तथापि हमको उसका अन्तर्बोध (Notion) होता है। दूसरे आदमियों की सत्ता को भी बर्कले अनुमान से मानते हैं। यद्यपि अन्य व्यक्तियों की सत्ता उनके लिये ऐसी ही निश्चयात्मक और स्वयंसिद्ध है, जैसी मेरी सत्ता मेरे लिये है, तथापि उनकी सत्ता मेरे लिये अनुमान है। इस विषय मे कुछ लोगों ने बर्कले के इस सिद्धान्त पर आपत्ति की है। बर्कले के मत से सत्ता का मुख्य प्रमाण देखा जाना है; किन्तु इतर मनुष्य की

सत्ता मेरे देखे जाने पर निर्भर नहीं है। यह बर्कले के लिये विशेष आपत्ति की बात नहीं है, न यह बात उसके सिद्धान्त का अपवाद है। उन व्यक्तियों की सत्ता स्वयं उनके देखने पर निर्भर है।

बर्कले के सिद्धान्तों का अज्ञान के कारण बहुत उपहास किया गया है; किन्तु बर्कले इस प्रकार के उपहास के योग्य नहीं है। जब डाक्टर जान्सन ने बर्कले के सिद्धान्तों को सुना, तब भौतिक सत्ता का अस्तित्व बताते हुए उन्होंने अपना पैर जमीन पर मारा। किन्तु जमीन पर पैर मारना और रुकावट का भान होना बर्कले के सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं है। शब्द और रुकावट का बोध, ये सब मन के प्रत्यय हैं। ऐसे ही लोगों ने कहा है कि क्या हम विचारों को खाते पीते हैं, क्या विचारों को ओढ़ते बिछाते हैं? इस उपहास की तीक्ष्णता उसी समय जाती रहती है, जब हम यह विचार करते हैं कि हमारा शरीर भी तो एक प्रत्यय ही है*। यदि कोई कहे कि मनमोदकों से भूख क्यों नहीं बुझ जाती, तो उसका कहना है कि मनमोदक कई प्रकार के हैं। जिन मन-मोदकों से भूख बुझती है, उनका विचार भूख न बुझानेवाले

---

* इससे मिलता जुलता मायावादियों के विषय में भी हास्य है। वह इस प्रकार से है। किसी राजा के यहाँ एक मायावादी साधु रहा करते थे। वे हर बात में जगत् के मिथ्या होने की दुहाई देते थे। एक दिन राजा ने एक उन्मत्त हाथी उनकी ओर छुड़वा दिया। वे उसको देखकर भागे। उनको भागते हुए देखकर राजा ने हँसकर कहा—"स्वामिन्, गजो मिथ्या"। स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया—"राजन्, मत्पलायनमपि मिथ्या"। अर्थात् मेरा भागना भी तो मिथ्या ही है।

मोदकों के विचार की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और स्थायी है। बर्कले के प्रत्यय (Idea) शब्द के व्यवहार के सम्बन्ध में लोगों ने मीमांसा की है। आइडिया (Idea) शब्द आकृति और विचार दोनों ही अर्थों मे आता है; और बर्कले ने सामान्य बोधों के खण्डन मे विचार और कल्पना में भेद नहीं रक्खा। इसकी दृष्टि सम्बन्धी कल्पना और ईश्वर-सिद्धि मे भी लोगों ने दोष दिखाए हैं। इन पर विचार करना इस पुस्तक के लक्ष्य से बाहर होगा। जो हो, बर्कले ने युरोपीय दार्शनिक संसार में बड़ा भारी परिवर्तन किया है। भविष्य के सारे दार्शनिक प्रवाह पर उसकी गहरी छाप पड़ी है।

कुछ लोग बर्कले के प्रत्ययवाद की शांकर मायावाद से समानता करने लग जाते हैं। यह भूल है। शांकर मत की बहुत से लोग युरोपीय दर्शनों से समानता करते हैं, लेकिन शांकर मत बहुत विचित्र है। उसकी ठीक समानता किसी युरोपीय दर्शन से नही हो सकती।

बर्कले का मत विज्ञानवाद से मिलता जुलता है। ईश्वर को मानकर विज्ञान वाद पर जो बहुत से आक्षेप होते हैं, यद्यपि उनसे वह बचा हुआ है, तथापि वह विज्ञानवाद की ही कोटि में आवेगा। विज्ञानवाद का शंकर स्वामी ने खण्डन किया है। फिर दोनो मे समानता कैसी? शंकरस्वामी व्यावहारिक सत्ता के विषय मे पूर्णतया वस्तुवादी हैं।

बर्कले ने लॉक के अनुभववाद के आधार पर चलकर बाह्य पदार्थ के द्रव्य को नहीं माना था। अनुभववाद का जो स्वाभाविक परिणाम था, वह बर्कले के मत में नही आया। इस कमी को

पूरा करने के लिये ह्यूम का आविर्भाव हुआ। ह्यूम का मुख्य ग्रंथ "मनुष्य के ज्ञान की एक परीक्षा" (An Enquiry concerning Human Understandings) है।

प्रत्यक्ष या अनुभव और चिन्तन या स्मृति इन दोनों के अतिरिक्त कोई ज्ञान नहीं है। अनुभवगोचर विषय अधिक प्रबल होते हैं। वे ही स्मरण-गोचर होने से दुर्बल होते हैं। इन दोनों में भी अनुभव के जो विषय हैं, उन्हीं की स्मृति में पुनरुज्जीवन होता है। स्मृति, उत्प्रेक्षा, कल्पना आदि में अनुभव-गोचर विषयों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं आ सकता। अनुभव के पृथक् विषयों को जोड़ना और एकत्र मिले हुए विषयों का पृथक् करना ही मनुष्य की बुद्धि से हो सकता है।

यह सर्वथा असम्भव है कि बुद्धि हमारे अनुभव से अतिरिक्त कोई नई बात बतलावे। यहाँ तक कि ईश्वर का जो प्रत्यय मनुष्य के हृदय में है, उसका भी आधार प्रत्यक्ष में है। प्राकृत पदार्थों में प्रत्यक्षानुभूत जो उत्तमता, सौन्दर्य, ज्ञानशक्ति आदि परिच्छिन्न रूप से पाए जाते हैं, उन्हीं में से परिच्छेद को अलग करके अपरिच्छिन्न रूप में उत्प्रेक्षित कर कोई पृथक् प्रकार की अपरिच्छिन्न, ज्ञानादि विशिष्ट वस्तु मान लेने से ईश्वर का बोध प्राप्त हो जाता है।

प्रत्यक्षानुभूत वस्तुओं में तीन प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं —(१) सादृश्य, (२) देश या काल में संनिकर्ष और (३) कार्य-कारण भाव। जब दो वस्तुएँ एक सी देख पड़ती हैं, तब एक के स्मरण से दूसरी का भी स्मरण हो जाता है। ऐसे ही हाथी, हाथीवान आदि जो दो वस्तुएँ देश या काल में एक के समीप

दूसरी देख पड़ती हैं, उनका भी स्मरण परस्परोत्तेजक हो जाता है। इसी प्रकार अग्नि और धूम्र आदि वस्तुओं के ज्ञान मे भी, जिनमें कार्य-कारण भाव है, एक के स्मरण से दूसरे का स्मरण हो जाता है। इन तीनों सम्बन्धों में कार्य-कारण भाव पर दार्शनिकों की बड़ी आस्था है। भारतीय नैयायिकों के सदृश युरोप के एन्सेल्म, डेकार्ट आदि दार्शनिकों ने भी इसी कार्य-कारण भाव के बल पर ईश्वर की सिद्धि का आधार रक्खा था। प्रायः दार्शनिक लोग समझते हैं कि चित्त में कार्य-कारण भाव की बुद्धि सहज है; इसलिये प्रत्येक वस्तु के देखने से उसके कारण की चटपट स्वाभाविक जिज्ञासा होती है; और समस्त संसार को कार्य मानकर उसका कारण ईश्वर सिद्ध होता है। पर ऐसे तर्क केवल भ्रममूलक हैं; क्योंकि कार्य-कारण भाव का बोध स्वाभाविक नहीं है। जैसे अन्य सम्बन्धों का बोध अनुभव-मूलक है, वैसे ही इस सम्बन्ध का भी ज्ञान है। मनुष्य एक गेंद को दूसरे गेंद में धक्का देते हुए देखता है। धक्का लगते ही प्रथम गेंद के सम्बन्ध से द्वितीय गेंद चल पड़ता है। ऐसी बातों के बार बार देखने से मनुष्य के मन मे कार्य्य-कारण भाव की उत्पत्ति होती है; पर यह व्याप्ति ग्रह सर्वथा अनुभव और परीक्षा के अधीन है। कार्य्य कारण भाव के ज्ञान को स्वाभाविक कहना भ्रम है। वस्तुतः कार्य और कारण दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। इनमें कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि हो भी तो वह जाना नहीं जा सकता। प्रायः केवल पूर्व-वर्तिता देखने ही से मनुष्य कारणता का निश्चय कर लेता है। ऐसे ही मनुष्य की इच्छा और उसके प्रयत्न से उसका हाथ हिलता है; पर क्यों हाथ हिलता है, यह नहीं कह सकते।

अनुभव से हाथ का हिलना सिद्ध है। पर जब लकवा मारने पर वही हाथ नहीं हिलता, तब समझते हैं कि अब प्रयत्न करना व्यर्थ है; इसलिये अनुभव से बढ़कर कार्य्य कारण सम्बन्धी कोई अपूर्व निश्चय और अद्भुत शक्ति मानना शुद्ध भ्रम है।

जिस लड़के ने कभी धूएँ के साथ आग नहीं देखी है, उसे कभी धूआँ देखने से उसके कारण का अनुभव नहीं हो सकता। केवल बार बार देखते देखते जब अभ्यास हो जाता है कि बिना आग के धूआँ नहीं देखा जाता, तब दोनों में कार्य्य कारण रूप का एक आवश्यक सम्बन्ध मालूम पड़ने लगता है *।

इस प्रकार कारणता का खण्डन कर ह्यूम ने अनुभवागोचर ईश्वर, अप्राकृतिक घटना आदि का भी खण्डन किया। बाह्य वस्तु के विषय में ह्यूम ने यह समझा कि जो कुछ हमारे अनुभव का विषय हैं, वे सब हमारे प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययों से किसी

---

* बर्कले ने वस्तु और उसके गुणों में सम्बन्ध नहीं माना है। जिसे अग्नि के रूप रंग से दाहकता का अनुभव न हुआ हो, वह अग्नि को दूर से देखकर यह न कह सकेगा कि इसमें दाहकता है; और न बरफ़ की सफेदी देखकर कह सकेगा कि इसमें शीतलता होगी। इस सम्बन्ध को न मानते हुए बर्कले ने ईश्वर के ज्ञान में इनकी सहकारिता का सम्बन्ध माना है। इस सहकारिता के कारण मनुष्य एक गुण देखकर और गुणों की प्रतीक्षा करने लगता है। वृक्ष का आकार देखकर उसके दृढ़त्व, गुरुत्व, खुरखुरेपन आदि का अनुमान करने लगता है। बर्कले ने इसको दृष्टि भाषा (Visional language) कहा है। ह्यूम ने इस भाव को स्पष्ट करके कार्य कारणता से बिलकुल इन्कार किया है। ह्यूम ने भी कार्य-कारण भाव की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है; किन्तु व्याख्या करना ही कार्य-कारण को स्वीकार करना है।

प्रकार की एक बाह्य वस्तु की सत्ता का अनुमान हो सकता है; पर इन प्रत्ययों की प्रयोजक वस्तुएँ प्रत्ययों के सदृश हैं या विसदृश, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अनुभव के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है। अनुभव बाह्य वस्तु के ग्रहण में असमर्थ है।

बर्कले की भाँति ह्यूम ने भी भौतिक द्रव्य को नहीं माना। यहाँ तक बर्कले और ह्यूम का साथ है; किन्तु अब बर्कले से ह्यूम एक कदम और आगे जाते हैं। जिस युक्ति से बर्कले ने भौतिक द्रव्य का खण्डन किया है, उसी युक्ति से ह्यूम ने आत्मिक द्रव्य का खण्डन किया है। ह्यूम का कहना है कि जिसको "मैं" कहते हैं, वह भी और प्रत्ययों की तरह एक प्रत्यय है। जब वह प्रत्यय चला गया, तब कुछ नहीं है। जिस प्रकार हमारे संवेदनों का कोई भीतरी आधार नहीं है, उसी प्रकार हमारे प्रत्ययों का भी कोई भीतरी आधार नहीं है। जो कुछ है, वह प्रत्यय ही प्रत्यय है। ह्यूम के मत से न ईश्वर रहा और न भौतिक या आत्मिक द्रव्य रहा। केवल प्रत्यय और संवेदन रह गए। यह मत बौद्धों के क्षणिक विज्ञान वाद से बहुत मिलता है।

ह्यूम ने अपने सिद्धान्तों में लॉक के अनुभव वाद की

बहुत से लोगों का कथन है कि यदि ह्यूम साहब कार्य कारण भाव को नहीं स्वीकार करते हैं, तो उन्होंने अपनी पुस्तक पर अपना नाम क्यों दिया? इसके लिये ह्यूम का इतना ही कहना होगा कि व्यवहार में दार्शनिक सिद्धान्त नहीं लगते। अथवा बर्कले की भाषा में यों कहना चाहिए कि हमारे विचार दार्शनिक होने चाहिए और हमारी भाषा व्यावहारिक। (We must think with the Philosopher and speak with the vulgar.)

असारता प्रकट कर दी। यदि हम शुद्ध अनुभववादी बनना चाहते हैं और सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं जाना चाहते, तो हमारे लिये केवल संवेदन (Sensation) ही संवेदन रह जायँगे। दर्शन शास्त्र इस अस्थिर अवस्था में नहीं रह सकता था। या तो साधारण लोगों के साथ हमको सब बातों में विश्वास करना चाहिए या लॉक साहब जिस आधार पर चले हैं, उसकी परीक्षा करनी चाहिए। रीड साहब ने साधारण लोगों के विश्वास का समर्थन किया और कान्ट ने ज्ञान के आधार की परीक्षा की।

लॉक और ह्यूम के दर्शन के विरुद्ध स्काटलैण्ड में सामान्य बुद्धि वाद (Common sense Philosophy) निकला। टॉमस रीड और ड्यूगल्ड स्टुअर्ट इस दर्शन के प्रचारक हुए। ह्यूम की बातों से धर्म आदि विषयों की कौन कहे, स्वयं वैज्ञानिक और सामान्य विषयों में भी बड़ा संशय आ पड़ा। ह्यूम ने सभी विषयो का खंडन कर दिया। बाह्य वस्तुओं की स्थिति, ईश्वर की सत्ता, कार्य-कारण भाव सभी ह्यूम के लिये संशययुक्त सिद्ध हुए। संशय की ऐसी अवस्था मे बहुत से लोगो को दार्शनिक लोगों की बातों मे अश्रद्धा हो गई। ऐसी बातें, जो पंडित और मूर्ख सभी साधारण जीवन में मानते हैं, दार्शनिक रीति से भी ठीक समझी जानी लगीं।

रीड—हचेसन और स्मिथ आदि आचार और नीति विषय के लेखकों में इंगलैंड में भी सामान्य बुद्धि पर विश्वास सूचित हुआ था; पर इन विषयों का स्पष्ट प्रतिपादन पहले पहल स्काटलैंड में रीड ने किया। रीड चिरकाल तक एबर्डीन और ग्लासगो में अध्यापक था। "सामान्य बुद्धि की दृष्टि से मनुष्य के चित्त की परीक्षा"

(Enquiry into the Human Mind on the Principles of Commonsense) इसके मुख्य ग्रंथ का नाम है। इस ग्रंथ में इसने लिखा है कि पहले ह्यूम के ग्रंथ को पढ़कर विज्ञान, धर्म, आचार आदि सभी विषयों में मुझे संशय हुआ और अश्रद्धा उत्पन्न हुई। पर परीक्षा करने पर ह्यूम का मत मुझे साधारण अनुभव से हटा हुआ देख पड़ा। इन्होंने ह्यूम का मत लॉक के मत का फल रूप बतलाया है। इनका कहना है कि लॉक की भूल ह्यूम में स्पष्ट होती है। लॉक को साधारण विचार से नहीं चलना चाहिए था। बिलकुल साधारण विचार कोई नहीं है। हर एक विचार में सम्बन्ध लगा हुआ है। निर्णय विचार का साधारणतम रूप है। दो विचार जोड़े नहीं जाते, वरन् एक पेचीदा विचार में से सरल विचार निकाला जाता है। साधारण विचार मानने का फल ह्यूम का दर्शन है।

मनुष्य के चित्त मे ऐसे कितने ही स्वाभाविक निःसंदेह विश्वास हैं, जिनका किसी दर्शन से प्रत्याख्यान नही हो सकता। आत्मा की स्थिति और बाह्य वस्तु की सत्ता में सब साधारण मनुष्यों को पक्का स्वाभाविक विश्वास है। जब मनुष्य को प्रभा आदि का संवेदन होता है, तब रूपादि गुण विशिष्ट प्रत्यक्ष के विषय और ज्ञानवती आत्मा, जिसे प्रत्यक्ष होता है, दोनों की स्थिति स्वभावसिद्ध मालूम होती है। अनुभव और स्मरण मे और दोनों से उत्प्रेक्षा में इतना भेद है कि इनको सर्वथा भिन्न ही समझना चाहिए। प्रत्यक्षानुभव को अभ्यास या सहचार-जन्य भ्रम कभी नहीं कह सकते। सर्वथा नवीन वस्तु का ज्ञान, जिसका कभी अनुभव नही हुआ है, प्रत्यक्ष से अर्थात् विषय और इन्द्रिय के संनिकर्ष

से होता है। ऐसी अवस्था में वाह्य विषय में अथवा आत्मा मे जो विश्वास न रक्खे, उसे दार्शनिक नहीं वल्कि उन्मत्त कहना चाहिए।

जिस प्रकार वाह्य इन्द्रियों से हमें बाह्य विषयों का ग्रहण होता है, वैसे ही अंतःकरण (Moral Sense) से उचित अनुचित आदि का विचार होता है। उचित अनुचित का भेद और इस भेद को ग्रहण करनेवाली शक्ति ये भी दोनों पारमार्थिक वस्तुएँ हैं। इनका भी खंडन नहीं हो सकता।

अपने "मानस शक्तियाँ" (Intellectual Powers) नाम के ग्रंथ में रीड ने लिखा है कि मनुष्य को प्रत्यक्ष ज्ञान के समय बाह्य वस्तु की स्थिति में अपरिहार्य्य विश्वास होता है। यह विश्वास तर्क-मूलक नहीं है, पर स्वाभाविक प्रत्यक्ष के साथ साथ होता है। इसलिये दार्शनिकों ने जो मनोमय संसार माना है और बाह्य वस्तुओं को खडन किया है, वह केवल भ्रम है। इन्होंने विश्वास के स्थान मे अविश्वास पैदा किया है। ये लोग वस्तुवाद (Realism) मानते थे। इनके मत से हमारे संवेदनों का आधार हम से स्वतन्त्र है। वस्तु में मुख्य गुणो के अतिरिक्त गौण गुण भी रहते हैं। रूप, रस, गंध आदि के संवेदन यह अनुमान कराते हैं कि इनके अनुकूल वस्तु में कोई गुण है, जो इन सवेदनो का कारण है। ये गुण और संवेदन एक नही हैं। गुण संवेदन के कारण हैं। सवेदन एक प्रकार से उनके प्रतिनिधि हैं। मुख्य गुणो में इतना अन्तर है कि इनके संवेदन इनसे अधिक समानता रखते हैं। रूप, रस, गंध आदि के जो कारण रूप गुण हैं, वे बिलकुल अज्ञात हैं। उनकी सत्ता मात्र कही जाती है। लम्बाई, चौड़ाई

आदि के जो कारण हैं, वे इतने अनिश्चित नहीं हैं और उनके संवेदनों और उन गुणों में थोड़ी समानता है; लेकिन वे भी एक नहीं हैं। संवेदन और गुण एक नहीं हो सकते।

स्कॉटलैंड के अन्य दार्शनिक—इनमें ड्यूगल, स्टूअर्ट, ब्राउन, हैमिल्टन, मैन्सल और फैरियर हैं। ड्यूगल, स्टूअर्ट और ब्राउन का मत रीड के मत से बहुत कुछ मिलता है। हैमिल्टन और मैन्सल के मत का सारांश आगे स्पेन्सर साहब की फिलासोफी के साथ दिया जायगा। इन्होंने वस्तु वाद का आधार तो रक्खा, लेकिन उसमें जो छिपा हुआ अज्ञेय वाद था, उसको प्रकट कर दिया।

फैरियर ने इस अज्ञेय वाद और सापेक्षता वाद का विरोध किया है। इसका कहना है कि हम को न विषय अलग मिलता है और न विषयी। हमारा ज्ञान विषय-विषयी-युक्त है। इन दोनो मे से एक को अलग करके कहना कि हम उसका वास्तविक रूप नहीं जानते, मूर्खता है। जो चीज अलग नहीं, उसको अलग क्यों किया जाय? अज्ञेय वाद के विषय में फैरियर का कहना है कि अज्ञान उसी का हो सकता है जिसका ज्ञान हो सकता हो। जो चीज है ही नहीं, उसका अज्ञान ही क्या? अलग विषय या अलग विषयी हो ही नहीं सकते। फिर उनका अज्ञान कैसा? विषय और विषयी के मिले हुए ज्ञान का ही ज्ञान और अज्ञान हो सकता है *।

कौंडिलैक—लॉक के अनुगामियों की संख्या फ्रांस में अधिक हुई। इनमें कौंडिलैक नामक दार्शनिक शुद्ध प्रत्यक्षवादी है। "संवेदन पर प्रबन्ध" (A Treatise on Sensations) नामक ग्रंथ में

* स्पेन्सर और हैमिल्टन के पढ़ने के बाद इसे फिर पढ़ना चाहिए।

इस दार्शनिक ने यह दिखलाया है कि लॉक ने प्रत्ययों के दो मूल बताए हैं—संवेदन या ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष और मानस चिन्तन। इन दोनों में से ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष ही मूल है; इसलिये सब प्रत्ययों का एक ही मूल मानना उचित है।

इसने इस बात का प्रतिपादन किया है कि प्रत्यक्ष ही सब प्रत्ययों का मूल है। कल्पना करो कि एक ऐसी मूर्ति है जो मनुष्य के सदृश प्राण आदि की शक्ति रखती है; पर ऐसा समझो कि उसके शरीर के ऊपर संगमरमर की एक पतली सी तह जमी हुई है, जिससे उसको बाह्य वस्तुओं का अनुभव नहीं होता। अब इस मूर्ति को बाह्य वस्तुओं का अनुभव न होने के कारण किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। इसका चित्त शून्य है। इस अवस्था में यदि पहले उसकी नाक पर से मर्मर की एक आवृत्ति निकाल दी जाय, तो उसे केवल गंध का अनुभव होगा। उस समय गंध के अतिरिक्त आत्मा अनात्मा किसी वस्तु का ज्ञान उसको नहीं हो सकता। वह बाह्य वस्तु का या अपने शरीर का स्पर्श कर ही नहीं सकती; कुछ देख भी नहीं सकती। इसलिये गंध प्रत्यय के अतिरिक्त न उसकी आत्मा है, न शरीर है, और न बाह्य वस्तु है। अब यदि क्रम से उस मूर्ति के सामने गुलाब, चमेली, लहसुन आदि वस्तुएँ रक्खी जायँ और हटाई जायँ, तो उस मूर्ति को पहले तो हटाई हुई चीजों के गंध का कुछ स्मरण रहेगा। फिर सुगन्ध (गुलाब आदि के गंध) के पुनः अनुभव की इच्छा होगी; और लहसुन आदि की दुर्गंध के परिहार की इच्छा होगी। इस प्रकार गंध प्रत्यय अवधान, तारतम्य, स्मृति, इच्छा, सुख, दुःख और प्रयत्न रूप हो गया।

केवल गंध के प्रत्यय से सुगंध की ओर अवधान और दुर्गन्ध से दोनों की स्मृति, फिर दोनों का तारतम्य, एक से सुख दूसरे से दुःख, एक की ओर इच्छा दूसरे से अनिच्छा, एक के पुनरनुभव का प्रयत्न, दूसरे के परिहार का प्रयत्न, इतना सब हुआ। तारतम्य से सम्बन्ध-ग्रहण, चिन्तन, तर्क, विवेचन आदि अनेक धर्म उद्भूत हुए और बुद्धि का आविर्भाव हुआ। जब उस मूर्ति को दुर्गन्ध का अनुभव होता है, तब उसे सुखावह सुगन्ध का स्मरण होता है। तब इन दो प्रकार के गन्धों का तारतम्य करने से दोनों के सादृश्य और विसादृश्य का बोध होता है। फिर क्रम से सुख और दुःख गंध के सहभावी पृथक् विषय हैं, यह भान होता है; और इसी अवधान स्मरण सुख दुःख आदि के समूह को आत्मा कहने लगते हैं *।

इसी प्रकार किसी एक इन्द्रिय के अनुभव से समस्त ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम दिखाया जा सकता है। इसलिये सब ज्ञान का मूल ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष है। जैसे नाक पर की तह हटाने से मूर्ति को इतना ज्ञान हुआ, वैसे ही आँख आदि पर की भी तह निकाल

---

* यद्यपि देखने में यह युक्ति बहुत ग्राह्य मालूम होती है, किन्तु वास्तव में अदार्शनिक है। इस कल्पित पुतली में संवेदन ग्रहण के अतिरिक्त बिना प्रमाण के स्मरण, इच्छा, अनिच्छा आदि कितनी ही और भी शक्तियाँ मान ली गई हैं जिनका कुछ वर्णन ही नहीं है। इसके साथ यह भी देखना चाहिए कि और किसी निर्जीव पुतली में केवल संवेदन ग्रहण शक्ति से किसी तारतम्य द्वारा सम्बन्ध-ग्रहण, चिन्तन, तर्क, विवेचन आदि शक्तियाँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं। इनका उत्पन्न होना ही इनकी बीज रूप स्थिति का सूचक है।

दें तो उसका ज्ञान और भी बढ़ जायगा। पर जब तक स्पर्श हेतु त्वगिन्द्रिय की तह न हटाई जाय, तब तक बाह्य वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुओं की बाह्य सत्ता के ज्ञान के लिये यह इन्द्रिय अत्यन्त आवश्यक है। जो लोग अन्धे जनमते हैं, उनकी आँख यदि किसी प्रकार दुरुस्त कर दी जाय, तो भी पहले बिना स्पर्श के चित्र के घोड़े और असली घोड़े में उन्हें भेद नहीं जान पड़ता, जैसा कि केसेलेन नामक डाक्टर की चिकित्सा में हुआ था। स्पर्शेन्द्रिय द्वारा वस्तुओं का घनत्व, कठिनत्व आदि विदित होता है जिसके कारण उनकी बाह्य स्थिति जानी जाती है।

कौन्डिलैक ने इस रीति से चित्त को शुद्ध सादा पत्र सिद्ध किया। अब चित्त मे कितना अंश स्वाभाविक अनुभव निरपेक्ष है, यह सिद्ध करने का यत्न जरमनी के महा दार्शनिक काण्ट के द्वारा हुआ, जैसा कि आगे बतलाया जायगा।

युरोप में अठारहवीं शताब्दी जाग्रति का काल समझी जाती है। यह जाग्रति विशेषकर फ्रांस और जर्मनी में हुई। फ्रांस की जाग्रति का पहला भाग मानसिक जाग्रति का था। इस काल में संवेदन वाद (Senationsalism) और देहात्म वाद (Materialism) प्रधान थे। इस काल के नेता वोल्टेर (Voltaire) मौनटेस्क (Montesque) और कौन्डिलैक समझे जाते हैं। इन लोगों ने विचार की स्वतन्त्रता पर अधिक जोर दिया था। इन्होंने समाज में उत्तम और मध्यम श्रेणी का अन्तर माना था। वोल्टेर शुद्धेश्वरवादी (Deist) था। यह अन्ध विश्वास से अनीश्वरवाद को अच्छा समझता था। इसने फ्रांस के धार्मिक लोगों के विरोध में बहुत कुछ लिखा था।

फ्रांस की जाग्रति का द्वितीय काल सामाजिक-सुधार सम्बन्धी था। इस काल का मुख्य नायक रूसो (Rousseau) था। यह शुरू शुरू में वोल्टेर के विचारों से प्रभावित हुआ। फिर इसमें और वोल्टेर में कुछ भेद हो गया। वोल्टेर मानसिक स्वतंत्रता पर जोर देता था और यह मनुष्य के स्वाभाविक अधिकारों पर जोर देता था। इसने समाज पर बड़े बड़े कटाक्ष किए हैं।

इसके मत से सब शिक्षा और प्रशस्ति समाज की नीचता को छिपाने के वास्ते है। ईश्वर भला है। मनुष्य भी भला था, जब तक कि वह समाज के बन्धन में नहीं पड़ा। यह अराजकता का पक्षपाती था। इसका सिद्धान्त था कि समाज को तोड़ दो; भेदों का नाश कर दो और प्रकृति के अनुकूल जीवन निर्वाह करो। इसने मनुष्य को आत्म-गौरव की शिक्षा दी थी और भावों (Feelings) का भी आदर किया था। इन विचारों के फल स्वरूप फ्रांस की राज्यक्रान्ति हुई। इस प्रकार के विचार युरोप भर में फैले हुए थे और रूसो उस समय का प्रतिनिधि था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से वहाँवालों का बुद्धि-विकास कुछ स्थगित हो गया।

जरमनी की जाग्रति फ्रांस की जाग्रति से कुछ विलक्षण थी। जरमनी में राजनीतिक परिवर्तन वहाँ के बुद्धि-विकास का कारण हुई। फ्रांस की राजनीतिक परिवर्तन की मानसिक जाग्रति वहाँ का फल था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के कारण उसकी जाग्रति का अन्त सा हो गया था; किन्तु जरमनी में मानसिक जाग्रति बढ़ती रही। जरमनी में राजनीतिक परिवर्तन के मुख्य विधाता

फ्रेड्रिक थे। काण्ट ने अठारहवीं शताब्दी को फ्रेड्रिक महान् का युग कहा है। जिस प्रकार फ्रांस में वोल्टेर ने वहाँ का धार्मिक अधिकार कम किया था, उसी प्रकार जरमनी में फ्रेड्रिक ने साम्राज्य का अधिकार कम किया था। यद्यपि यह पूर्ण स्वतंत्र राजा था, पर यह अपने को समाज का सेवक मानता था। इसने स्वयं मानसिक विकास में बहुत कुछ योग दिया था। इसने सामयिक दर्शनों का अच्छा अध्ययन किया था और सदाचार के ऊपर जोर देता था।

जरमनी में मानसिक जाग्रति के नेता लीब्नीज माने गए हैं। इनके सिद्धान्तों का वुल्फ (Wolf) ने बहुत विस्तार से प्रचार किया है। इसके हाथ से लीब्नीज़ की फिलासोफी का विस्तार बढ़ा, किन्तु उसकी प्रभा घट गई। इसने पूर्व स्थापित साम्य (Pre-established harmony) को मानुषीय शक्त्यणु के जीव और शरीर में माना है, अन्यत्र नहीं। इसने बुद्धि वाद (Ratic-nalism) को इतनी प्रधानता दी कि उस प्रधानता के कारण उसका महत्व घट गया। जो बातें बुद्धि से परे थीं, उनको भी वुल्फ ने बुद्धि से सिद्ध करना चाहा। इसने इन्द्रिय ज्ञान का बिलकुल तिरस्कार कर माध्यमिक काल के सम्प्रदाय वादियों की भाँति सब बातों को गणित और तर्क की क्रिया में लाना चाहा। इस तरह का विचार एक प्रकार से अनुभव वाद की प्रतिक्रिया (Reaction) का पूरा फल था। ह्यूम का अनुभव वाद और वुल्फ का बुद्धि वाद दोनों "अति" की कोटि में पहुँच गए थे।

जरमनी की मानसिक जाग्रति में दूसरी शक्ति लेसिंग (Lassing) की थी। वोल्टेर की भाँति लेसिंग का लक्ष्य केवल

खण्डन न था। यह हर बात की परीक्षा और मीमांसा करता था। इसने पिछली बातों का तिरस्कार नहीं किया, वरन् उनको अगली बातों से मिलाना चाहा। यह और हरडर (Herder) दोनों विश्व के साम्य और विश्व द्वारा अपनी शक्ति और स्थिति को प्रकट करनेवाले ईश्वर में विश्वास करते थे। इसके समय मे सौन्दर्य्य विज्ञान (Æsthetics) सम्बन्धी समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं और उनके हल करने में अगले और पिछले सिद्धांतों का मिलान किया जाता था। इसने व्यक्ति वाद का पक्ष लिया था; किन्तु इसके मत से व्यक्ति ऐसा होना चाहिए जो अपनी व्यक्तिता को दबाए रक्खे। इसी में व्यक्तिता का महत्व है।

यद्यपि लेसिंग आदि सब नेताओं ने दर्शन शास्त्र की बहुत वृद्धि नहीं की, तथापि इन लोगों का प्रभाव अगले दार्शनिकों पर बहुत पड़ा; और ये लोग उस समय की प्रवृत्ति को निश्चित करनेवाले गिने जाते हैं।

तीसरा अध्याय

जरमनी का प्रत्यय वाद

(१)

काण्ट—इसका जन्म कोनिग्सबर्ग में हुआ। इसका पितामह सकुटुम्ब स्काटलैण्ड से जरमनी गया था; और वहाँ इसका पिता जीनपोश बनाने का काम करता था। काण्ट का जीवन अत्यन्त साधारण था। इसने विवाह नहीं किया था और अध्यापन तथा ग्रंथों के लिखने में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ जीवन बिताकर यह अस्सी बरस की अवस्था में मरा।

पहले इसने दर्शन के जो ग्रंथ लिखे, उनमें लीब्नीज़ और वुल्फ का अनुसरण किया जिसमें अन्ध विश्वास (Dogmatism) की बातें भरी हुई थीं। पर कुछ दिनों के बाद जब इसने ह्यूम के ग्रंथों को देखा, तब इसने स्वयं लिखा है कि मेरी मोह निद्रा (Dogmatic slumber) खुली। पहले पहल मनुष्य को जब थोड़ा थोड़ा ज्ञान होने लगता है, तब वह संसार, ईश्वर आदि के विषयों में अनेक प्रमाण-रहित कल्पनाएँ करने लगता है। इस काल को अन्ध विश्वास का समय (Dogmatic Period) कहना चाहिए। फिर कुछ अधिक ज्ञान होने से इन कल्पनाओं में विरोध देखकर मनुष्य संशय में पड़ता है। इस समय को संशयावस्था (Sceptic Period) कहना चाहिए। अन्त में ऐसा होता है कि ईश्वरादि विषयों के आलोचन से पूर्व मनुष्य स्वयं अपने ज्ञान की परीक्षा करना और ईश्वर आदि के आलोचन

के पहले यह देखना आवश्यक समझता है कि मेरा ज्ञान कहाँ तक पहुँच सकता है। इस समय को परीक्षा का समय (Critical Period) कहते हैं।

लीब्नीज़ के समय तक मनुष्य अन्धविश्वास में थे। ह्यूम का उदय संशयावस्था में हुआ। काण्ट ने परीक्षा का आरम्भ किया। ह्यूम ने केवल संवेदनों को माना, सम्बन्धों को नहीं। और इसने कार्य कारण भाव को भी विचार तारतम्य का फल माना था। इसके मत से ज्ञान की स्थिति डावाँडोल हो गई थी। ऐसी अवस्था में ज्ञान की सम्भावना और सीमाओं की परीक्षा आवश्यक हो गई थी। काण्ट ने तीनों मानसिक शक्तियों के सम्बन्ध से तीन परीक्षाएँ या मीमांसाएँ लिखीं—बुद्धि के सम्बन्ध से शुद्ध बुद्धि की परीक्षा या मीमांसा (Critique of Pure Reason), संकल्प के सम्बन्ध से कृत्यबुद्धि की परीक्षा (Critique of Practical Reason) और भावना के सम्बन्ध से निर्णय की परीक्षा (Critique of Judgment)

काण्ट ने भी लॉक की तरह ज्ञान से पूर्व ज्ञानोपार्जन की शक्ति और विधि की परीक्षा की। दूरवीक्षण यंत्र के द्वारा तारागणों की परीक्षा करने से पहले हमको उस यंत्र की परीक्षा करनी चाहिए। यह परीक्षा उसने अपने "शुद्ध बुद्धि की परीक्षा" नामक ग्रंथ में की है। ज्ञान का आकार निर्णय (Judgment) रूप है; क्योंकि सब ज्ञान तार्किक निर्णय के रूप में लाया जा सकता है। निर्णय में सम्बन्ध-ग्रहण आवश्यक है। सम्बन्ध दो में होता है। निर्णय या प्रतिज्ञा में, जो एक प्रकार से उसी का रूपान्तर है, दो पद होते हैं—एक उद्देश्य और दूसरा विधेय। उद्देश्य वह है

जिसके बारे में कुछ कहा जाय; और जो कुछ कहा जाय, वह विधेय है। प्रतिज्ञाएँ दो प्रकार की होती हैं। एक में ऐसा होता है कि उद्देश्य का, जो पहले से ज्ञात है, विधेय द्वारा विवरण कर देते हैं। जैसे त्रिभुज में तीन भुजाएँ होती हैं। जो त्रिभुज को जानता है, वह यह भी जानता है कि त्रिभुज में तीन भुजाएँ होती हैं। तीन भुजाओं का होना त्रिभुज के बोध में शामिल है। इससे ज्ञान की कोई वृद्धि नहीं हुई। ऐसी प्रतिज्ञाओं को वियोजक या विश्लेषक (Analytic) कहते हैं; क्योंकि इन प्रतिज्ञाओं के उद्देश्य के बोध में जो कुछ वर्तमान है, उसी का वियोजन या विश्लेषण कर उसके फल में से किसी बात को विधेय से प्रकट कर देते हैं। विधेय में कोई ऐसी बात नहीं होती जो उद्देश्य में वर्तमान न हो।

दूसरे प्रकार की प्रतिज्ञा ऐसी होती है जिसमें विधेय से ऐसी कोई नई बात जान पड़े जो उद्देश्य के अर्थ-ज्ञान से नहीं विदित होती। जैसे पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। इस प्रतिज्ञा में पृथ्वी शब्द से किसी को कभी यह नहीं ज्ञात हो सकता कि वह सूर्य के चारों ओर घूमती है या नहीं; इसलिये विधेय सर्वथा नया है। ऐसी प्रतिज्ञाओं को संयोजक प्रतिज्ञा (Synthetic) कहते हैं; क्योंकि इनमें दो नई बातें जोड़ी जाती हैं।

संयोजक प्रतिज्ञाओं में कहीं कहीं सम्बन्ध आकस्मिक होता है। जैसे आज आकाश मेघयुक्त है। यहाँ आकाश का मेघयुक्त होना सर्वदा के लिये नहीं है। पर दूसरे उदाहरणों में, जैसे–त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर दो ऋजु कोण के बराबर होते हैं—विधेय और उद्देश्य का सम्बन्ध सब देश और सब काल के लिये है।

इसी सार्वकालिक और सार्वत्रिक सम्बन्ध-ग्रहण को वास्तव ज्ञान कहते हैं। किन्तु यह ज्ञान अनुभव से स्वतन्त्र संयोजक प्रतिज्ञाओं द्वारा हो सकता है। अनुभव के पश्चात् होनेवाली प्रतिज्ञाएँ अवश्य ही भावी सत्य की कोटि तक नहीं पहुँचती; क्योंकि संभव है कि भावी अनुभव पिछले अनुभव को काट दे। इसलिये जो ज्ञान अनुभव से स्वतन्त्र है, वही अवश्यम्भावी और निरपेक्ष कहा जा सकता है। किन्तु यह ज्ञान संयोजक होना चाहिए; क्योंकि वियोजक से कुछ लाभ नहीं। उससे हमारे ज्ञान की वृद्धि नहीं हो सकती। ऐसे अनुभव-स्वतन्त्र संयोजक ज्ञान को काएट असम्भव नहीं मानता था। वह यह देखना चाहता था कि किन विषयों में ऐसे ज्ञान की संभावना है। इसी विचार से उसने अपनी परीक्षा आरम्भ की। शुद्ध बुद्धि की परीक्षा के दो अंग हैं—एक अनुभवातीत संवेदन शास्त्र (Transcendental Æsthetics) और दूसरा अनुभवातीत तर्कशास्त्र (Transcendental Logic)। पहले का सम्बन्ध संवेदन से और दूसरे का प्रत्यय, विचार या बोध से है। हमारे ज्ञान में दोनों ही का काम पड़ता है। संवेदन (Sensatons) प्रत्यय या बोधों के बिना अंध और भावरहित है; और बिना संवेदनों और प्रत्यक्षों के बोध (concepts) खोखले हैं। इसलिये दोनों ही की परीक्षा आवश्यक है। हमारे संवेदन हमको देश (Space) और काल (Time) दो मानसिक चक्षुओं द्वारा प्राप्त होते हैं। कोई ऐसा संवेदन या प्रत्यक्ष न होगा जो किसी देश या काल से बाहर हो। सब के साथ कब और कहाँ लगा हुआ है। देश हमारे संवेदनात्मक ज्ञान की बाहरी खिड़की है और काल भीतरी खिड़की है। देश, काल बाहरी

पदार्थ नहीं हैं। ये हमारे अनुभव में नहीं आते, वरन् हमारा सब अनुभव इनके द्वारा होता है। इनका ज्ञान हमको अनुभव से स्वतन्त्र होता है। काण्ट ने देश और काल को केवल ज्ञान का प्रकार ही नहीं माना, वरन् उसके मत से हमको शुद्ध देश और काल का अनुभव हो सकता है। इसी लिये इनके सम्बन्ध में हम अनुभव से स्वतन्त्र संयोजनात्मक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसी लिये अंकगणित और रेखागणित में अवश्यम्भावी ज्ञान की सम्भावना है।

अब यह प्रश्न उठता है कि संवेदनों का वास्तविक रूप क्या है। हमारे प्रत्यक्ष (Perceptions) शुद्ध नहीं हैं। उनमें भीतरी और बाहरी दोनों ही अंश वर्तमान हैं। हम यह नहीं जानसकते कि शुद्ध वस्तु (Thing in itself) क्या है। हम जो कुछ जानते हैं, वह अपने प्रत्यक्षों को जानते हैं; किन्तु इसके साथ यह भी जानते हैं कि इनके आधार स्वरूप कुछ शुद्ध वस्तु है अवश्य। इसी प्रकार भीतरी शुद्ध वस्तु भी कुछ जरूर है; और संभव है कि दोनों का एक आधार हो।

हमारा ज्ञान संवेदनों पर ही समाप्त नहीं हो जाता। हमारे ज्ञान में सम्बन्ध रहते हैं। ये सम्बन्ध कहाँ से आते हैं, इसी बात का निर्णय अनुभवातीत तर्क का है। सूर्य्य और पत्थर दोनों प्रत्यक्ष हैं; किन्तु सूर्य के कारण पत्थर गरम होता है, यह ज्ञान है। इसमें सम्बन्ध दिखाए गए हैं। प्रज्ञा (Understanding) द्वारा संवेदन-जन्य प्रत्यक्षों में सम्बन्ध लगाए जाते हैं। यहाँ पर काण्ट ने अनुभव वाद और बुद्धिवाद दोनों का योग कर दिया है और दोनों को एक दूसरे की बात न मानने की भूल बतला दी

है। हमारा सारा ज्ञान बुद्धि की बारह संज्ञाओं द्वारा व्यवस्थित होता है। ये संज्ञाएँ हमको तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञाओं से मिलती हैं। जितने प्रकार की प्रतिज्ञाएँ हो सकती हैं, उतनी ही संज्ञाएँ (Catagories) हैं। निर्णयों के चार मुख्य वर्ग हैं—परिमाण, गुण, सम्बन्ध और प्रकार। इन चारों मे प्रत्येक के तीन तीन भेद हैं। परिमाण के तीन भेद हैं—एकात्मक, पूर्णव्याप्ति-बोधक और अपूर्ण व्याप्ति-बोधक। गुण के तीन भेद हैं—भावात्मक, अभावात्मक और अनिश्चित। सम्बन्ध के तीन भेद हैं—स्वतंत्र, सापेक्ष और सविभाग (या वैकल्पिक)। प्रकार के तीन भेद हैं—सम्भावना, प्रतिपत्ति और आवश्यक प्रतिपत्ति। प्रत्येक वर्ग के उदाहरण इस प्रकार है—

परिमाण—	एकात्मक—राम विद्वान् है।
	पूर्ण व्यप्तिबोधक—सब मनुष्य नाशवान हैं।
	अपूर्ण व्याप्तिबोधक—कुछ मनुष्य मूर्ख हैं।
गुण—	भावात्मक—मनुष्य प्राणी है।
	अभावात्मक—पत्थर प्राणी नहीं है।
	अनिश्चित—ईश्वर अमर है।
सम्बन्ध—	स्वतंत्र—आत्मा अमर है।
	सापेक्ष—यदि आत्मा अमूर्त है तो अमर है।
	वैकल्पिक—या तो आत्मा मूर्त है, या अमूर्त है।

प्रकार—	सम्भावना—मनुष्य कदाचित् सौ वर्ष से भी अधिक जी सकते हैं।
	प्रतिपत्ति—आत्मा अमूर्त है।
	आवश्यक प्रतिपत्ति—आत्मा को अमूर्त होना चाहिए।

इन सब वाक्यों के सम्बन्ध से बारह संज्ञाएँ (Categories) मानी गई हैं—

परिमाण Quantity	एकता	Unity
	पूर्णता	Totality
	बहुत्व	Plurality
गुण Quality	सत्ता	Reality
	अभाव	Negation
	संकोच	Unitation
सम्बन्ध Relation	द्रव्य	Substance
	कार्य कारण भाव	Casuality
	अन्योन्य भाव	Receprocity
प्रकार Modality	संभावना	Possibility
	वास्तविकता	Actuality
	अवश्यम्भाविता	Necessity

यही बारह वर्ग या संज्ञाएँ हमारे ज्ञान को व्यवस्थित करती हैं। अनुभववादी यह मानते थे कि बाहर से अंदर की व्यवस्था

होती है; किन्तु काण्ट ने यह दिखलाया है कि अंदर से बाहर की व्यवस्था होती है। काण्ट ने दार्शनिक संसार में यही सब से भारी परिवर्तन किया है; इसलिये यह दर्शन शास्त्र का कॉपर्निकस (Copernicus) कहा गया है। जिस प्रकार कॉपर्निकस ने पृथ्वी के स्थान में सूर्य को संसार का केन्द्र माना था, उसी प्रकार काण्ट ने ज्ञान का केन्द्र बाहर से अंदर कर दिया था।

इन संज्ञाओं द्वारा हमारे ज्ञान का रूप निश्चित हो गया। हमारे प्रत्यक्ष स-सम्बन्ध होंगे। कोई कार्य बिना कारण के न होगा। हम इन सब सिद्धान्तों को अपने अनुभव में लगाते हैं। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रज्ञा (Understanding) की संज्ञाएँ संवेदनों पर किस प्रकार काम करती हैं। इसका उत्तर देने में काण्ट काल की सहायता लेता है। काल एक प्रकार से भीतरी भी है और बाहरी भी है। सब संज्ञाओं का काण्ट ने काल के शब्दों में नामकरण किया है। जैसे 'एकता' को काल का एक क्षण कहा है; 'पूर्णता' को काल का प्रत्येक क्षण और 'बहुत्व' को काल के अनेक क्षण कहा है। अपनी इस क्रिया को काण्ट ने (Schematism of the Understanding) अर्थात् प्रज्ञा का व्यवस्थापन कहा है।

ये संज्ञाएँ अनुभव के भीतर दृश्य पदार्थों (Phenomena) पर प्रयुक्त होती है; क्योंकि अनुभव में शुद्ध वस्तु नहीं आती। बाहरी वस्तु का वास्तविक रूप हमारे अनुभव में नहीं आता; और भीतरी वस्तु का भी दृश्य भाग (Phenomena) ही हमारे अनुभव में आता है। हम अपना वास्तविक स्वरूप (Nonmena) नहीं देख सकते; अपनी संज्ञा की वृत्तियों को ही

देख सकते हैं। अदृश्य का हम को विश्वव्यापी एवं अवश्यम्भावी अनुभवातीत ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये अनुभवातीत तत्व ज्ञान (Metaphysics) नहीं हो सकता। तब भी हमारी संज्ञाओं में अनुभव से बाहर जाने की प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है; इसको हम रोक नहीं सकते। किन्तु इसके फल स्वरूप भ्रम से बच सकते हैं। इस प्रवृत्ति का फल यह है कि हमारी बुद्धि (Reason) एक सृष्टि शास्त्र, आत्म शास्त्र या ईश्वर शास्त्र बनाती है। जिस प्रकार मेधा या प्रज्ञा के प्रत्यय तार्किक वाक्यों के आधार पर बने हैं, उसी प्रकार बुद्धि के प्रत्यय अनुमान के प्रकारों के आधार पर बने हैं। अनुमान तीन प्रकार का है—शुद्ध (Categorical), काल्पनिक (Hypotheticel) और वैकल्पिक (Disjuctive)। शुद्ध के आधार पर आत्मा का विचार है; काल्पनिक के आधार पर संसार का और वैकल्पिक के आधार पर ईश्वर का विचार है। यदि काण्ट अपनी बुद्धि की एक उड़ान और लेता, तो अनुमान के तीनों प्रकारों की एकता के आधार पर आत्मा, संसार और ईश्वर की एकता कर देता।

यह विचार अनुभवातीत विषयों में कार्य-कारणता, एकता, पूर्णता आदि संज्ञाओं के लगाने का फल है। किन्तु ये शास्त्र असम्भव हैं। तो फिर क्या बुद्धि का यह उद्योग निष्फल है? नहीं। सृष्टि, ईश्वर और आत्मा के विचार बुद्धि के विचार कहे जाते हैं। ये हमारे विचार के नियामक हैं। इनसे हमको विचार में बहुत सहायता मिलती है। सृष्टि शास्त्र, आत्म शास्त्र, ईश्वर शास्त्र ये सब दृश्य और अदृश्य में भेद न करने की भूल से सम्बन्ध रखते हैं।

इनके मानने में की तार्किक कठिनाइयाँ आगे दी जायँगी ।

सब से पहले आत्म शास्त्र या मनोविज्ञान पर विचार किया जाता है । आत्म शास्त्र के चार ध्येय हैं—(१) आत्मा द्रव्य है । (२) आत्मा अमिश्रित है; और उसका नाश नहीं होता । (३) आत्मा पुरुष रूप है। और (४) आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है । इसके विषय मे काण्ट का कहना है कि आत्मा का यह वर्णन अनुभव की आत्मा से भिन्न है । हमको अपनी मनोवृत्तियो का ज्ञान है कि ये एक और अमिश्रित हैं । हम अपने ज्ञान से बाहर नहीं जा सकते । यद्यपि ज्ञान की एकता के लिये ऐसी आत्मा की आवश्यकता है, तथापि हमको यह अधिकार नहीं कि आदर्श को वस्तु बना दें ।

हम दृश्य से बाहर जाकर अदृश्य के विषय मे कुछ नहीं कह सकते । विचार को वस्तु बना देना बुद्धि की भूल (Paralogism of Reasou) या बुद्धि का तर्काभास है ।

डेकार्ट ने जो सिद्ध किया था कि मैं विचार करता हूँ, इसलिये मैं हूँ, यह अनुमान ठीक नहीं है । डेकार्ट को केवल इतना ही कहने का अधिकार था कि 'विचार' है । उसका विचारों से वस्तु रूप कर्ता तक पहुँचना ठीक नहीं था ।

इसी प्रकार सृष्टि के विषय मे काण्ट ने चार सप्रतिपक्षी तर्क दिए हैं । जब इनके पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों ही ठीक हैं, तब इनके विषय में कोई निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता ।

(१) सृष्टि का सप्रतिपक्षी तर्क—

पक्ष—विश्व का समय में आरम्भ है; और देश सीमा से घिरा हुआ है ।

प्रतिपक्ष—विश्व अनादि और सीमा-रहित है।

(२) अमिश्रता का सप्रतिपक्षी तर्क—

पक्ष—जगत् अमिश्रत अणुओं में विभक्त हो सकता है और वे अणु अविभाज्य हैं।

प्रतिपक्ष—जगत् अनन्त विभाज्य पदार्थों का बना है और संसार में अविभाज्य कोई पदार्थ नहीं है।

(३) स्वतंत्रता सम्बन्धी सप्रतिपक्षी तर्क—

पक्ष—विश्व में स्वतंत्रता है।

प्रतिपक्ष—विश्व में स्वतंत्रता नहीं है और प्रत्येक घटना कार्य कारण की आवश्यकता से बँधी हुई है।

(४) ईश्वर सम्बन्धी सप्रतिपक्षी तर्क—

पक्ष—विश्व में या उससे बाहर उसका कारण रूप निरपेक्ष पदार्थ है।

प्रतिपक्ष—विश्व के अंदर या बाहर कोई निरपेक्ष पदार्थ नहीं है।

दोनों पक्षों की सिद्धि आगे दिखाई जाती है।

प्र॰

(१)

एकत

पक्ष—विश्व देश तथा काल द्वारा परिमित है।

पूर्णता पत्ति—मान लो कि विश्व देश में अपरिमित या अनन्त असम्भव क्ष विश्व अनन्त पदार्थों या हिस्सों का एक योग हुआ। सृष्टि, ईश्वर हिस्सों के जोड़ने में अनन्त काल लगना चाहिए। पर ये हमारे विचाराज इस "विश्व" का ऐसा ज्ञान सम्भव है, तो यह यता मिलती है ता चुका और अनन्त हिस्सों का योग हो चुका। दृश्य और अदृश्य हिस्सों का बना है, वे अनन्त नहीं हैं। इसलिये

विश्व को देश में परिच्छिन्न मानना चाहिए। इसी प्रकार काल में भी; क्योंकि अपरिमित मानने से प्रत्येक क्षण पर्यन्त अनन्त काल का बीत जाना कहना पड़ेगा; और अनन्त काल का व्यतीत हो जाना व्याघात है।

प्रतिपक्ष—विश्व देश तथा काल में सीमा-रहित है।

उपपत्ति—विश्व अखिल पदार्थ मात्र का पुंज है। यदि वह ससीम है, तो उसकी सीमा के बाहर क्या है? यदि कोई पदार्थ ही उसकी सीमा पर है, तो वह विश्व की सीमा नहीं, किन्तु विश्व का ही हिस्सा है। यदि सीमा पर कुछ नहीं है, तो वस्तु की सीमा अवस्तु हुई; अर्थात् कोई सीमा न हुई।

इसी प्रकार काल में भी अनादिता सिद्ध है; क्योंकि यदि विश्व का कभी किसी काल में आरम्भ हुआ है, तो उससे पूर्व के काल में कुछ नहीं था। शून्य का काल भी शून्य होगा अर्थात् कुछ न होगा। इससे विश्व अनादि है।

(२)

पक्ष—जगत् निरवयव अर्थात् अविभाज्य परमाणुओं से बना है।

उपपत्ति—यदि जगत् में अनन्त विभाज्यता मानी जाय, तो सब परमाणु भी अवयवी होंगे; और अविभाज्य अवयव न होने से अन्त में शून्य ही रह जायगा। किन्तु यह असम्भव है कि यह जगत् शून्य से बना हो; क्योंकि असत् से सत् नहीं हो सकता। इससे अविभाज्य अवयव ही परमाणु हैं और उन्हीं से जगत् बना है।

प्रतिपक्ष—जगत् में अविभाज्य कोई पदार्थ नहीं है, किन्तु अनन्त विभाज्यता है।

उपपत्ति—मूर्त जगत् के अवयव भी मूर्त होंगे। परमाणु मूर्त हैं; अतः वे कुछ आकाश अवश्य घेरेंगे; क्योंकि सब मूर्त पदार्थ सीमा या आयाम रखते हैं। जब परमाणु आकाश घेरते हैं, तब वे विभाज्य अवश्य हैं। यदि उनको अमूर्त्त या निराकार कहा जाय, तो वे मूर्त्त पदार्थों के अवयव नहीं हो सकते। निराकारों के योग से साकार की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

(३)

पक्ष—विश्व में कोई स्वतन्त्र कारण है।

उपपत्ति—यदि ऐसा मानेंगे, तो प्रत्येक कारण का भी कारण और उसका भी कारण मानना पड़ेगा जिससे अनवस्था होगी। इस अनन्त कारण शृंखला में भी कारण मात्र में कार्यत्व आ जाने से कोई कार्य उत्पन्न होना असम्भव न होगा; क्योंकि कार्य होने के लिये कारण का होना आवश्यक है और उस कारण-रूपी कार्य के लिये उसके पूर्ण कारण का होना इत्यादि।

प्रतिपक्ष—विश्व में कोई स्वतन्त्र कारण सम्भव नहीं।

उपपत्ति—यदि कोई स्वतन्त्र कारण माना जाय, तो उसकी दो अवस्थाएँ माननी पड़ेंगी। एक तो वह जिसमें कि वह हमेशा से था; और दूसरी वह जो उसने कार्य उत्पन्न करने के समय धारण की। इससे एक वस्तु की बिना किसी कारण के दो अवस्थाएँ हो गईं। पर यह मानी हुई बात है कि प्रत्येक दृश्य (Phenomena) कार्य होता है, अतः स्वतन्त्र कारण सम्भव नहीं।

(४)

पक्ष—विश्व या उससे बाहर विश्व का स्वतन्त्र और आवश्यक कारण है।

उपपत्ति—पूर्व में स्वतन्त्र कारण की जो उपपत्ति दी गई है, वही यहाँ भी लगती है।

प्रतिपक्ष—विश्व में या उससे बाहर उसका कोई स्वतन्त्र या आवश्यक कारण नहीं है।

उपपत्ति—स्वतन्त्र ईश्वर को यदि संसार का कारण मानें, तो यह प्रश्न उठता है कि यह ईश्वर संसार के भीतर है या बाहर। यदि भीतर है, तो या तो आरम्भ के समय होगा या समस्त संसार-स्वरूप ही होगा। पर आरम्भ तो एक क्षण है। उसके पहले कोई क्षण था या नहीं ? यदि आरम्भ के पहले भी क्षण था, तो आरम्भ को आरम्भ ही नहीं कह सकते; और यदि कहें कि पहले क्षण नहीं था, यह असम्भव सा है, क्योंकि काल अनादि और अनन्त है। इससे आरम्भ में स्रष्टा को नहीं मान सकते। और समस्त विश्व-स्वरूप भी ईश्वर नहीं हो सकता; क्योंकि इन परिमित, सदोष और सापेक्ष्य वस्तुओं की समष्टि कितनी ही बड़ी क्यों न हो, उससे ईश्वर बन नही सकता—जैसे एक लाख मूर्खों की समष्टि का अर्थ एक बुद्धिमान् नही हो सकता। और यदि स्रष्टा को सृष्टि के बाहर माने, तो देश काल भी सृष्टि के अन्तर्गत है। इससे स्रष्टा देशकालातीत होता है; और ऐसी वस्तु का देशकाल से सम्बन्ध नही हो सकता और न उससे देशकालावच्छिन्न संसार की सृष्टि ही हो सकती है।

इस ढंग से सृष्टिवाद के विरोध दिखाए गए हैं। इसी प्रकार काण्ट ने आत्मवाद और ईश्वरवाद में भी विस्तार-पूर्वक अनुपपत्तियाँ दिखाई हैं, जो यहाँ संक्षेप में कही जाती हैं।

काण्ट ने आत्मा और सृष्टि का खण्डन करके बड़े विस्तार से

ईश्वर के प्रमाणों का खण्डन किया है। ऐन्सेल्म, डेकार्ट आदि ने कहा है कि यदि ईश्वर कोई वस्तु न होता, तो ईश्वर का प्रत्यय हृदय में कैसे आता! पर इसका खण्डन तो गेलीलियो ने ही किया है। मनुष्य के हृदय में ईश्वर की कल्पना होने के कारण यदि उसकी पारमार्थिक स्थिति मानते हैं, तो संसार में जितने भिक्षुक हैं, वे मन में अशर्फ़ियों की कल्पना करके उनकी वास्तविक स्थिति कर लें और करोड़पति हो जायँ। इससे ईश्वर का सत्तामूलक प्रमाण (Ontological Proof) असिद्ध हुआ।

अब यदि दूसरा कार्य-कारण भावमूलक प्रमाण (Cosmological Proof) लें, तो भी कई आपत्तियाँ खड़ी होती हैं।

तार्किकों ने कहा है कि सम्पूर्ण संसार कार्य है; इसलिये इसका कोई कारण अवश्य होगा। यदि प्रथम कारण न मानें, जो कि स्वयंभू और नित्य है, तो एक का कारण दूसरा, और उसका तीसरा कारण मानना पड़ेगा; और अनवस्था दोष आ जायगा।

पर इन लोगों ने यह नहीं समझा कि स्वयंभू नित्य आकाश ईश्वर का कार्य और विकार सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है! और यदि उसमें भी विकार मानें, तो ईश्वर अनित्य हो जाता है। यदि किसी प्रकार का सम्बन्ध मान भी लिया जाय, तो भी वह कारण प्रकृति या अव्यक्त जड़ स्वरूप है या भक्तों का साकार परमेश्वर है, यह कैसे निश्चय हुआ।

अब तीसरा प्रमाण प्रयोजन मूलक (Teleological Proof) लीजिए। इसके अनुसार इस संसार में बिना प्रयोजन कोई वस्तु नहीं दिखाई देती। संसार की छोटी से छोटी

और बड़ी से बड़ी सभी चीजें किसी प्रयोजन के लिये बनी हुई जान पड़ती हैं। ऐसे सार्थक संसार का कर्त्ता अवश्य अनन्त ज्ञानवान् और पूर्ण बुद्धिमान् है। इस बात को लेकर व्याख्याता और उपदेशक लोग खूब लेकचर बाजी कर जाते हैं; और लोगो के चित्त पर इस प्रमाण का बहुत बड़ा असर पड़ता है। पर यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो यह प्रमाण अत्यन्त तुच्छ और सर्वथा असंगत है। भला देखिए तो मनुष्य अनेक कोटि सूर्य चन्द्र आदि से युक्त इस संसार के एक पृथ्वी रूपी कण को देखता है। उस सम्पूर्ण पृथ्वी के भी समस्त भागों को किसी ने नहीं देखा है। पृथ्वी पर की वस्तुओं के स्वभावों का मनुष्य को ज्ञान नहीं है। ऐसी अवस्था में प्रमेय के एक कण को देखकर अप्रमेय विषयों पर तर्क करना भारी भ्रम है। यह तो उस फल के कीड़े की सी दशा है, जो फल के अंदर रहकर उसी को समस्त संसार मानता है। और भी देखिए, वैज्ञानिक प्रमाणों से द्रव्य तो अनश्वर है; फिर उसकी सृष्टि और संहार ईश्वर कैसे कर सकता है। वृक्ष, पर्वत, तारा आदि समस्त जगत् तो स्वभावसिद्ध तर्कहीन देख पड़ता है। तो थोड़े से कृत्रिम घट, पट आदि के दृष्टान्त से उन्हे सकर्तृक माना जाय या वृक्षादि दृष्टान्तो से, जिन्हें स्वप्न में मनुष्य नहीं बना सकता, सकर्तृक माना जाय? इसके अतिरिक्त एक और बात है। आप जो प्रयोजन से ईश्वर की सिद्धि करते है, उसमें प्रयोजन किस का माना जाय? वस्तुओं में समवेत प्रयोजन है या तुम्हारी समझ में प्रयोजन दिखलाई पड़ने लगा; इसलिये उसे मानते हो? वस्तु में प्रयोजन रह नहीं सकता; और कल्पना को प्रमाण नहीं मान सकते।

इस प्रकार काण्ट ने यह दिखाया है कि संविद्वाद, परमाणु-वाद, ईश्वरवाद आदि सभी दार्शनिक कल्पनाएँ बुद्धि ज्ञान से असिद्ध हैं। वास्तविक बाह्य वस्तु अज्ञेय है और उसकी प्रमाता मानसिक स्थितियों से जो परे आत्मा है, वह अज्ञेय है; और इन दोनों अज्ञेय तत्वों का सम्बन्ध भी अज्ञेय है। इस सम्बन्ध से जो आभास होता है, वही संसार है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस संसार के आधारभूत बाह्य और आत्मिक तत्वों का वास्तविक स्वरूप क्या है। हमारी बुद्धि अनुभव से बाहर जा सकती है; और आत्मा तथा परमात्मा हमारे सवेदनात्मक अनुभव का विषय नहीं हैं। बुद्धि की स्वाभाविक प्रवृत्ति अनुभव से बाहर जाने की है; किन्तु उसको अपने बाहर के विषयों के सम्बन्ध में कहने का अधिकार नहीं है। और यदि बुद्धि इस अधिकार से बाहर जाती है, तो उसको तार्किक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। काण्ट इन कठिना-इयों को देखता हुआ वहाँ पर नहीं रुक गया। यदि आत्मा और परमात्मा सत्ता तक पहुँचने के लिये शुद्ध बुद्धि का द्वार बन्द था, तो उसके लिये कृति बुद्धि का द्वार खुल गया।

काण्ट ने अपनी "कृतिबुद्धि की परीक्षा" (Critique of Practical Reason) में यह दिखलाया है कि आचार का क्षेत्र अनुभव से स्वतन्त्र है। आचार का सम्बन्ध औचित्य से है। इसका परिमाण हमको अनुभव से नहीं मिलता। अनुभव मे जो कुछ है, वही मिलेगा। 'होना चाहिए' का ज्ञान हमको नैतिक परिमाण से मिलता है। यह परिमाण वैदिक विधि वाक्य की भाँति शुभाशुभ फल से स्वतन्त्र है। हमारा नैतिक परिमाण हम को यह नहीं बतलाता कि अपने सुख

न्या उन्नति के लिये 'सच बोलो'। इस बात में काएट का मत भगवद्गीता के सिद्धान्त से बहुत कुछ मिलता है ※। काएट के मत से कर्तव्य कर्म वही है जिसे यदि सब लोग करें, तो किसी प्रकार की बाधा न पड़े। सब लोग सच बोल सकते हैं, किन्तु झूठ नहीं बोल सकते। ऐसा कर्तव्य कर्म किसी लाभ के लिये नही करना चाहिए, वरन् कर्तव्य बुद्धि से करना चाहिए। यद्यपि प्रायः ऐसा होता है कि श्रेय एक ओर ले जाना चाहता है और प्रेय दूसरी ओर, तथापि जो लोग श्रेय की ओर जाना चाहते हैं, वे उस ओर जा सकते हैं। कर्तव्य के साथ शक्यता लगी हुई है। यदि कर्तव्य कर्म मनुष्य की शक्ति से बाहर होते, तो मनुष्य उनके करने के लिये उत्तरदायी न होता। कर्तव्य कर्म तो हम अपनी रुचि और प्रवृत्तियो के प्रतिकूल जाकर भी कर सकते हैं और कर लेते हैं; और यही हमारी स्वतन्त्रता का प्रमाण है। यही स्वतन्त्रता हमको यह बतलाती है कि हमारी आत्मा दृश्य ससार की कार्य्य कारण शृंखला से बाहर है। जो चीज कार्य्य कारण शृंखला में बँधी हुई है, वह स्वतन्त्र नही हो सकती। इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता स्थापित कर काएट ने अमरत्व और ईश्वर को भी सिद्ध किया। यद्यपि मनुष्य का कर्तव्य सुख रूपी फल से निरपेक्ष है, तथापि यह बात अनुचित होगी कि हमारे सत्कार्य का फल शरीर के नाश के साथ नष्ट हो जाय। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि मनुष्य को ऐसा संसार मिले जिसमें वह पूर्ण स्वतंत्रता के साथ कर्तव्य पालन

※ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

कर सके। ऐसी पूर्ण स्वतंत्रता भौतिक शरीर से छुटकारा पाने पर ही मिल सकती है। यह बात विचारणीय है कि कठिनाई से रहित संसार में कर्त्तव्य करने का ऐसा महत्व न होगा जैसा कठिनतापूर्ण संसार में। यद्यपि पक्षी को वायु से रुकावट होती है, किन्तु वायुमण्डल के बाहर पक्षी उड़ने में असमर्थ हो जायगा। पूर्ण स्वतंत्रता एवं अपने कर्त्तव्य का फल प्राप्त करने और कर्त्तव्य में लगे रहने के लिये अमरत्व आवश्यक है। इसके साथ संसार में बुराई को भलाई के ऊपर सत्व जमाने से रोके रखने के लिये और संसार को कर्त्तव्य कर्म करने के योग्य बनाये रखने के लिये ईश्वर की आवश्यकता है। काण्ट ने जिन बातों को शुद्ध बुद्धि की मीमांसा द्वारा अज्ञेय कहा था, उनको कृति बुद्धि की मीमांसा में ज्ञेय सिद्ध कर दिया, यद्यपि दोनों मीमांसाओं में ऐसा विरोध नहीं होना चाहिए था। काण्ट ने अपने दर्शन में यह बतला दिया कि हम बुद्धिज्ञान में अपने पुरुषत्व का अनुभव नहीं करते, वरन् अपनी क्रिया में करते हैं। अब देखिए, काण्ट अपनी तीसरी मीमांसा में क्या कहता है।

अपने तीसरे ग्रंथ में, जिसका नाम "निर्णय शक्ति की परीक्षा" (Critique of Judgment) है, काण्ट ने एक प्रकार से शुद्ध बुद्धि और कृति बुद्धि का संयोजन किया है। बुद्धि शक्ति से निश्चयात्मक सत् का ज्ञान होता है। उसमें प्रकृति के नियमों की निश्चयता का बन्धन है। कृति बुद्धि औचित्य की ओर ले जाती है। औचित्य का सम्बन्ध स्वतंत्रता से है। यदि मनुष्य स्वतंत्र नहीं है, तो उसके लिये उचित और अनुचित क्या ? इन दोनों के बीच में निर्णय बुद्धि या शक्ति पुल का काम देती है।

निर्णय बुद्धि का विषय है। सौन्दर्य और प्रयोजन-ग्राहकता शक्ति (Æsthetic and the teleological sense) के द्वारा "है" और "होना चाहिए" के बीच में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

सौन्दर्य्य में वस्तु और आदर्श दोनों ही होते हैं। इन्हीं का सम्बन्ध स्थापित करने के कारण तर्क शास्त्र में इस बुद्धि को निर्णय बुद्धि कहा है; क्योंकि तर्क का "निर्णय" (Judgment) भी दो पदार्थों में सम्बन्ध स्थापित करता है। सौन्दर्य्य द्वारा जो है, उसी में "होना चाहिए" का योग होता है। सौन्दर्य्य वस्तु में नहीं है, वरन् सौन्दर्य्य ग्राहक शक्ति का फल है। वही सुन्दर है जो सबको बिना किसी विचार के अवश्य आह्लादित करे। आह्लादित करना "गुण" का अंश है। बिना किसी विचार के इससे "सम्बन्ध" प्रकट होता है। 'अवश्य' प्रकार सूचित करता है। संस्कृत ग्रंथो में भी कवि की भारती को, जो सौन्दर्य्य-ग्राहक शक्ति का एक प्रकार है, नियतिकृत, नियम-रहिता और आह्लादैकमयी आदि विशेषण दिए हैं। सौन्दर्य्य से 'महान्' भिन्न है। इसमें शान्ति होती है। 'महान्' (Sublime) में एक ओर कल्पना से, जो परिमित की ओर ले जाती है और दूसरी ओर बुद्धि से जो अपरिमित की ओर ले जाती है, खींचतान होती है। हम जब सौर चक्र के महान् चमत्कार देखते हैं, तब यद्यपि बुद्धि उनको समझने का यत्न करती है, तथापि वे कल्पना के बाहर हो जाते हैं। प्रयोजन ग्राहकता दो प्रकार की होती है—अव्यवहित (Immediate) और व्यवहित। अव्यवहित द्वारा सौन्दर्य्य का ज्ञान होता है। सौन्दर्य्य के लिये उससे बाहर किसी कारण की

आवश्यकता नहीं—उसमें स्वयं ही प्रयोजन है। व्यवहित आवश्यकता विज्ञान की है। विज्ञान किसी उपयोगिता के सम्बन्ध से उसका प्रयोजन देखता है। इसी लिये कवि और वैज्ञानिक की दृष्टि एक ही फूल के विषय में भिन्न भिन्न होती है। कवि के लिये फूल स्वयं ही अच्छा है; वैज्ञानिक के लिये किसी कारण से अच्छा है।

बहुत से अंशों में काण्ट का मत कपिल के सांख्य से मिलता है। काण्ट भी द्वैतवादी था; और सांख्य का मत भी द्वैत है। काण्ट की अनुभवातीत अनात्म वास्तविक वस्तु की कपिल के प्रधान से तुलना की गई है और अनुभवातीत आत्मा को पुरुष से मिलाया गया है। काण्ट ने भीतर और बाहर के योग से अनुभव को बनता हुआ माना। ऐसा ही कपिल ने भी माना है। काण्ट ने अनुभव का संयोजन (Synthesis) माना है; और यही कपिल ने माना है कि इन्द्रियों के ज्ञान का मन और बुद्धि द्वारा जो संयोजन है, वही आत्मा को प्राप्त होता है। काण्ट ने ईश्वर को असिद्ध माना है। कपिल ने भी ईश्वर को असिद्ध कहा है। लेकिन यह समानता अधिक दूर तक नहीं चल सकती।

चौथा अध्याय

जरमनी का प्रत्यय वाद

(२)

फिक्ट—जरमनी के चार बड़े दार्शनिकों मे से प्रथम काण्ट था और द्वितीय फिक्ट था जिसका दर्शन यहाँ कहा जाता है। तृतीय शैलिङ्ग और चतुर्थ हैगेल के दर्शन का विवरण आगे लिखा जायगा। योहान गौटलिव फिक्ट कई स्थानों में अध्यापक रहा। अन्त मे बर्लिन में अध्यापक था जब इसकी मृत्यु हो गई। इसका मुख्य ग्रंथ 'ज्ञान का उपपादन' है।

फिक्ट, शैलिंग, हैगेल ये तीनों यद्यपि कांट के परीक्षा वाद के बाद हुए, तथापि इन लोगों की अपूर्व कल्पनाएँ परीक्षा से निरपेक्ष हुई हैं जिससे कभी कभी ये लोग कल्पना प्रधान दार्शनिक (Romantic Philosophers) समझे जाते हैं।

फिक्ट के अनुसार उत्तमता का ज्ञान अर्थात् विवेक ही आत्मा का स्वरूप है। कृति शक्ति और विवेक दोनों एक हैं और यही कृतिशक्ति वास्तविक सत्ता है। दृश्य संसार असत् है। सर्वव्यापिनी सर्वस्वरूपाकृति शक्ति का सूचक और अनुमापक यह समस्त जगत् है। इस कृति-शक्तिमय विवेक का प्रथम कार्य स्वव्यवस्थापन है। जैसे सब प्रकाश सूर्य से होता है—उसके लिये दीपान्तर की अपेक्षा नहीं—वैसे ही इस कृति शक्ति को ग्राहक की अपेक्षा

नहीं है। यह स्वप्रमितिक है। केवल स्वप्रमितिक ही नहीं वरन् स्वभावाश्रित भी है, अर्थात् इसका कारण कोई दूसरा नहीं है।

काण्ट ने अनुभव और अनुभवातीत साक्षेप और निरपेक्ष का भेद किया था। इस भेद के कारण दो तीन मत खड़े हो गए थे। कुछ लोगों ने निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों को माना और कुछ ने निरपेक्ष और साक्षेप दोनों को मिला दिया। यह मिलान निरपेक्ष के अर्थ बदलने से ही हो जाता है। निरपेक्ष के दो अर्थ हैं। एक तो वह जो सब से बाहर हो और जिसे किसी सम्बन्ध की अपेक्षा न हो। और एक वह जिससे बाहर कुछ न हो—सब सम्बन्ध उसी के भीतर हो और अपने से बाहर किसी पदार्थ की अपेक्षा न करता हो। काण्ट का निरपेक्ष पहले प्रकार का था। शेलिंग का निर-पेक्ष भी इसी प्रकार का था। फिक्ट और हैगेल का निरपेक्ष दूसरे प्रकार का था। फिक्ट ने अनुभव और अनुभवातीत को मिलाया था। वास्तव में हमारे अनुभव और संवित से बाहर कोई सत्ता नहीं हो सकती। आत्मा ही में सापेक्ष, निरपेक्ष, अनुभव और अनुभवातीत का समन्वय है। आत्मा के ज्ञान से आत्मा से बाहर कुछ नहीं रह सकता। काण्ट के साथ फिक्ट ने भी मनुष्य में कृति शक्ति को प्रधान माना है। यह संसार कृति शक्ति के ही द्वारा आत्मा से उत्पन्न होता है। अहं को अनहं का ज्ञान होता है और अनहं अहं हो जाता है। इसी प्रकार प्रवाह चलता रहता है। अहं से अनहं का संकोच और अनहं से अहं का संकोच और दोनों से एक दूसरे की स्पष्टता होती है। अनहं द्वारा आत्मा को जो रुकावट होती है, वही उसके कर्त्तव्य सम्बन्धी विकास का कारण है। इसी रुकावट से कर्त्तव्य की श्रेष्ठता है।

फिक्ट ने ईश्वर को धार्मिक संस्थान (Moral Order) के रूप में माना है। फिक्ट के अनुसार इसी धार्मिक संस्थान के प्रति हमारे धार्मिक भाव होते हैं। कर्त्तव्य करना हमारे आत्म-सम्भावन का सहायक है। कुछ काल तक फिक्ट ने अमरत्व माना है; फिर वह व्यक्ति का समष्टि में मिल जाना मानता है।

फिक्ट के दर्शन का सार यह है कि अहं अनहं को उत्पन्न करता है; और अनहं अहं के ज्ञान में आकर अहं को स्पष्टता देता है। बर्कले और फिक्ट में इतना भेद है कि बर्कले का अनहं ईश्वर के ज्ञान में वर्तमान रहता है, किन्तु फिक्ट का अनहं अहं से उत्पन्न होता है। बर्कले के प्रत्यय वाद मे फिक्ट के मत की अपेक्षा विषय-प्रधानता (Objectivity) की मात्रा अधिक है। फिक्ट का मत विषयो-प्रधान (Subjective) प्रत्यय वाद कहा गया है।

अहं का अनहं रूप में आना धार्मिक आवश्यकता और अहं की स्पष्टता के लिये होता है। अहं को अपनी शक्तियो के पूर्ण विकास के लिये अनहं की आवश्यकता है। यह अनहं अहं की कृति शक्ति द्वारा एक प्रकार की अनुद्बुद्ध अवस्था में उत्पन्न हो जाता है। उत्पत्ति होते समय अहं को अनहं का ज्ञान नहीं होता। मनोविज्ञान की भाषा में यह संवेदन (Sensation) की अवस्था है। किन्तु यह अनहं सदा अहं की अपेक्षा करता रहता है; क्योंकि अहं द्वारा ज्ञात हुए बिना इसका अस्तित्व ही नहीं। और अहं को अनहं की अपेक्षा रहती है; क्योंकि बिना अनहं के हमको अहं भाव का पूरा ज्ञान नहीं होता। आत्मा के ज्ञान में अहं और अनहं का समावेश हो जाता है। अहं से अनहं और अनहं से अहं वाली क्रिया का अन्त नहीं। वास्तव में आत्मा व्यक्ति

रूप अनेक नहीं है, किन्तु उसे अपने विकास और विस्तार के लिये अनेकता में जाना पड़ता है। "एकोऽहम् बहुस्यामि"। अहं से अनहं एक से अनेक एक तार्किक नियम से होता रहता है। व्यवस्थापन, विरोध और समावेश वा सयोजन (Thesis, Antithesis Seathesis) ये सभी क्रियाएँ विचार में लगी हुई हैं और वास्तव सत्ता में भी यही क्रियाएँ लगी रहती हैं। पहले व्यवस्थापन होता है; फिर उसका विरोध होता है; फिर पक्ष प्रतिपक्ष दोनों का संयोजन होता है। पूर्ण सत्य न पक्ष मे ही है और न विपक्ष में ही, वरन् दोनों के योग में है। इसी रीति के आधार पर फिक्ट के मत का सांकेतिक निरूपण इस प्रकार किया जाता है।

पक्ष अहं = अहं प्रतिपक्ष, अनहं अहं नहीं। संयोग। अपूर्ण अनहं = अहं और अपूर्ण अनहं = अहं। अहं अनहं से मिल जाता है और अनहं अहं से मिल जाता है।

शेलिंग—फिक्ट का सर्वोत्तम शिष्य शेलिंग था जिसने अपना एक नया ही दर्शन निकाला। लियनबर्ग नगर में इसका जन्म हुआ था। योना आदि के विद्यालयो मे यह अध्यापक था। आरम्भ में इसके ऊपर फिक्ट का प्रभाव पड़ा। फिर यह स्पिनोजा के मत से प्रभावान्वित हुआ।

फिक्ट और हैगेल इन दोनो दार्शनिकों से इसकी बड़ी मैत्री थी। इस ने यह दिखाया है कि फिक्ट के अनुसार आत्मा की अनुबद्ध अवस्था में संसार की स्वाभाविक सृष्टि होती है। आत्मा स्वयंभू है, जिससे स्वभावतः संसार का आभास होता है। पर यह बात विरोधपूर्ण प्रतीत होती है। यदि ससार आत्मा की बेखबरी में स्वभावतः उद्भूत होता है, तो आत्मा सृष्टि की अवस्था

में अज्ञ हुई, और यदि अज्ञ हुई, तो वह आत्मा ही नहीं है। अहं ज्ञान जिसे है, वही तो आत्मा है। अज्ञ को आत्मा कैसे कह सकते हैं! आत्मा और अनात्मा दोनों परस्पराधीन हैं। यदि विषयों की स्थिति हो, तो उनकी ज्ञाता आत्मा सिद्ध हो; और ज्ञाता सिद्ध हो, तो उसका ज्ञेय संसार सिद्ध हो। इसलिये आत्मा से अनात्मा हुई अथवा इसके विपरीत अनात्मा से आत्मा हुई, यह निश्चय नहीं हो सकता।

इसलिये न आत्मा स्वयंभू और स्वतंत्र है, न अनात्मा। यदि स्वयंभू कोई वस्तु है, तो वह आत्मा और अनात्मा दोनो से भिन्न है। वहाँ आत्मा अनात्मा का भेद ही नहीं। अहं और अनहं, आत्मा और अनात्मा उभय से भिन्न दोनों का मूल स्वयंभू और स्वतंत्र है। न आत्मा से अनात्मा हुई, जैसा कि संविद्वादी कहते हैं; और न अनात्मा से आत्मा हुई है, जैसा कि नास्तिक कहते हैं। इन दोनों का मूल कूटस्थ दोनों से भिन्न है। आत्मा और अनात्मा ये दो उस मूल तत्व की सांसारिक सृष्टि हैं। वह निरपेक्ष मूल तत्व रूप ब्रह्म दोनों ही मे व्यंजित होता है। प्रकृति मूक आत्मा है और अनात्मा वाचाल प्रकृति है। ज्ञान में दोनों का सम्बन्ध अपेक्षित है। न केवल आत्मा को ज्ञान होना सम्भव है, न केवल अनात्मा को। इसलिये दर्शन के दो भाग हैं—आत्म-शास्त्र और प्रकृति-शास्त्र।

ज्ञाता और ज्ञेय में परस्पर विरोध नहीं है। दोनों एक ही मूल तत्व से आविर्भूत हैं; इसलिये दोनों एक भाव से चलते हैं। प्रकृति आत्मा ही की छाया है। जैसे जैसे आत्मा चलती है, वैसे वैसे प्रकृति भी चलती है।

आत्मा और अनात्मा, बुद्धि और जड़ का जो मूल तत्व है, वह कूटस्थ है। वह भेद-रहित एकता है। यदि हम उसको किसी एक से मिलाते हैं, तो उस में दूसरे का निषेध होता है; इसलिये ब्रह्म तटस्थ है। इस बात में शेलिंग का मत वेदान्त से मिलता है।

सम्पूर्ण संसार में आत्मशक्ति व्याप्त है। वस्तुतः निर्जीव कोई वस्तु नहीं है। जड़ द्रव्य उद्भिजों के मूल हैं। उद्भिजों से प्राणियों का आविर्भाव है। मानव मस्तिष्क इस सर्वव्यापिनी जीव शक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण है। चुम्बक शक्ति, वैद्युत् शक्ति संवेदन-शक्ति ये सब इसी जीव शक्ति के स्वरूप विशेष हैं। सर्वथा मृत और सर्वथा जड़ कुछ भी नहीं है। हमें देख पड़े या नहीं, समस्त संसार सजीव और गतिमय है। संवेदन, प्रत्यक्ष और चिन्तन ये तीन बुद्धि के कार्य हैं। प्रयत्नावस्था में यही बुद्धि कृति शक्ति कही जाती है। उपन्यास, विरोध और समावेश बुद्धि के कार्य है। यही तीन अवस्थाएँ ऐतिहासिक वार्ताओं में भी देखी जाती हैं। संसार में पहले दैव का उपन्यास हुआ। मनुष्य सर्वथा दैवाधीन थे; स्वयं कुछ कार्य नहीं कर सकते थे। प्रथम अवस्था के लोग जंगलों में दैवाधीन स्वाभाविक वृत्ति से रहते थे। द्वितीय अवस्था विरोधावस्था है, जिसे रोमन लोगों ने आरंभ किया। अपनी कृति शक्ति से रोमन लोगों ने दैव को दबाना चाहा। यही दैव और पुरुष के विरोध की अवस्था अभी तक चली जाती है। धीरे धीरे तीसरी अवस्था भविष्यत् काल में आवेगी, जिस में पौरुष और दैव का फिर यथा स्थान समावेश और मेल हो जायगा। जैसा पौरुष का उद्देश्य होगा, वैसी ही प्रकृति की गति होने लगेगी। आत्मा का पूर्ण विकास कला सम्बन्धी क्रिया में होता है। कला

(Art) में जड़, चेतन, अनात्मा, स्वतंत्रता और अवश्यंभाविता की एकता हो जाती है। कलाकुशल पुरुष की प्रतिभा (Intuition) की भाँति दार्शनिक की भी प्रतिभा होनी चाहिए। उसके द्वारा सब में साम्य की खोज होनी चाहिए।

ज्ञान के द्वारा मनुष्य सर्व-कारण ब्रह्म तक पहुँचना चाहता है। पर वैद्युत् दंड के दोनों ध्रुवों में जैसा विरोध रहता है, वैसा ही ज्ञाता और ज्ञेय, अहं और अनहं में भेद रहता है जो कभी मिटता नहीं। विज्ञान तक पहुँचने से फिर भी ईश्वर ज्ञेय और जीव ज्ञाता रह जाता है। जब तक आनन्दमय कोष में न पहुँचे, तब तक वास्तिक कैवल्य नहीं होता। पहले पहल शेलिंग ने फिक्ट की भाँति ईश्वर को धार्मिक संस्थान माना है; फिर उसको जड़ और चेतन, आत्मा और अनात्मा का योग करनेवाला एकता का सिद्धान्त माना है। और फिर व्यवस्थान और विरोध की तार्किक रीति से सगुण ईश्वर माना है।

इस सगुण ईश्वर मानने के साथ उसने मनुष्य में स्वतन्त्रता मानी है। उसका कथन है कि ईश्वर का व्यंजन (Manifestation) स्वतन्त्र जीवों में हो सकता है। बहुत से लोगों का कहना है कि शेलिंग का दर्शन विरोध से पूर्ण है। वास्तव में जैसा उसको सूझता गया, वैसा ही वह प्रकट करता गया। पूर्व से विरोध बचाने के लिये आगे जाना हुआ सत्य उसने छिपा नहीं रक्खा। स्पिनोजा की भाँति उसने जड़ और चेतन को समानान्तर रेखाओं की भाँति माना। लेकिन वहीं पर वह नहीं ठहर गया; उसने जड़ में चेतन की क्रिया मानी है। स्पिनोजा की भाँति शेलिंग ने भी भेदरहित तटस्थ एकता मात्र लक्षणवाला ब्रह्म

माना है; किन्तु पीछे से सगुण ब्रह्म और मनुष्य की स्वतन्त्रता मानने में संकोच नहीं किया। वेदान्त में भी निर्गुण और सगुण ब्रह्म दोनों ही माने हैं।

हेगेल के उल्लेख से पूर्व श्लेयरमेकर (Schleirmacher) के विषय में दो एक शब्द कह देना आवश्यक है। यह एक बड़ा भावुक और प्रतिभाशाली पुरुष था। इसका जन्म ब्रेस्लॉ नगर में सन् १८२५ में हुआ था और इसकी मृत्यु १८९१ में हुई। इसने फ़िक्ट के प्रत्ययवाद को उस अंश में नहीं माना, जहाँ वह सब सत्ता को अहं का कार्य मानता है। इसके मत से दर्शन शास्त्र का मुख्य उद्देश्य ऐसे तत्व की खोज है जिसमें विचार और सत्ता की एकता हो जाय। वह तत्व ईश्वर है; किन्तु उसका बुद्धि द्वारा ज्ञान नहीं हो सकता। बुद्धि और विवेक भेद और प्रतिकूलता की ओर जाते हैं; किन्तु वह तत्त्व भेद और प्रतिकूलता से परे है। इसने ईश्वर और संसार को पृथक् माना है। ईश्वर देश काल से अपरिच्छिन्न एकता है और संसार देश काल से परिच्छिन्न अनेकता है। इसने ईश्वर में अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति नहीं मानी है; क्योंकि इसके मत से ये गुण विरोधी हैं। इसने व्यष्टि को समष्टि के अधीन माना है, किन्तु व्यष्टि में स्वतन्त्रता का अभाव नहीं माना है। इसने आत्मता या पुरुषता (Personality) पर अधिक जोर दिया है। बुद्धि और ज्ञान प्रकृति और मनुष्य में वर्तमान है। मनुष्य का कर्त्तव्य प्रवृत्तियों को दबाना नहीं, वरन् समष्टि से साम्य रखते हुए मनुष्य की वास्तविक प्रकृति का विकास करना है।

पाँचवाँ अध्याय

जरमनी का प्रत्यय वाद

(३)

हैगेल—शेलिंग का मित्र हैगेल जरमनी के प्रधान दार्शनिकों में से एक था। जॉर्ज विलहेम फ्रेड्रिक हैगेल (Georg Friedrich Hegel) का जन्म स्टटगार्ट (Stutgart) नगर में हुआ था। अन्त में यह बर्लिन विद्यालय के अध्यापक की अवस्था में बर्लिन ही में मरा। इसके ग्रंथो में तीन मुख्य हैं—(१) Phanomenologie Des Geistes अर्थात् प्रमेय शास्त्र, (२) Wissenschaft der Logik अर्थात् तर्क-शास्त्र और (३) (Encyclopedie der Philosophischen Wissenschaften) अर्थात् दार्शनिक सिद्धांतों का विश्वकोष ❀। इस अंतिम ग्रंथ में हैगेल के सब सिद्धांत मिलते हैं।

फिक्ट के मत से वास्तविक पदार्थ आत्मा है, जो एक स्वाभाविक इच्छा-रहित क्रिया द्वारा अनात्मा को उत्पन्न करके फिर अपने संकल्प द्वारा उसे अर्थात् अनात्मा को वश में कर लेता है। शेलिंग के मत से वास्तविक पदार्थ न आत्मा है और न अनात्मा; वरन् इन दोनो का मूल है जिसमे इन दोनों का भेद पूर्ण तटस्थता

❀ हैगेल के कुल आठ ग्रन्थ हैं।

की शान्ति में नष्ट हो जाता है। यह ऐसा तटस्थ सिद्धान्त है जो सब विरोधों के पूर्व है और सब को अतीत करता है।

फिक्ट का ब्रह्म आत्मा अनात्मा के द्वन्द्व में से एक है; और इस प्रकार वह अपना ही एक अंग मात्र हुआ। शेलिंग ने अनात्मा को भी उचित स्थान दिया है। उसने कहा कि आत्मा और अनात्मा एक दूसरे के लिये आवश्यक हैं। एक की स्थिति दूसरे के बिना नहीं हो सकती। इस अंश में उसने फिक्ट के विचार की कमी को पूरा किया; किन्तु उसने उन दोनों का योग ऐसे निरपेक्ष में किया जिसमें भेद के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता। वह ऐसा अभेद्य रहस्य है जिसके साथ कोई सम्बन्ध ही स्थापित नहीं हो सकता। उसमें यह नहीं मालूम होता कि उससे आत्मा और अनात्मा का उदय किस प्रकार हुआ। न वह आत्मा ही है और न अनात्मा ही! यह तटस्थता का सिद्धान्त वास्तविक सत्ता के स्थान में केवल तार्किक सामान्यीकरण (Abstraction) रह जाता है। हैगेल ने इस प्रकार के भेदशून्य ब्रह्म का बड़ा विरोध किया है। इसका कहना है कि शेलिंग का ब्रह्म उस अँधेरी रात के समान है जिसमें सब गौएँ काली दिखाई पड़ती हैं अर्थात् उसमें कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता। हैगेल के मत से आत्मा और प्रकृति का मूल आधार इनको अतीत नहीं करता, वरन् वह उन्हीं में ओतप्रोत है। चित् और अचित् ब्रह्म से बाहर नहीं हैं। शेलिंग के मत से सब पदार्थों का उदय ब्रह्म से होता है और इस कारण ब्रह्म सृष्टि से बाहर रहता है। हैगेल के मत से इस आत्मा अनात्मा के उदय का सारा सिलसिला ही ब्रह्म है। सारा विकास क्रम, यह अनन्त सृजन तारतम्य सभी

ब्रह्म है। जीवन और क्रिया का उदय ही ब्रह्म से नहीं, वरन् ब्रह्म ही जीवन और क्रिया है। ब्रह्म मनुष्य की बुद्धि से परे नहीं है। यह बुद्धि ही इस सारे विकास की नियंत्रक है। यह विकास ही ब्रह्म है और इस विकास का सिद्धान्त ब्रह्म से बाहर नहीं है। यह सिद्धान्त ब्रह्म मे बुद्धि रूप से व्यंजित होता है। बुद्धि ही जड़ प्रकृति और चेतन मनुष्य के विकास का मूल नियामक और अन्तिम लक्ष्य है। ब्रह्म और ज्ञान पर्य्यायवाची हैं। ब्रह्म का ज्ञान प्रकृति की ऐन्द्रिक और अनैन्द्रिक श्रेणियो को उत्तीर्ण करता हुआ मनुष्य में अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। कांट के विपरीत हैंगेल के मत से बुद्धि केवल शक्ति साधन या पद्धति मात्र नहीं है। इसके मत से बुद्धि विषयी के सम्बन्ध में शक्ति है और विषय के संबंध में वास्तविक सत्ता है। मनुष्य में वह उसके विचारो का परिमाण है और प्राकृतिक पदार्थों में वह उनकी मूल स्थिति एवं उनके विकास का सिद्धान्त है। कान्ट ने बुद्धि की सज्ञाओं को साँचा मात्र और केवल आकारिक माना है। हैगेल के मत से ये साँचे ही पदार्थ के निर्माता भी हैं; अर्थात् इनको पदार्थ बाहर से नहीं मिलता।

जब मानसिक एवं प्राकृतिक विकास का एक ही बौद्ध सिद्धान्त है, तब बुद्धि की इन संज्ञाओं का क्रम निश्चय करनेवाला तर्क शास्त्र ही मुख्यतम शास्त्र है। जब मन और सृष्टि का क्रम एक है, तब तर्क शस्त्र, मनोविज्ञान और तत्वज्ञान में भेद नहीं रहता। जो बुद्धि-संगत है, वही वास्तव हो जाता है (The Rational is the real) यत् प्रामाण्यं तत् सत्यं।

बुद्धि या विवेक शक्ति को स्वतन्त्र कार्य्य करने देना और

उसके एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप का क्रम निश्चित करना दार्शनिकों के मुख्य कार्य्य हैं। यह क्रम द्वन्द्वात्मक तर्क (Dialectic) द्वारा निश्चित किया जाता है। यह तर्क दो व्याघातक वस्तुओं या विचारों का एक तीसरी वस्तु या विचार द्वारा संयोजन करने में है। बौद्ध सत्ता एवं प्राकृतिक सत्ता सभी में यह नियम चलता रहता है। हैगेल ने अपने तर्क में इस सिद्धान्त का निरूपण कर के प्रकृति और मन की मीमांसा करते हुए इसको प्राकृतिक और मानसिक विकास का मूल आधार बतलाया है। सब से पहले चित्त में सत् तर्क का ज्ञान होता है। 'कुछ है' सब से पहले यही विचार होता है। और सब पदार्थ सत् ही के भेद हैं। इस सत् में द्वैत छिपा हुआ है; क्योंकि अपरिच्छिन्न सत्ता असत् के तुल्य है*। कुछ है; पर क्या है? काला, पीला या नीला कैसा वह सत् है, यह जब तक ज्ञात न हो, तब तक उस सत् में और असत् में क्या भेद है? अब यह सत्ता उभयात्मक है। सदसत् दोनों ही उसमें हैं। इसी लिये इन दोनों वस्तुओं का कहीं समावेश होना चाहिए। सत् (Being) और असत् (Non-Being) दोनों विरोधियों का समावेश भाव (Becoming) में होता है†। भाव न केवल सत् है और न

---

* हैगेल का कहना है कि शुद्ध अपरिच्छिन्न सत्ता में उसके भाव के साथ ही अभाव लगा हुआ है। यही विरोध भावी विकास का मूल है।

† बाबू भगवानदासजी एम० ए० ने अपनी 'साइन्स ऑफ पीस' (Science of Peace) अर्थात् शान्ति विज्ञान नामक पुस्तक में दिखलाया है कि यह संयोजन का विचार उपनिषदों में भी वर्तमान है। अपने कथन की

असत्। संसार में जितने भाव अर्थात् पदार्थ हैं, वे इसी सदसत् के रूप हैं। पदार्थ स्थिर (Static) नहीं है। सब की गति उन्नति की ओर है। भावी असत् सत् होता रहता है।

इसी प्रकार नए नए भेद होते जाते हैं और उनका किसी तृतीय वस्तु में समावेश होता जाता है। अन्त में सब भेदों का समावेश चित्स्वरूप स्वतंत्र परब्रह्म (Absolute idea) में होता है। लेकिन जैसा पहले बताया जा चुका है, यह ब्रह्म सब भेदों से अलग नहीं है। यह संसार में है और संसार इसमें है। किन्तु जिस प्रकार हमारे मन मे आनेवाले विचार हमारे मन का अन्त नहीं कर देते, उसी प्रकार संसार मे ही उसकी इति नही हो जाती।

ब्रह्म संसार में है और संसार को अतीत करता है। संसार बिना ब्रह्म के कुछ नही। ब्रह्म के ही द्वारा संसार सत् होता है और संसार द्वारा ब्रह्म अपने विकास को प्राप्त होता है। ब्रह्म का

पुष्टि में उन्होंने छांदोग्य उपनिषद् से ये वाक्य उद्धृत किए हैं—"एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति। तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि स ति यमिति। तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति"। अर्थात् ब्रह्म का नाम 'सत्य' है। सत्य में तीन अक्षर हैं 'स' 'ति' 'य'। 'स' अमर (आत्मा या सत्) हैं; जो 'त' है, सो नाशवान् (अर्थात् अनात्मा या असत्) है। 'य' दोनों को अपने में मिलाता है। यह बात पं० भगराज शास्त्री के लिखाए हुए प्रणववाद में और भी स्पष्ट रूप से मिलती है। 'अ' इत्यात्मा, 'उ' इत्यनात्मा, 'म' तयोरभेदम्। यदि इस अंतिम पुस्तक की प्राचीनता में लोग सन्देह करें, तो उपनिषद् वाक्य तो अवश्य प्राचीन हैं।

विकास विवेक में होता है। पहले ब्रह्म का विचार जड़ीभूत हो कर प्रकृति में विकसित होता है और तब फिर लौटकर मानस रूप धारण करता है।

आत्मा अपने विषय में वहिर्भूत होकर और फिर उसके ज्ञान द्वारा अपने में लौट आती है। मनुष्य की तार्किक शक्ति मे ब्रह्म की बुद्धि का पूर्ण विकास दिखाई देता है।

ब्रह्म के मानसिक विकास की तीन और अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। कला के सम्बन्ध मे प्रतिभा (Intuition) रूप से, धर्म के सम्बन्ध मे कल्पना (Imagination) रूप से और दर्शन शास्त्र में तार्किक विचार रुप से ब्रह्म प्रकट होता रहता है।

सत् और असत् का समावेश होने पर भाव बनता है; अर्थात् सत् और असत् दोनों के मेल से परिच्छिन्न सत्ता होती है। परन्तु ये परिच्छिन्न भाव अनन्त असंख्य हैं, अर्थात् एक प्रकार से अपरिच्छिन्न है। परिच्छिन्न और अपरिच्छिन्न का यह विरोध व्यक्ति मे साम्य को प्राप्त होता है। व्यक्ति दोनो ही है—परिच्छिन्न भी और अपरिच्छिन्न भी। व्यक्ति वस्तुत: अपरिच्छिन्न का परिच्छिन्न रूप से आविर्भाव है; और परिच्छिन्न सर्वथा अपरिच्छिन्न से भिन्न नहीं है; क्योंकि यदि भिन्न होता, तो दोनों ही परस्पर वहिर्भूत होने के कारण परिच्छिन्न हो जाते। इस प्रकार सत्ता, जो शुद्ध गुण है, परिच्छिन्न व्यक्ति होकर परिणाम स्वरुप हो गई।

यही परिणाम द्रव्य का मूल है। सत् अव्यक्त है। द्रव्य उसी का विकसित रूप है जिसका ग्रहण शीघ्र हो सकता है। द्रव्य के स्वरूपों में परस्पर सम्बन्ध होता है; इसलिये द्वन्द्व रूप से

दोनों का विकास हुआ । द्रव्य और दृश्य, शक्ति और प्रकाश, तन्मात्र और आकार, मूल और गुण, कारण और कार्य आदि सब द्रव्य के स्वरूप हैं । द्रव्य और गुण दोनों सहचारी हैं; एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकता । वस्तुतः द्रव्य और गुण एक ही हैं । गुणों को निकाल दीजिए तो द्रव्य कुछ बचेगा ही नहीं । द्रव्य गुण आदि के द्वन्द्व जो ऊपर कह आए हैं, उन्हीं का मेल प्रकृति है । प्रकृति का अर्थ है क्रिया शक्ति अर्थात् सृष्टि शक्ति । इसी प्रकृति से सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं; और फिर सब इसी में लीन होती हैं। पुनः पुनः यही उत्पत्ति और लय होता रहता है । शान्ति और स्थिरता, कूटस्थता और उदासीनता भ्रम मात्र हैं । क्रिया शक्ति पारमार्थिक है । कोई पदार्थ निष्क्रिय नहीं है । सत्ता और क्रिया दोनो का एक ही आकार है । जो सत् है, वह सक्रिय है; और जो सक्रिय है, वही सत् है ।

अपने दृश्य रूपों से अतिरिक्त कोई मूल द्रव्य नहीं है; इसलिये संसार से अतिरिक्त ईश्वर, मानस शक्तियों से अतिरिक्त आत्मा तथा गुणों से अतिरिक्त द्रव्य नहीं मानना चाहिए । धार्मिकों का उदासीन ईश्वर, तार्किको की आत्मा और वैज्ञानिकों का द्रव्य सर्वथा भ्रममूलक है । कार्य और कारण दोनों एक हैं । सत्कार्यवाद ही सिद्धान्त है; इसलिये द्रव्य और गुण एक हैं । गुण और गुणी में वास्तव में भेद नहीं है; क्योंकि गुणी गुणों का कारण है । कार्य और कारण एक हैं; यहाँ तक कि मृत्तिका का कारण घट है या घट का कारण मृत्तिका है; यह भेद करना व्यर्थ है । दोनों परस्पराश्रित और अभिन्न हैं ।

यदि कार्य न हो तो कारण में कारणता ही न आवे; यदि

कारण न हो तो कार्य न हो; इसलिये कार्य कारण वस्तुतः एक हैं। वर्षा से पानी आता है। वही पानी फिर सूखकर सूर्य की किरणों के द्वारा आकाश में मेघ रूप होता है और फिर बरसता है। इसलिये वर्षा का कारण पानी है और पानी का कारण वर्षा है। अर्थात् दोनों एक ही हैं, यही कहना उचित है। इसलिये ब्रह्म काय रूप है या कारण रूप है, यह अन्वेषण व्यर्थ है। ब्रह्म तो उभय रूप है; क्योंकि कार्य और कारण में भेद ही नहीं है। एक सत्ता शक्ति सब के पहले सर्वशक्ति विशिष्ट थी, जिससे अल्प शक्ति विशिष्ट सांसारिक पदार्थ हुए हैं, यह समझना भ्रम है। शक्ति तो एक ही है। अनेक शक्तियाँ कार्य हैं और एक शक्ति इनका कारण है, यह भेद मानना ही भ्रम है। कार्य्य कारण शृंखला में पूर्व और उत्तर का सम्बन्ध नहीं है। ब्रह्म इस शृंखला की एक कड़ी नहीं है, वरन् शृंखला ही ब्रह्म है।

यह समष्टि (जिस में कार्य कारण सब एक हैं) दो स्वरूपों में विभक्त है—एक आन्तर समष्टि और दूसरी बाह्य समष्टि। आनन्तर समष्टि का वह कार्य है जिससे मनुष्य प्रत्येक व्यक्ति में एक सामान्य गुण लगाता है। व्यक्ति और जाति के ऐक्य का ग्रहण इसी समष्टि से होता है। यह जन्तु गाय है, ऐसा जब हम कहते हैं, तब यह एक जन्तु विशेष व्यक्ति है और गाय सामान्य जाति है। इन दोनों का अभेद कैसे हुआ ? यह अभेद आन्तर समष्टि का कार्य है।

आन्तर समष्टि का स्वभाव है बाह्य आकार धारण करना। इसलिये जैसा विचार मनुष्य के चित्त में आता है, वैसा ही बाह्य वस्तु का आविर्भाव होता है। पहले मनुष्य अपने चित्त में एक

मकान का नक़शा खींचता है; फिर उसी के अनुसार वाह्य समष्टि उसे आन्तर समष्टि के आकार का बनाती है। सम्पूर्ण संसार आंतर समष्टि का अवतार या वाह्य आविर्भाव है। सामान्य, विशेष और व्यक्ति ये तीन रूप आन्तर समष्टि के हैं। गाय सामान्य है। यह जन्तु 'विशेष' है। यह गाय दोनों का ऐक्य अर्थात् व्यक्ति है। इन तीन पदार्थों (सामान्य, विशेष और व्यक्ति) का वाह्य आविर्भाव क्रमशः यांत्रिक संयोग, रासायनिक संयोग और जीवन (Mechanism, Chemism & Craganism) इन तीन रूपों में होता है।

प्रकृति की मीमांसा

यान्त्रिक संयोग

जैसे प्रत्यय आन्तर है, पर उसका धर्म है मूर्त होना, वैसे ही मूर्त वस्तु का धर्म है प्रत्यय रूप से चित्त में आना। यह जो आन्तर और वाह्य का भेद है अर्थात् मूर्त और अमूर्त का भेद है, निरपेक्ष ब्रह्म के प्रत्यय में जाकर मिल जाता है, जिसे सच्चित्स्वरूप स्वतंत्र सत्ता का परम स्वरूप कहते हैं। यहाँ पहुँचने पर फिर और कुछ अवशिष्ट नहीं रह जाता।

जैसे सत् उभयात्मक है अर्थात् असत् और सत् दोनों का ऐक्य है (जैसा कि ऊपर दिखा चुके हैं), वैसे ही वाह्य समष्टि में आकाश है। सब वस्तुएँ आकाश में हैं, इससे यह सत् है। पर इसके कोई विशेष गुण नहीं जान पड़ते; इसलिये इसे लोग शून्य अर्थात् असत् कहते हैं। यही शून्य जो विशेष रूप के अभाव के

कारण असत् है और सत्र का अधिकरण होने के कारण सत् है, गति का मूल है।

इसी गति से पृथक् सूर्य चन्द्र आदि व्यक्तियों का आविर्भाव हुआ। आकर्षण शक्ति इसी गति का स्वरूप है। इसी आकर्षण के कारण संसार एक और परस्पर संबद्ध है। नहीं तो प्रत्येक परमाणु पृथक् हो जाता और संसार का पता ही न लगता। अपरिच्छिन्न द्रव्य से परिच्छिन्न सूर्य आदि हुए। परिच्छेद का मूल गुरुत्व है। गुरुत्व विशिष्ट तारागणों में परस्पर आकर्षण के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं है। गुरुत्व प्रयुक्त परिमाण भेद के बाद द्रव्यो मे गुण भेद उत्पन्न होता है।

रासायनिक योग

द्रव्यों में परस्पर संयोग और वियोग, मैत्री और विरोध आदि के कारण प्रभा, उष्णता, वैद्युत् शक्ति आदि गुण उद्भूत होते हैं। आकर्षण से केवल बाह्य परिवर्तन होते थे; अब गुण भेद होने से द्रव्य के अभ्यन्तर तक परिवर्तन होने लगा। इस शास्त्र के अनुसार अम्लजन(Oxygen) और उज्जन (Hydrogen) के सम्बन्ध से दोनों से भिन्न गुणवाला जल उत्पन्न होना इस आन्तर सम्बन्ध का एक उदाहरण है।

जीवन शक्ति

इसी आन्तर सम्बन्ध का उच्चतम रूप जीवन शक्ति है। जो सम्बन्ध पहले आकर्षण रूप से प्रकाशित हुआ था, वही रसों में आन्तर सम्मिलन शक्ति हुआ; और वही प्राणियों में प्राणशक्ति

रूप से वर्तमान है। पार्थिव शक्ति से वृत्त का अंकुर उत्पन्न होता है। उस अंकुर से अन्न के द्वारा वही सर्वव्यापिनी शक्ति प्राणियों में आती है।

यही प्राण शक्ति क्रम से छोटे जन्तुओं के रूप में प्रकट हो कर अन्त में शुक्ति, कीट, मत्स्य, सरीसृप, जरायुज आदि परम्परा से मनुष्य रूप से प्रकट होती है। आधिभौतिक सृष्टि में मनुष्य का शरीर सर्वोत्तम है। अब यहाँ से आध्यात्मिक सृष्टि की ओर चलना चाहिए।

मन की मीमांसा *

स्वातंत्र्य और ज्ञान ये मनुष्य के चित्त के दो धर्म हैं। पहले जंगली अवस्था में मनुष्य को ज्ञान भी पूर्ण रूप से नहीं रहता और सब अपना ही अपना स्वातंत्र्य चाहते हैं। धीरे धीरे

---

* मन की मीमांसा के तीन भाग किए गए हैं। पहले में व्यक्तिगत मनस् का वर्णन है। दूसरे में सामाजिक मनस् का वर्णन है। इसमें राज्य और राज्य के कानूनों की विवेचना की गई है। तीसरे भाग में निरपेक्ष मनस् का वर्णन है। इसमें धर्म और कला का विवेचन किया गया है। व्यक्ति, समाज और निरपेक्ष में पक्ष, प्रतिपक्ष और संयोजन का सिद्धान्त लगता है। जैसा कि आगे चलकर क्रोची (Croce) के दर्शन में बतलाया जायगा, समाज और व्यक्ति में इस प्रकार का विरोध रखना उचित नहीं है। हैगेल स्वयं भी व्यक्ति, समाज और निरपेक्ष मनस् में एक प्रकार की उत्तरोत्तर उन्नति का क्रम मानता है, किन्तु यह क्रम विरोध द्वारा नहीं प्राप्त होता।

मनुष्य को और मनुष्यों के भी स्वातंत्र्य का ध्यान होने लगता है और सामाजिक जीवन का आरम्भ होता है जिससे स्वार्थ की दृष्टि घटने लगती है। काम और क्रोधमय जीवन पसन्द नहीं आता और समाज की भलाई पर दृष्टि होने लगती है। यह अवस्था तभी आरंभ होने लगती है, जब मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता की अपेक्षा दूसरों की स्वतंत्रता की ओर अधिक ध्यान देने लगता है।

पहले काम क्रोध आदि जो नियमहीन थे, अब मनुष्य उनका नियमपूर्वक दमन करके उनको अपनी उन्नति का साधन बनाने लग जाता है। विवाह से काम का दमन और नैतिक दंडों से क्रोध का दमन होता है। नियम सामाजिक जीवन का प्रधान स्वरूप है। औचित्य नियम का प्रथम आविर्भाव है।

जब कोई व्यक्ति समाज की इच्छा के प्रतिकूल चलता है, उस समय औचित्य तथा अनौचित्य दोनों के रूप स्पष्ट होते हैं। यद्यपि कभी कभी अनुचित विषयों का प्रचार हो जाता है, तथापि उसका सामाजिक दण्ड अवश्य होता है और अन्त में उचित की विजय होती है। दण्ड उदाहरण स्वरूप है। उसका उद्देश्य केवल व्यक्ति का संशोधन नहीं है, किन्तु समस्त समाज में उचित के बोध का फल दिखाना है। जब मनुष्य के हृदय में उचितानुचित का विवेक होने लगे, तब समाज की दशा अच्छी समझनी चाहिए। यदि केवल दण्ड के भय से अनुचित का परिहार हुआ, तो क्या हुआ। राजकीय कानून राज्य की शक्ति के भय से मनुष्य को बुरे काम में प्रवृत्त होने से बचाता है; किन्तु कर्तव्य बुद्धि इस भय से स्वतंत्र है। यह मनुष्य को दबाव से नहीं वरन् विचार से सदाचारी बनाती है।

हैगेल के अनुसार विवाह अर्थात् गृहस्थाश्रम समाज और राज्य के मंगल का मूल है। हमारे हिन्दू शास्त्रों मे भी गृहस्थाश्रम की बड़ी महत्ता बतलाई है—"यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व-जन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥" (मनु) कुटुम्ब के जीवन के बाद राज्य का आरम्भ होता है। राष्ट्र एक बड़ा कुटुम्ब है जिसमें सब की भलाई की ओर दृष्टि रहती है। व्यक्तिगत भलाई का खयाल न करके सब की भलाई राज्य ही में संभव है। समाज और राष्ट्र में यही भेद है। समाज में व्यष्टि की ओर पूरा ध्यान दिया जाता है और राष्ट्र में व्यष्टि को समष्टि के हित के अधीन रखते हैं। ऐसे ही विचारों के प्राधान्य से जर्मनी का सैन्यभाव (Militarism) बढ़ता गया। जो राज्य औचित्य का अनुसरण करता है, उसी की विजय होती है। अनुचित के अनुसरण करनेवाले का पराजय होता है। यद्यपि हैगेल के मत से दूसरे लोगों की इच्छा के विरुद्ध उनको अपने शासन में लाना ठीक नहीं है, तथापि यदि विजेता राज्य की सभ्यता पराजित राज्य से उत्तम हो, तो ऐसी अवस्था में पराए राज्य पर अधिकार जमाना अनुचित नहीं है। इतिहास उच्च नीच विचारों के झगड़े का इतिहास है। ऊँचे विचार नीच विचारो को दबा लेते हैं। इतिहास राजनीतिक समस्या की पूर्ति करता रहता है। प्रत्येक राज्य आदर्श राष्ट्र के निर्माण में योग देता है। पर कोई राष्ट्र पूर्ण नहीं है, इसी लिये राज्यों का नाश हो जाता है। जो द्वन्द्वात्मक तर्क हमारे मानसिक विकास में काम करता है, वही इतिहास रूप से राज्य के निर्माण, लय तथा पुनरुत्थान में काम करता है। युद्ध इसी तर्क का साधन समझना चाहिए। हैगेल का कहना है कि अगले जमाने

में लोग युद्ध का यथार्थ अभिप्राय नहीं समझते थे; परन्तु अब वे समझने लगे हैं कि युद्ध सभ्यता और विचारों के जय पराजय का युद्ध है। इतिहास में भी विकास की तीन श्रेणियाँ उलट फेर करके आती रहती हैं। पूर्वीय राजतन्त्र राष्ट्रों में राष्ट्र राजा में मूर्तिमान रहा करता था और उनमें व्यक्ति के लिये कोई स्थान न था। जो कुछ था, वह राजा ही था; व्यक्ति कुछ न थी। यूनान के राज्यों में राजनीतिक जीवन का आरम्भ माना जाता है। यूनानी राज्य प्रजातंत्र थे। उनमें व्यक्तियों द्वारा ही राज्य की स्थिति रहती थी। जब तक व्यक्तियों में साम्य रहा, तब तक राज्य रहा; उसके पश्चात् राज्य की इति हो गई। हैगेल के मत से प्रजातंत्र राज्य आदर्श राज्य नहीं हैं। इंगलिस्तान जैसे परिमित राजतंत्र राज्य में व्यक्ति और राष्ट्र के अधिकारों में साम्य स्थापित हो जाता है; इसी लिये इसके मत से वह आदर्श राज्य है *।

राष्ट्र चाहे जितनी उन्नति और पूर्णता को पहुँच जाय, वह विकास का अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकता। राजनीतिक जीवन में आत्मा की उन्नति चरम सीमा तक नहीं पहुँच सकती। मानसिक

---

* वास्तव में प्रजा और राजा अथवा व्यक्ति और राष्ट्र के उचित अधिकारों को निश्चित करना बहुत कठिन है। इंगलिस्तान के लिये भी यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ पर यह समस्या पूरी तौर से हल हो गई है। युद्ध के दिनों में युद्ध के सात्विक विरोधी लोगों को बड़ी कठिनाई पड़ी थी। पूर्वी देशों के लिये भी यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ राजा के आगे प्रजा कुछ न थी। भारतवर्ष के राजा लोग लोकमत का बहुत ख़याल रखते थे।

जीवन का मूल तत्व स्वतंत्रता-जन्य शान्ति है। कुटुम्ब, समाज और राज्य ये सब वहाँ पहुँचने की सीढ़ियाँ हैं। प्रकृति का विधान है कि जिन सीढ़ियों से अंतिम उद्देश्य का लाभ होता है, वे सीढ़ियाँ भी सुरक्षित रहती हैं; क्योंकि उनसे फिर भी कार्य लेना रहता है। इसलिये कुटुम्ब आदि की रक्षा करते हुए मनुष्य को उसकी नैसर्गिक स्वतंत्रता के स्वरूप कला, धर्म और तत्व ज्ञान इन तीनों पुरुषार्थों की भी सिद्धि करनी चाहिए।

मनुष्य का चित्त पहले स्वार्थ की ओर था। उसके पश्चात् सामाजिक बुद्धि का आविर्भाव हुआ जिसमें स्वार्थ और परार्थ दोनो का खयाल होने लगा। फिर अन्त में अपने में लौटकर सौन्दर्य, ईश्वर और सत्य में (अर्थात् सच्चिदानंदमय ईश्वर में) मिलकर आत्मा शाम होता है और परम सुखी और स्वतंत्र हो जाता है। इस अवस्था में भी क्रम है। स्वातंत्र्य की पहली सीढ़ी कला है। कला के आनन्द में वह रस उत्पन्न होता है जिसे महाकवि लोग ही जानते हैं। उसमें स्वर्ग पृथ्वी पर आ जाता है और चित्त स्वर्ग को चढ़ जाता है। अब धर्म का उद्भव होता है। जिसकी कला ने, जिस सर्वव्यापी ईश्वर ने आनन्दमयी छाया दिखाई थी, उसी का और स्पष्ट भान होने लगता है। वह अनन्त, अप्रमेय और अप्राप्य ईश्वर—जिस तक संसार में वह आत्मा पहुँचना चाहती है, परन्तु बन्धन होने के कारण पूर्णतया पहुँच नहीं सकती—इस संसार के ऊपर वर्तमान दिखाई पड़ने लगता है। अभी परिच्छिन्न प्रमेय और अपरिच्छिन्न अप्रमेय अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का भेद बना रहता है; पर धर्म से ईश्वर और जीव का बहुत सामीप्य हो जाता है और ज्ञान का आविर्भाव होता है। जिसकी छाया मात्र कला-

धर्म ने दिखलाई थी, वह साक्षात् ज्ञानावस्था में आ पहुँचता है। सब भेद नष्ट हो जाते हैं और जीव देव भाव को प्राप्त हो जाता है।

मूर्त द्रव्य को चित्तानुसार बनानेवाली कला है। मूर्त द्रव्य छटपटाता है, रोकता है, तथापि चित्त अवश्य उसके ऊपर अपनी मोहर बैठा देता है। द्रव्य और चित्त के विरोध के कारण कला के अनेक भेद हैं। सब से मोटी गृह-निर्माण की कला है। जैसे सूर्य, चंद्र आदि तारकमय लोक संसार में प्रथम उत्पन्न हुए हैं, वैसे ही कला में प्रथम मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर आदि हैं। ये केवल चिह्न हैं। जिस अनंत अप्रमेय का ये प्रकाश करना चाहते हैं, उसका पूर्ण प्रकाश नहीं कर सकते। ये मिट्टी, पत्थर आदि अत्यन्त मोटी चीजों के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म परमेश्वर की महिमा का प्रकाश करना चाहते हैं। इसके बाद मूर्तियों का निर्माण होता है। मूर्तियों में भी पत्थर, पीतल आदि मोटी ही चीजों को उपयोग में लाते हैं। पर जिस वस्तु का मूर्ति से प्रकाश करना चाहते हैं, उसके प्रकाशन की मंदिर आदि से मूर्तियों मे अधिक सामर्थ्य है। चित्र की कला इसके बाद आती है। इसमे मूर्त द्रव्य का घनत्व निकालकर केवल समतल पर अद्विगत ज्ञान का पूर्ण रूप दिखलाते हैं। तथापि मूर्त द्रव्य ही से चित्र भी बनते हैं; इसलिये अभी तक ज्ञान का स्वातन्त्र्य कला में प्रकाशित नहीं होता। गृह निर्माण, मूर्ति और चित्र ये सब बाह्य कलाएँ हैं। अन्त में अचाक्षुष शब्द ब्रह्म का नाद विद्या में आविर्भाव होता है, जहाँ मूर्त द्रव्य से सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है। नाद विद्या आध्यात्मिक कला है जिससे सब आन्तरिक भावों का प्रकाश हो सकता है। अन्त में

मूर्त अमूर्त सब भेदों को मिटानेवाली रसमय कविता का आविर्भाव होता है, जिसमे मूर्त पदार्थ और शब्द ब्रह्म का ऐक्य हो जाता है। यह कविता कलाओं की कला और विद्याओं की विद्या है।

कविता वह कला है जो सब का वर्णन कर सकती है—सब की नई सृष्टि कर सकती है; अर्थात् यह विश्वव्यापिनी एवं विश्वरूपिणी विद्या है ❀। ताराओं के ऊपर जो शासन कर्त्ता ईश्वर है, वास्तु विद्या से उसकी सूचना मात्र होती है। मूर्त्ति रूप मे वही ईश्वर पृथ्वी पर पहुँचाया जाता है। नाद विद्या से ईश्वर भाव मे स्थित होता है। कविता के द्वारा वही ईश्वर अनन्त, अप्रमेय प्रकृति और इतिहास में निवेशित होता है। ईश्वर की भाँति कविता भी सर्वशक्ति-मती और शाश्वत है। हमारे यहाँ तो काव्य को विष्णु का अंश ही कहा है—

काव्यालापाश्च ये केचिद्गीतकाव्यखिलानि च।
शब्दमूर्ति धरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः॥

❀ इस सम्बन्ध में मम्मट कृत काव्यप्रकाश के आदि में दी हुई भारती देवी की यह प्रार्थना भी ध्यान देने योग्य है—

नियति कृत नियम रहितां ह्लादैकमयीमनन्य परतन्त्राम।
नवरसरुचिरां, निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

इसमें 'अनन्य परतन्त्राम्' विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। कलाओं में कविता की श्रेष्ठता इसलिये मानी गई है कि वह बाहरी सामग्री के अधीन नहीं है। काव्य की सृष्टि को ब्रह्मा की सृष्टि से प्रधानता दी है, क्योंकि ब्रह्मा की सृष्टि कर्म के नियमों के अधीन है और उसमें सुख दुख दोनों ही होते हैं; पर काव्य की रचना केवल सुखमयी है।

वास्तु विद्या और नाद विद्या ईश्वर को संसार से पृथक् एक स्थान में कहीं सूचित करती; इसलिये वह भक्ति मार्ग की सहचारिणी है। मूर्ति विद्या, आलेख्य विद्या और कविता ये सर्वव्यापी सर्व स्वरूप ज्ञानमय ईश्वर को बतलाती हैं और ज्ञान मार्ग की सहचारिणी हैं। इसी लिये पूर्व के ज्ञानियों में मूर्ति-पूजा प्रचलित है। महाकवि लोग भी ज्ञानी हैं; किसी विशेष द्वैतवादी धर्म के अनुगामी नहीं हैं। कविता में जीव और ब्रह्म का वास्तविक ऐक्य हो जाता है और धर्माधर्म का भेद मिट जाता है। कविता सर्वकला का स्वरूप, सर्वकला सारांश है। कविता में मन्दिरों की सृष्टि हो जाती है, मूर्तियाँ खड़ी हो जाती हैं, नकशे खिंच जाते हैं, चित्र निकल आते हैं। जैसे नील नदी के किनारे बड़े बड़े सूच्याकर-स्तम्भ (Pyramids) खड़े हैं, वैसे ही कविता नदी के किनारे ऐतिहासिक महाकाव्य (Epics) (रामायण, भारत आदि) खड़े हैं।

भावगर्भ (Lyric) (मेघदूत आदि) काव्यों की कविता नाद विद्या की सी है। जैसे महाकाव्य (भारत आदि) में बाह्य ऐतिहासिक चित्र हैं, वैसे ही भावगर्भ काव्य मन के विकारों के उद्रेक हैं। ये दोनों अपूर्ण एकांशपरक हैं। नाटक मे दोनों का मेल और पूर्णता होती है। उसमें इतिहास और भाव दोनों ही मिलते हैं। महाकाव्य में बाहरी सृष्टि का वर्णन होता है और खण्ड काव्य में भीतरी सृष्टि का है। नाटक में भीतरी बाहरी दोनों ही सृष्टि का वर्णन होता है। इसी लिये कहा है—काव्येषु नाटकं रम्यम्।

कला के इतिहास में तीन भाग हैं। पहले पूर्व के देशों (भारत आदि) में कला का उद्भव हुआ। यहाँ आकार की

पूर्णता पर कम ध्यान रहा। यहाँ हास्योत्पादक अत्युक्तिमय अति विशाल मन्दिर और चित्र आदि बने जिनका अर्थ स्वयं स्पष्ट नहीं है, बड़े परिश्रम से समझ में आता है। यहाँ अप्रमेय अपरिच्छिन्न की ओर अधिक ध्यान रहा। मूर्त साकार सौन्दर्यमयी कला का आविर्भाव यूनान देश में हुआ जहाँ की मूर्तियों का सौन्दर्य आज तक अतुलित है। यद्यपि इनमें विचार और सामग्री का ऐक्य है तथापि भौतिक सौन्दर्य्य की प्रधानता है। अन्त में ईसाई मतानुगामियों में चित्र विद्या की पूर्णता की ओर अधिक ध्यान दिया गया और इटली में चित्र कला पराकाष्ठा को पहुँच गई। इसमें शारीरिक सौन्दर्य्य के स्थान में धार्मिक सौन्दर्य की प्रधानता रहती है।

इतना तो कला के विषय में हुआ। अब कला से धर्म का क्या सम्बन्ध है, सो देखना चाहिए। कलाकौशल प्रवीण यद्यपि कभी आनन्दवश संसार को भूलकर अपने को ईश्वर से अभिन्न समझने लगता है, तथापि जब वह अपने विचारों को बाहर लाना चाहता है, तब अपनी असमर्थता स्वयं समझने लगता है और अशक्त होकर मूर्ति आदि में ईश्वर का विन्यास कर भक्ति मार्ग का अवलम्बन करता है।

प्रतिमोपासना कला और धर्म के मध्य की शृंखला है। यहीं से धर्म और भक्ति का आरम्भ होता है। कितने ही धर्म मूर्ति-पूजा का खण्डन करते हैं। पर धर्म का तो सारांश ही साकारवाद है। मूर्ति पूजा रहित धर्म भी ईश्वर को चित्त में समझने का उपदेश करते हैं। चित्त में ईश्वर को लाना भी उसे साकार ही बना देना है; क्योंकि निराकार का तो ध्यान भी नहीं हो सकता; इसलिये किसी

धर्म में द्वैत नहीं जाता। जीव की शुद्धता और ईश्वर की महामहिमता पृथक् बनी रहती है।

पहले पूरब के धर्मों में सृष्टि-स्थिति-संहारकारी एक ईश्वर का ज्ञान हुआ। जिस प्रकार पूर्वीय राजनीति में राजा के सामने प्रजा कुछ नहीं, उसी प्रकार ईश्वर के सामने मनुष्य कुछ नहीं रहा। फिर यूनान मे मनुष्य ही सब कुछ समझा जाता था; ईश्वर पीछे रह गया। धर्म ने कला का रूप धारण कर लिया। जिस प्रकार एशिया में अनन्तता की दुहाई दी जाती है, उसी प्रकार यूनान में सांत की पूजा होती है। ईसाई धर्म में ईसा के अवतार द्वारा ईश्वर और मनुष्य दोनों का ऐक्य हुआ। ईसाई धर्म का ईश्वर न तो एशियावालों के ईश्वर की भाँति सीमा-रहित है और न यूनानवालों के ईश्वर की भाँति ससीम है। वह ईश्वर और मनुष्य का योग है। ईसाई धर्म श्रेष्ठतम है। परन्तु धर्म का आधार कल्पना में है। वह सत्य को मानसिक चित्रों द्वारा व्यंजित करता है। सत्य के क्षेत्र में सांत और अनन्त की जो एकता प्रति क्षण होती रहती है, वह ईसाई धर्म में एक ही बार ईसा के अवतार में हो कर रह गई *। इसके अतिरिक्त धर्म एक प्रकार के बाहरी अधि-

---

* इसके लिये ईसाई धार्मिक लोग यह कहेंगे कि यद्यपि ईसा मसीह का अवतार एक ही बार हुआ है, तथापि ईसा मसीह पिता, पुत्र, पवित्रात्मा की त्रिपुटी (Trinity) में सदा से वर्तमान हैं।

हैगेल ने जो ईसाई धर्म को सर्वोत्तम बतलाया, उसे एक प्रकार का पक्षपात ही समझना चाहिए। यह हमको खेद के साथ लिखना पड़ता है; लेकिन हमारी समझ में ईसाई दार्शनिकों के सिद्धान्त हैगेल के सिद्धान्त से नहीं मिलते। यदि हैगेल का तर्क लगाया जाय तो ईश्वर के विचार

कार द्वारा मनुष्य को नियम में रखना चाहता है; परन्तु आत्मा नैसर्गिक रूप से स्वतन्त्र है। यह स्वतंत्रता केवल ज्ञान ही में प्राप्त हो सकती है। दार्शनिक सत्य का रूप बुद्धिसिद्ध प्रत्यय है। उसी के द्वारा हमारा ज्ञान निरपेक्ष स्वप्रभा को प्राप्त होता है।

और सब इतिहासों की भाँति दार्शनिक इतिहास में भी द्वन्द्वात्मक तर्काश्रित क्रम-विकास है। नए विचार पिछले विचारों का विरोध करते हैं और उनका भी एक अधिक व्याप्तिवाले विचार में समावेश हो जाता है। इसी प्रकार यह क्रम चलता रहता है। पहले पार्मेनिडीज़ ने सत्ता को स्थिर माना। फिर हेरेक्लिटस ने उसको विकारी माना। इसके बाद परमाणु वादी आए। उन्होंने पारमेनिडीज़ और हेरेक्लिटस दोनों की थोड़ी थोड़ी बात मानी। इसी क्रम से अन्त में हैगेल के निरपेक्ष ब्रह्म में आत्मज्ञान की स्वतंत्र अवस्था आ पहुँची है।

में क्या न्यूनता है जो ईश्वर को पुत्र या अवतार की आवश्यकता हुई? ईसाई लोग ईसा के सिवा ईश्वर को भी मानते हैं। उस ईश्वर का हैगेल के निरपेक्ष से कैसे तादात्म्य हो सकता है, यह भी समझ में नहीं आता।

ईसाई अपने धर्म की श्रेष्ठता बतलाने एवं अपने तर्क की पुष्टि करने के लिये ही बेचारे एशियावालों के धर्म को नीचतम श्रेणी में रखते हैं। यद्यपि एशिया में अनन्ता का प्रभाव बढ़ा चढ़ा है, तथापि यहाँ सान्तता का नितान्त बहिष्कार नहीं है। अवतार वाद, जिसमें अनन्त और सान्त का योग है, एशियावालों का ही विचार है। ईसा मसीह का जन्म भी एशिया में ही हुआ था। यह नहीं मालूम कि और अवतार-प्रतिपादक धर्म होते हुए भी ईसाई धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ होने का परम सौभाग्य क्यों प्राप्त हुआ।

हैगेल को बहुत से लोगों ने जर्मनी का सब से बड़ा दार्शनिक माना है। इस का प्रभाव वास्तव में बहुत दूर दूर तक पड़ा। कोई बात ऐसी न थी जिसको यह खींचकर अपनी तार्किक पद्धति में न ले आया हो। यह सभी बातों को नियम और व्यवस्था में लाया था। लेकिन यही बात, जो इसके महत्व की थी, इसकी कमज़ोरी है। सत्ता तर्क शास्त्र की अनुचारी बन जाती है। किसी ने हैगेल के संबंध में उपहास किया था कि क्या वह अपने कान पर की कलम की तार्किक पद्धति सिद्ध कर सकता है। इस प्रकार की तार्किक पद्धति का और भी उपहास किया गया है। एक ने तार्किक पद्धति से ऊँट की सत्ता सिद्ध करनी चाही थी। ब्रह्म के विकास में व्यवस्थान और विरोध के नियम से जल और रेगिस्तान आवश्यक हैं। फिर रेगिस्तान की आवश्यकताओं में ऊँट आ ही जाता है।

यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि संसार के विकास में नियम और व्यवस्था है, तथापि उस नियम और व्यवस्था को व्यवस्थान, विरोध और संयोग की त्रिपुटी में संकुचित कर देना सत्ता का वैचित्र्य और महत्व घटाना है। हैगेल के गुण-दोषों का निरूपण करना वर्तमान लेखक की सामर्थ्य से बाहर है। किन्तु यहाँ पर इतना कह देना आवश्यक है कि काण्ट के दर्शन से जिस बुद्धि का ह्रास हो गया था, हैगेल ने उस बुद्धि की प्रधानता पुनः स्थापित कर दी। हैगेल विचार को स्थिरता से गति की ओर ले गया और उसने अनावश्यक भेदों को दूर कर दिया।

बहुत से लोग हैगेल और शंकर की समानता करते हैं। इस विषय में केवल इतना ही कहना है कि यह समानता बहुत

ऊपरी है। हैगेल की अपेक्षा शंकर का मत फिक्ट और शेलिंग से अधिक मिलता है। अगर इस मत की कुछ समानता है, तो शुद्धाद्वैत और विशिष्टाद्वैत से है। शंकराचार्य्य के निर्विशेष ब्रह्म का हैगेल ने खण्डन किया है। श्री शंकराचार्य्य ने भी भावी आक्षेपों का पहले ही खयाल करके लिखा है—'रूपगुण-विरहितं निर्विशेषं ब्रह्म मन्दबुद्धिनां असदिव प्रति भाति'। अर्थात् रूप गुण विरहित निर्विशेष ब्रह्म मन्द-बुद्धि लोगों को असत् सा मालूम होता है। पर इससे यह न समझा जाय कि हैगेल वास्तव में मन्द-बुद्धि है। ऐसा समझना दुःसाहस होगा ❀।

❀ इस बात का पूर्ण निश्चय करना बहुत ही कठिन है कि हैगेल और श्री रामानुजाचार्य्य के मत के अनुसार विशिष्ट ब्रह्म माना जाय या श्री शंकराचार्य और शेलिंग का निर्विशेष ब्रह्म।

छठा अध्याय

हैगेल के बाद का जरमन विचार

शौपेनहोर—जो गति सब बड़े बड़े दार्शनिक सिद्धान्तों की होती है, वही हैगेल के दर्शन की भी हुई। हैगेल के मत के विरोध में कई आन्दोलन खड़े हो गए। पहले वर्णन किए हुए जर्मन विचार की एक बात का खण्डन हुआ। वहाँ के प्रत्यय वाद के स्थान मे वस्तु वाद और एक वाद के स्थान में अनेक वाद इत्यादि प्रतिकूल मत उठ खड़े हुए। कुछ लोगों ने कहा कि संसार का आधार बुद्धि में नहीं है; और बहुत सी ऐसी बातें बताई जो संसार में बुद्धि के अभाव का परिचय देती हैं। ऐसे लोगों ने बुद्धि को छोड़ मन की और शक्तियों को प्रधानता दी। इस विरोध के मुख्य दो नेता हैं—एक शौपेनहोर और दूसरा हर्बर्ट। शौपेनहोर ने संसार को दु:खमय मानकर कृति की शक्ति-प्रधानता बताई; और हर्बर्ट ने वस्तुवाद स्थापित कर अनेकवाद का प्रचार किया।

आर्थर शौपेनहोर अपने को काण्ट और भारतीय दर्शन का अनुगामी समझता था। इस का जन्म जर्मनी के डैंजिक नगर में हुआ। प्लेटो के अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों में कदाचित् शौपेन-होर के बराबर लेख शैली की उत्तमता रखनेवाला और कोई नहीं है। इसका जीवन भी अपूर्व और स्वतंत्र ही ढंग का था।

इसने काण्ट, प्लेटो और बुद्ध के दर्शनो का विशेष श्रम से अभ्यास किया था। इसका मुख्य ग्रंथ "संसार, संकल्प और संवित्स्वरूप" (Die welt als wille and Vorstellung) है। हैगेल की इसने बड़ी निन्दा की है और काण्ट की प्रशंसा की है। संसार पारमार्थिक रूप में स्वतंत्र हमारी इच्छा और ज्ञान के अपराधीन है। यदि हमारी इन्द्रियों की रचना किसी अन्य प्रकार की होती, तो संसार दूसरी ही रीति का मालूम होता। यह बात सत्य है, तथापि अनुभव रूप दृश्य संसार ही हमारे अधीन है। इस अनुभव की प्रयोजक पारमार्थिक वस्तु हमारे चित्त के अधीन नहीं है। काण्ट ने इस स्वतंत्र पारमार्थिक वस्तु को माना है। पर उसने इसे ज्ञान का अविषय तथा कार्यकारण भावादि सम्बन्ध से बाहर माना है; इसलिये उसका मानना न मानना एक ही है। जब इस वस्तु का ज्ञान भी नही हो सकता, तब यह कहना कठिन है कि काण्ट के मत से दृश्य के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यहाँ ज्ञान की प्रयोजक बाह्य वस्तु है, इसमे किसी को सन्देह नही है। इसलिये बाह्य वस्तु का अभाव नहीं कहा जा सकता। वह बाह्य वस्तु कैसी है, बस हम इतना ही नहीं कह सकते। पर यदि गंभीर विचार किया जाय तो सम्भव है कि हमारा अनुभव बाह्य वस्तु का प्रतिबिम्ब हो; क्योंकि प्रयोज्य और प्रयोजक सर्वथा विसदृश हों, यह संभव नहीं है। यदि प्रमाता केवल प्रमाता ही होता, तो उसे यह ज्ञान ही न हो सकता कि प्रमेय प्रयोजक पारमार्थिक सत्ता कैसी है।

पर प्रमाता स्वयं प्रमेय भी है। जैसे अनुभव-प्रयोजक और वस्तुएँ हैं, वैसे ही स्वयं प्रमाता भी उनमें से एक है। इसलिये काण्ट के परीक्षा वाद से प्रमाता और प्रमेय में जो भेद पड़ा था,

वह सर्वथा निकल गया। फल यह हुआ कि लोग मानने लगे कि जैसे मैं स्वयं अपने ज्ञान का प्रयोजक अर्थात् एक प्रमेय हूँ, वैसे ही मेरे सदृश प्रायः और भी प्रमेय होंगे।

इसलिये प्रमाता का पारमार्थिक स्वरूप कैसा है, उसका वास्तव स्वभाव क्या है, यह यदि निश्चय हो जाय तो केवल प्रमाता ही का नहीं, वल्कि उसके साथ प्रमेय का भी स्वभाव निश्चित हो सके। डेकार्ट, स्पाइनोज़ा, लीब्निज़, वर्कले, हैगेल आदि प्रत्यय वादियों के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। इसलिये लीब्निज़, हैगेल आदि ने सब वस्तुओं में ज्ञान माना है; पर यह अनुभव के विरुद्ध है। शरीर ही में रुधिर प्रचार आदि के कितने ऐसे कार्य होते रहते हैं, जिनका हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। जड़ चेतन का भेद प्रसिद्ध है। जड़ों में ज्ञान का अभाव है। सब वस्तुओं में केवल संकल्प शक्ति (will) देखने में आती है। इच्छा, प्रयत्न, अभिलाषा, आकांक्षा, सब इसी के रूपान्तर हैं। जड़ों में भी एक परमाणु की दूसरे परमाणु की ओर प्रवृत्ति है। यही जगत की गति का कारण है। इसी इच्छा * के कारण एक तत्व दूसरे तत्व से मिलता है। यह इच्छा कभी ज्ञानपूर्वक होती है और कभी ज्ञान से रहित होती है। अधिक प्रभा पड़ने पर आँख अनिच्छया भी मुँद जाती है। यदि ज्ञानपूर्वक इच्छा हो तो उसका बल बहुत बढ़ जाता है। कितने ही हबशी लोग जान बूझकर अपने आप ही श्वास का

* इच्छा संकल्प का प्रारम्भिक स्वरूप है; इसलिये संकल्प के स्थान में इसका व्यवहार किया गया है। दूसरा सुभीता यह है कि संकल्प को ज्ञान-रहित कहना अनुचित होगा। हाँ, इच्छा के साथ यह विशेषण लगाया जा सकता है।

अवरोधन कर आत्मघात कर लेते हैं। (प्राचीन समय में पति के मरने पर स्त्रियाँ इसी प्रकार आत्मघात कर लेती थीं।) ज्ञानपूर्वक होने पर इच्छा स्वतंत्र कही जाती है। पर यह इच्छा ज्ञानपूर्वक हो या अज्ञानपूर्वक हो, है सब रूपों में एक ही। शरीर और बुद्धि थक जाती है, इच्छा निद्रावस्था में भी जागती रहती है। इसी इच्छा से स्वप्न होते हैं। यह अविश्रान्त और शाश्वत है। शरीर के भी पहले से यह इच्छा थी। शरीर तो इच्छा ही का फल है। जैसी आत्मा की इच्छा होती आई है, वैसे ही परिवर्तन शरीर मे होते गए हैं। शरीर की सृष्टि इच्छा-नुसार है, यह बात भिन्न जन्तुओं की शरीर-रचना देखने ही से स्पष्ट हो जाती है।

सींग होने के कारण बैल या बकरा टक्कर मारता हो, यह बात नहीं है। सींग होने के पहले ही से ये जन्तु सिर से टक्कर मारते थे; इसी लिये इनमें सींग निकले हैं। गर्भ में जिस अंग से देखने की इच्छा होती है, वही अंग आँख के रूप में परिणत हो जाता है। जिनसे श्वास लेने की इच्छा होती है, वे अंग फेफड़े हो जाते हैं। ऐसे ही और इन्द्रियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। जो पक्षी शिकार करते हैं, उन्हें बड़े चंगुल आदि होते हैं। जो सरीसृपों को खाते हैं, वे लम्बे ठोर के होते हैं। जो जन्तु भागते हैं, उनके पैर तेज और पतले होते हैं। जो छिपकर रहना चाहते हैं, उनके रंग वैसे ही होते हैं जैसी जगहों या जिन चीजों में वे छिपना चाहते हैं। इन उदाहरणों में स्थित रहने का संकल्प (Will to be) देखा जाता है। जहाँ किसी प्रकार कार्य नहीं चलता, वहाँ बुद्धि द्वारा इच्छा अपनी रक्षा करती है। मनुष्यों में इच्छा का अक्ष

बुद्धि है। बुद्धि से यहाँ तक होता है कि इच्छा का वास्तविक रूप छिप जाता है और शत्रु को पता नहीं लगता कि किस इच्छा से कौन व्यक्ति प्रवृत्त है। इसलिये इच्छा का ब्रह्मास्त्र बुद्धि है—इससे उसके बहुत कार्य से सिद्ध होते हैं।

यह इच्छा प्राणियों में ही नहीं, जड़ो मे भी देखी जाती है। बीज चाहे जिस प्रकार बोया जाय, उसकी जड़ तरावट चाहती है; इसलिये जड़ के तन्तु नीचे को जायँगे; और अग्र भाग रोशनी चाहते हैं इसलिये वे ऊपर को जायँगे। कितने पौधे पत्थर और ईंट फोड़कर प्रकाश मे पहुँचते हैं। दूर से प्रतान फेंककर लता अपने आश्रय को खोज लेती है। बीच की सृष्टि में इच्छा नियत रूप से है। किस वृक्ष या किस जन्तु का क्या स्वभाव है, यह स्पष्ट जाना जा सकता है। केवल खनिज में और मनुष्य में अर्थात् अत्यन्त बुद्धिमान् जो सृष्टि के दो अन्त हैं, उन्हीं की इच्छाशक्ति का नियत रूप नहीं है। व्याघ्र सर्वदा हिंस्र, मृग अहिंस्र और शान्तिप्रिय होता। कोई वृक्ष सूखी जगह कोई ठण्ढी जगह होते हैं। पर मनुष्य किस देश मे हिंस्र कहाँ अहिंस्र, किस देश को चाहनेवाला किसको न चाहनेवाला होगा, इत्यादि जानना वैसा ही असम्भव है जैसा कि खनिज पदार्थों की पूर्ण प्रवृत्ति जानना है। तथापि चुम्बक लोहे की सूई सदा उत्तर की ओर रहती है। मूर्त पदार्थ पृथ्वी के केन्द्र की ओर गिरते हैं। कितने द्रव्य उष्ण से पसरते हैं और शीत से संकुचित होते हैं, इत्यादि। जड़ वस्तुओं की भी प्रवृत्ति अभ्यास करते करते निश्चित हो गई है। इसी प्रकार परीक्षा से मनुष्यों की भी प्रवृत्ति के नियम कितने निकल चुके हैं और कितने ही और निकल सकते हैं।

इसलिये संकल्प-शक्ति सर्वव्यापिनी है और सब की स्थिति का मूल है। यह कोई पुरुष या व्यक्ति नही है। यह एक अचेतन शक्ति है जिससे देश-काल गत सब चीजें बनी हैं। स्वयं यह न दिक् से न काल से परिच्छिन्न या संबद्ध है। इसी शक्ति द्वारा मनुष्य अपनी वास्तविक सत्ता को जानता है। मनुष्य को देश काल से अतीत सत्ता का ज्ञान होता है। जीवन संकल्प ही जीवन का मूल है। जड़ पदार्थों से लेकर मनुष्य तक एक से एक उत्तम वस्तुएँ हैं। जैसे जैसे ऊँचे जाते हैं, ज्ञान की वृद्धि और विस्तार होता जाता है; और जैसे जैसे नीचे जाते हैं, ज्ञान तिरोहित होता जाता है; यहाँ तक कि खनिज पदार्थों में ज्ञान का अभाव सा दिखाई देता है। यही संकल्प-शक्ति मनुष्यों में बुद्धि की सहायता से नाना भाँति के प्रत्ययों को रचती रहती है।

ये सामान्य प्रत्यय (अर्थात् जाति) शाश्वत दिक्कालानवच्छिन्न है, जैसा कि प्लेटो ने दिखलाया है। इनमें क्रम है। एक प्रत्यय या विचार से दूसरा उत्तम है, उससे उत्तम और तीसरा है इत्यादि। छोटे विचार ऊँचे विचारो को रोकना चाहते हैं। पर जहाँ तक नीचे विचार को ऊँचा रोक सके, उतनी ही उसकी पूर्णता और उसका सौन्दर्य अधिक समझना चाहिए। यही इच्छा संसार का मूल है (अर्थात् रजो गुण है)। जब तक इच्छा (या काम) है, तब तक संसार है। जैसे ज्ञान (अर्थात् सत्ता) शाश्वत है, वैसे ही सृष्टि-शक्ति अर्थात् काम (या रजोगुण) भी शाश्वत है। व्यक्तियों का परिवर्तन होता है, पर इन सामान्य गुणों का नहीं। कितने लोग आत्मघात कर लेते हैं और समझते हैं कि मरने से संसार से छुटकारा हो जायगा। पर यह भ्रम है; क्योंकि काम जब तक है, तब तक संसार

शौपेनहोर के कुछ पहले ही हर्बर्ट नामक मनोविज्ञान-वेत्ता का जन्म हुआ था, जिसका मत अब यहाँ संक्षेप रूप से दिया जाता है।

हर्बर्ट—इसका जन्म ओल्डेन्बर्ग नामक नगर में हुआ था। इसने विद्याभ्यास में जन्म बिताया था। मानस विज्ञान (Psychology) इसका मुख्य विषय था।

हर्बर्ट के मत से बाह्य वस्तु का अनुभव ज्ञान का मूल है। दार्शनिक को पूर्ण रीति से अनुभव का अन्वेषण करना चाहिए। जब इन्द्रियों मे किसी प्रकार का संवेदन होता है, उस समय 'स्वतंत्र सत् कुछ है' इस प्रकार का अवश्य ज्ञान होता है। यह सत् क्या है, यह ज्ञान कभी नहीं हो सकता; पर उसकी सत्ता का ज्ञान अवश्य होता है। इसलिये जितने दृश्य (Appearance) हैं, उनसे वास्तव सत्ता की स्थिति सूचित होती है, इसमें सन्देह नहीं है। यह वास्तव सत्ता क्या है? आधुनिक काल में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए फिक्ट ने बतलाया है कि यह आत्मा है। आत्मा अपनी सत्ता आप ही बतलाती है। फिक्ट ने अन्तर ज्ञान से यह उत्तर दिया था; और प्राचीन समय में बाह्य अनुभव से हेरेक्लिट्स ने इसी प्रकार उत्तर दिया था कि प्रतिक्षण होनेवाला परिणाम वास्तव है, कुछ पारमार्थिक नहीं है। वस्तुतः सत् पदार्थ अनेक हैं और इनमें परिवर्तन नहीं होता। एक वस्तु का दूसरी वस्तु से सम्बन्ध होने ही से परिवर्तन होता हुआ जान पड़ता है। प्रमाता दो वस्तुओं का सम्बन्ध देखता है। फिर उन में से एक का तीसरी वस्तु से और फिर चौथी वस्तु से सम्बन्ध देखता है। इन्हीं सम्बन्धों का परिवर्तन होता है। यही सम्बन्ध

अनुभव के मूल हैं। सम्बन्ध भेद ही के कारण एक वस्तु के अनेक गुण देख पड़ते हैं। कूटस्थता अपरिणामिता पारमार्थिक सत्ता का धर्म है।

कितने ही दार्शनिक संशयवादी हैं। पर सब विषयों में कितना ही संशय क्यों न हो, कम से कम इतना तो अवश्य निश्चय है कि प्रत्यक्ष का विषय कुछ है। पर ये विषय जैसे हम लोग देखते हैं, वैसे नहीं हैं। एनेसिडिमस आदि ने कहा है कि ज्ञान के विषय जैसी वस्तुएँ होती हैं, वैसी ही वे वास्तविक रूप से हैं। इसमें प्रमाण नहीं है। काण्ट ने कहा है कि वस्तु परमार्थतः देश-कालावच्छिन्न और कार्य-कारण-भाव से व्याप्त नहीं है। देश-काल और कार्य-कारण भाव आदि मनुष्य बुद्धि की सृष्टि हैं।

पर संशयवाद का मुख्य मूल एक ही वस्तु में अनेक विरोधी गुणों के एक साथ वर्तमान रहने की असंभावना है। भाव परिणामी और विकारशील हैं।

परन्तु परिणाम, विकार या गति ये सब होना और न होना दोनों के एक साथ मिलने के अधीन है। एक ही वस्तु पहले भींगी रहती है; फिर मनुष्य कहते हैं कि वह सूख गई। न भीगा सूखा हो सकता है और न सूखा भीगा हो सकता है। फिर भीगे से सूखा हुआ तो कैसे? इसी प्रकार कार्य-कारण-भाव में भी बड़ा विरोध है। मिट्टी का घड़ा बन गया, ऐसा लोग कहते हैं। भला जब मिट्टी ही अभी है, तो घड़ा कैसे हुआ? और यदि घड़ा बन गया, तो मिट्टी उसमें कहाँ रह गई? लोग समझते हैं कि मिट्टी स्वरूप से भी रह गई और उसका घड़ा भी बन गया; और कारण स्वरूप से है भी और नहीं भी है। एक वस्तु रहे भी और न भी रहे, यह कब

सम्भव है ? ऐसे लोग आत्मा को स्वप्रमितिक स्वग्राह्य कहते हैं। जो किसी क्रिया का कर्त्ता है, वह उसी क्रिया का उसी समय कर्म कैसे हो सकता है? आत्मा अपना ही ज्ञान करती है; अर्थात् यही ज्ञान का कर्त्ता भी है और कर्म भी है। मानों एक आत्मा दो हो गई—कर्त्ता भी और कर्म भी—जो कि सर्वथा असम्भव जान पड़ता है। ऐसे ही लोग आत्मा को क्षणिक अनेक ज्ञान में समवेत समझते हैं। इन सब विषयों में सत्ता और अभाव, एकत्व और बहुत्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्मों को लोग एक करने का प्रयत्न करते हैं। इस विरोध के परिहार के लिये हैगेल ने कहा कि विरोध तो वस्तु का स्वभाव ही है। उससे बचने का प्रयत्न ही क्यों करना चाहिए? पर हैगेल का मत ठीक नहीं। सत् तो स्वतंत्र अन्य सम्बन्ध निरपेक्ष, अभाव और परिच्छेद का सर्वथा विरोधी है। सत् तो परिमाण आदि से हीन देश और काल से असंबद्ध है। हर्बर्ट का पार्मेनिडीज़ आदि से केवल इतना ही भेद है कि सत् एक नहीं है, अनेक है; और मनुष्य बुद्धि से परे है। अपरिणामिता सत् का स्वभाव है; इसलिये यदि सत् एक होता, तो संसार जैसा अनुभव-गोचर है, वैसा नही मालूम होता। पर सत् अनेक होने के कारण और अनुभव में सर्वदा अनेक सत् आने के कारण सब भेद दृश्य होते हैं। यदि हम एक ही सत् पदार्थ मे बहुत से गुण मानें तब तो विरोध अवश्य है। अनेक सत् पदार्थों के मानने से कोई विरोध नहीं रहता। अनेक विरोधात्मक गुणों से पूर्ण दृश्य पदार्थ इन अनेक सत् पदार्थों के योग हैं। यही सत् पदार्थ वास्तविक सत्ता है, दृश्य वास्तविक नहीं। ऐसा मानने से समवाय, कार्य्य कारण और परिवर्तन आदि के विचारों में

जो कठिनाई है, वह जाती रहती है ॐ। सब परिवर्तन और विचित्रता पदार्थों के भिन्न भिन्न सम्बन्ध में आने के कारण दिखलाई पड़ती है।

जब सत् देश-कालातीत है, तब फिर यह सम्बन्ध अनेक सत् पदार्थों में कहाँ होते हैं? और इनका अधिकरण क्या है? यदि यह पूछा जाय तो केवल यही उत्तर हो सकता है कि बाह्य देश से अतिरिक्त कोई बौद्ध प्रदेश है जहाँ एक सत् का दूसरे सत् से सम्बन्ध होता है।

बाह्य प्रदेश में दो परमाणु कभी एक बिन्दु पर नहीं रह सकते। पर इस बौद्ध प्रदेश में एक शक्ति केन्द्र, अर्थात् एक सत् दूसरे सत् के साथ एक ही बिन्दु पर रह सकता है। इस बौद्ध प्रदेश के नियम सामान्य प्रचलित रेखा गणित से नहीं निकल सकते। अनेक सत् जब पृथक् पृथक् बिन्दुओं पर रहते हैं, तब अ-संबद्ध कहे जाते हैं; और जब एक बिन्दु पर आते हैं, तब परस्पर संबद्ध होते हैं। जब अनेक सत् एक बिन्दु पर आते हैं, तब एक दुसरे

ॐ यदि एक ही वस्तु में दो गुणों का समवाय हो तो विरोध है। किन्तु जब दो पदार्थ ही हैं, तब समवाय केवल दृश्य हो गया और विरोध न रहा। कार्य्य कारण से दो वस्तुओं के सम्बन्ध का अभिप्राय नहीं है, वरन् एक ही पदार्थ के आत्मरक्षण और उसकी स्थिति के सातत्य कर अर्थ है। इसी प्रकार परिवर्तन भी एक पदार्थ को दूसरे में बदलता नहीं। परिवर्तन भी सम्बन्ध भेद मात्र है। एक ही व्यक्ति अपने पिता के सम्बन्ध में पुत्र है, पुत्र के सम्बन्ध में पिता है, स्त्री के सम्बन्ध में पति है और भगिनी के सम्बन्ध में भाई है। पदार्थ एक ही रहता है, पर सम्बन्ध बदलने से दूसरा दिखाई देने लगता है।

में प्रविष्ट हो जाते हैं। जब एकही प्रकार के अनेक सत् एक विन्दु पर इकट्ठे होते हैं, तब कोई परिवर्तन नहीं होता। लेकिन जब भिन्न गुणवाले सत् एक विन्दु पर स्थित होते हैं, तब परिवर्तन और गुण-बाहुल्य दिखाई पड़ता है। आत्मा एक सत् है। जब यह अन्य सत् पदार्थों से संवद्ध होता हैं, तब इसका अनुभव होता है।

आत्मा का दूसरे सत् पदार्थों के सम्बन्ध में आना संवेदन है। यह ज्ञान का मूल है। हर्वर्ट ने शक्तियों में पार्थक्य माननेवाले पुरानी चाल के मनोविज्ञान (Faculty Psychology) का खण्डन किया है ❀। विचारों में परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया का कार्य चलता रहता है। हमारा मानसिक जीवन हमारी संविति में ही विशेष नहीं हो जाता। हमारे मानसिक जीवन का बहुत सा कार्य अनुद्बुद्ध अवस्था में भी होता रहता है। हमारे मन की सब बातें कार्य कारण श्रृंखला में बँधी हुई हैं। हमारा संकल्प भी इस श्रृंखला से बाहर नहीं। इसी से वह कारणों के द्वारा पूर्व से ही

❀ हर्वर्ट के मत से आत्मा की अनेक शक्तियाँ नहीं हैं, वरन् एक ही शक्ति है। वह शक्ति स्वस्वरुप-रक्षण की है। यह शक्ति भिन्न भिन्न परिस्थितियों के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न रूप से प्रकट होती हुई प्रतीत होती है। जब किसी बाहरी विषय के विरोध में आत्मा अपना स्वस्वरूप स्थापित करने का प्रयत्न करती है, तभी विचार का उदय होता है। विषय के वैभिन्य के कारण विचार में वैभिन्य प्रकट होता है। प्रत्यक्ष विषय और विषयी का सम्बन्ध मात्र है। यदि कोई विचार दूसरे प्रबल विचारों से दब जाता है, तो भाव का उदय होता है। इसी प्रकार संकल्प भी एक प्रकार से विचार ही है। ये तीनों शक्तियाँ एक ही शक्ति का रूपान्तर हैं।

निश्चित है। हमारे मानसिक जीवन में गणित शास्त्र के नियम लग सकते हैं; और गणित के विषय की भाँति मनोविज्ञान का भी विषय निश्चित हो सकता है।

हर्बर्ट ने अपने मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को शिक्षा विज्ञान में लगाया था। इसी से शिक्षा-शास्त्रियों में उसकी बड़ी ख्याति है।

तत्व ज्ञान या सत्ता शास्त्र का विषय सत्ता है। इस साधारण सत्ता के अतिरिक्त मूल्यों (Values) की एक और सत्ता है। यह 'मूल्य' सौन्दर्य और कर्त्तव्य सम्बन्धी है। कर्त्तव्य भी एक प्रकार से सौन्दर्य्य की संज्ञा मे आ जाता है। यह आचार का सौन्दर्य्य है। संकल्प के बहुत से सम्बन्ध अच्छे हैं, बहुत से बुरे। सब से ऊँचा सामाजिक आदर्श वह है जिसमें बुद्धि और संकल्प का पूरा साम्य हो और उस समाज के व्यक्तियों में किसी प्रकार की अनबन न हो।

हर्बर्ट ने गणित की रीति दर्शन में भी लगाई; इसलिये इस नई रीति के कारण इसके बहुत से अनुगामी हुए। उनमें से मुख्य फ्रेड्रिक एडवर्ड विनेके था। हर्बर्ट के मत से मनुष्य बुद्धि के बाह्य भी कितने पदार्थ हैं; इसलिये यह इस बात को नहीं मानता था कि केवल मनोविज्ञान पर सब दर्शन निर्भर हैं। मनोविज्ञान और सत्ता-शास्त्र दोनों को मिलाकर दर्शन के तत्वों का निश्चय करना हर्बर्ट का उद्देश्य था। विनेके ने मनोविज्ञान ही मुख्य समझा। सभी दर्शन मनोमूलक हैं। मन से बढ़कर क्या, मन के अतिरिक्त वस्तुतः कोई प्रमाण है ही नहीं। विनेके के अनुसार इसलिये मनोविज्ञान (Psychology) के तत्वों का अन्वेषण करना ही दार्शनिक का एक मात्र कार्य है। बेकन, लॉक,

ह्यूम आदि अँगरेज दार्शनिकों का अनुसरण करता हुआ विनेके मानता था कि अनुभव के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है।

हर्बर्ट के मत से आत्मा सत्स्वरूप, निर्विकार, अपरिणामी और निर्गुण है। यह शून्यात्मवाद विनेके को अच्छा नहीं लगा। विनेके के मत से संवित् और गति आत्मा के प्रथम गुण हैं; इसलिये इच्छा और कृति भी आत्मा के गुण हैं। इसी इच्छा के कारण चेतन शक्ति बाह्य वस्तुओं के अन्वेषण में रहती है; क्योंकि इन वस्तुओं के सम्बन्ध से आत्मा के गुणों का विकास और उपचय होता है। इन बातों से ऐसा मालूम होता है कि विनेके के चित्त मे विकासवाद का कुछ भास पहले ही उठा था। उस समय जर्मनी मे मनोविज्ञान का वैज्ञानिक रीति से अभ्यास प्रचलित नहीं था; इसलिये बहुत दिनों तक विनेके अप्रसिद्ध दार्शनिक रहा। उसके थोड़े काल पश्चात् से जर्मनी कल्पना के स्वप्न से उठकर देशान्तरों के सदृश विज्ञान की आवश्यकता को समझने लगा है और वुंडट (Wundt) आदि बड़े बड़े मनोविज्ञान शास्त्री वहाँ हुए; और लोगों को विनेके का भी परिचय धीरे धीरे होने लगा था।

अब यहाँ थोड़े समय के लिये जर्मनी को छोड़कर फ्रांस और इंगलैण्ड के दर्शन का वृत्तान्त दिया जाता है।

सातवाँ अध्याय

प्रत्यक्ष ज्ञानवाद

काण्ट के समय से कुछ पहले ही से दर्शन में दो प्रकार के विचार चले आते थे। जर्मनी में कल्पना प्रधान दार्शनिक (Romantic Philosophers) थे। इंगलैण्ड और फ्रान्स में अनुभवाश्रित निश्चित ज्ञानवाद का प्रचार था। इन दोनों शाखाओं की समाप्ति एक बार हो चुकी थी। कौंडिलैक और ह्यूम ने प्राकृतिक दर्शन की समाप्ति कर दी थी; और हैगेल ने कल्पना-प्रधान दर्शन का अंत किया था। कल्पना-प्रधान दर्शन का उद्देश्य यह था कि अन्तःकरण के धर्मों का अन्वेषण करके क्रम से हम लोग बाह्य तत्वों का स्वभाव जान सकें। हम लोगों ने ज्ञाता की एकता पर अधिक ध्यान दिया, और ज्ञेय में जो वास्तव अनन्त भेद हैं, उनकी उपेक्षा की। प्रत्यक्ष ज्ञानवादियों ने बाह्य वस्तुओं के अनुभव पर अधिक ध्यान दिया; और वे समझते थे कि ज्ञेय तत्वों का निश्चय कर पश्चात् तदनुसार ज्ञाता का निश्चय हो सकेगा। सौ वर्ष से कुछ अधिक हुए कि इंगलैण्ड और फ्रांस मे पुनः कौण्डिलेक और ह्यूम के दर्शन का उज्जीवन हुआ। प्रत्यक्ष ज्ञानवाद की यह प्रवृत्ति फ्रांस में पुनः कौम्ट से तथा इंगलैण्ड में मिल से आरंभ हुई।

कौम्ट—आगस्ट कौम्ट का जन्म मोंपेलियर नामक नगर मे हुआ था। यह लड़कपन ही से बड़ा बुद्धिमान् था। इसकी शिक्षा एक विज्ञान-शाला में हुई थी। सेन्ट साइमन आदि विद्वानों के साथ से

इसे बहुत लाभ हुआ। इसके मुख्य ग्रंथ का नाम प्रत्यक्षवाद (Cours de Philosophie Positive) है। अठारहवीं शताब्दी में केप्लर, न्यूटन आदि वैज्ञानिकों के परिश्रम से विज्ञान के जिन नए विषयों का आविर्भाव हुआ था, उन वैज्ञानिक तत्वों को परस्पर मिलाकर उनके अनुसार दार्शनिक विषयों को ठीक करना इस दार्शनिक का उद्देश्य था। जीवन की अन्तिम अवस्था में इसने एक निरीश्वर धर्म का भी प्रचार किया था जिसके कुछ अनुगामी कई देशों में हुए। परस्पर प्रेम से रहते हुए नियमपूर्वक उन्नति करना ही इस धर्म का उपदेश था।

जैसे काण्ट ने समस्त मानव इतिहास को तीन समयों में बाँटा था, वैसे ही कौम्ट ने भी किया। इसका कथन था कि पहले मनुष्य पौराणिक बुद्धि के थे और देवता, भूत, प्रेत आदि की कल्पनाओं से संसार को समझने का प्रयत्न करते थे। उसके बाद दार्शनिक समय आया, जिसमें यह साधन करने की चेष्टा हुई कि एक ज्ञान के अधीन समस्त ज्ञेय है। अन्त में अब वैज्ञानिक समय आया है, जब कि सब लोग अनुभव और परीक्षा के द्वारा, न कि सूखे कुतर्कों अथवा कल्पना से, वस्तु के निश्चय में प्रवृत्त हैं। इन तीनों अवस्थाओ में बहुत सी अवान्तर दशाएँ भी हैं। पौराणिक अवस्था में सब से पहली नीच दशा वह है जब कि लोग काठ, पत्थर, टोटका, टोना आदि सब में मनुष्य की सी बुद्धि और शक्ति समझते हैं और अपनी सहायता के लिये उन्हें पूजते हैं। इसके बाद देववाद चलता है जिसमें यह माना जाता है कि आकाश में बड़े प्रचण्ड दिव्य देवता हैं, जो सभी सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् हैं; सब को उनकी पूजा

करनी चाहिए। फिर सब से उत्तम एक देव, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् है, ऐसा एकेश्वर वाद चलता है। यही एकेश्वर वाद की दशा पौराणिक अवस्था की उत्तम दशा है। ऐसे ही दार्शनिक अवस्था में भी पहले अनेक शक्तियाँ मानते हैं। फिर सब शक्तियों को एक ज्ञान शक्ति स्वरूप मानने का प्रयत्न होता है। अन्त में वैज्ञानिक अवस्था आती है जिसमें स्वतंत्र कारणों का अन्वेषण छोड़ दिया जाता है और "देवताओं ने संसार बनाया" अथवा "यह संसार ज्ञान शक्ति के अधीन है" आदि इन बातों का उत्तर असंभाव्य समझकर यह अन्वेषण किया जाता है कि चाहे जैसे संसार हुआ हो, पर वह किन नियमों के अनुसार चलता है। क्यों और किसने संसार या संसार के नियमों को बनाया, यह मनुष्य कभी जान नहीं सकता। पुराण और तर्क दोनो इन विषयों में व्यर्थ भूले हुए हैं। किन नियमों के अनुसार संसार चल रहा है, इसी का अन्वेषण संभव है; और यही अन्वेषण मनुष्य की बुद्धि का कर्त्तव्य है। क्यों पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चलती है, क्यों सूर्य से प्रकाश होता है, अन्धकार क्यो नहीं हो जाता, आदि प्रश्नों का यथार्थ उत्तर कभी नहीं दिया जा सकता। पर कितनी देर में सूर्य की प्रभा पृथ्वी पर आ सकती है, पृथ्वी की गति किस दिशा में कितने घटे में कितने कोस होती है, आदि बातों की परीक्षा मनुष्य भले ही कर सकता है और थोड़े श्रम से इन प्रश्नों के उत्तर भी निकाल सकता है।

सभी विज्ञान कभी न कभी पूर्वोक्त तीनों अवस्थाओं में पड़ते हैं। पहले गणित पुराण से स्वतंत्र हुआ। फिर क्रम से ज्योतिष, पदार्थ विज्ञान, रसायन शास्त्र, जीवन शास्त्र, समाज शास्त्र

आदि पुराण और दर्शन के सम्बन्ध से स्वतंत्र हुए हैं। इन शास्त्रों की आनुपूर्वी नियमानुकूल है। गणित सब से पहले आता है। इसका विषय औरों की अपेक्षा बहुत साधारण है और इसका लगाव भी बहुत दूर तक पहुँचता है। यह और सब शास्त्रों की अपेक्षा निश्चित भित्ति पर है। जैसे जैसे हम इन शास्त्रों की श्रेणी में ऊँचे जाते हैं, वैसे ही वैसे विषय संकीर्ण होता जाता है और निश्चयता की मात्रा घटती जाती है।

कौम्ट के अनुसार मनोविज्ञान (Psychology) स्वतंत्र शास्त्र नहीं है, क्योंकि मन की परीक्षा मन ही से नहीं हो सकती। सब से मुख्य सामाजिक शास्त्र है जिसमें समाज के आचार व्यवहार की परीक्षा की जाती है। सभी विज्ञानों मे दो अंश हैं—स्थिति के नियम और गति के नियम (Statics and Dynamics)। जिस प्रकार सम्प्रति समाज की स्थिति है, उसका वृत्तान्त स्थिति विभाग में दिखाया जायगा; और जिस प्रकार सांप्रतिक अवस्था से समाज उन्नति की अवस्था को पहुँचाया जा सकता है, उसका विवरण गति भाग में होगा।

सामाजिक स्थिति—किसी सामाजिक दशा को यदि एकाएक कोई बदल देना चाहे तो यह नहीं हो सकता। किस प्रकार एक दूसरे के साथ बर्ताव करने से क्या लाभ होगा, इस विचार से मनुष्यों ने सामाजिक स्थिति स्वीकार की, ऐसा कहना असंगत है; क्योंकि जब तक कुछ भी सामाजिक व्यवहार न होने लगे, तब तक हानि या लाभ कैसे विदित हो सकता है। इसलिये मनुष्यों में एक स्वाभाविक प्रवृत्ति माननी चाहिए जिस के कारण सामाजिक व्यवहार में प्रवृत्त होकर मनुष्य उसकी हानि और

लाभ समझ सकता है। जैसे और विषयों में पहले नियम की प्रवृत्ति और तब ज्ञान होता है, वैसे यहाँ भी समझना चाहिए।

जब से जन्तुओं में लिङ्ग भेद हुआ और बच्चो के पालने की चिन्ता हुई, तभी से संसार में सामाजिक प्रवृत्तियाँ होने लगीं। तथापि आज भी मनुष्यों में स्वार्थ सर्वथा हटा नहीं है और न उसको हटाने की आवश्यकता है। केवल प्रेम और सहानुभूति बढ़ाने से ही समाज का उपकार हो सकता है। गार्हस्थ्य जीवन सामाजिक जीवन का मूल है। यहीं से प्रेम और सहानुभूति का आरम्भ होता है।

सामाजिक उन्नति—जैसे मनुष्य के विचारों मे तीन अवस्थाएँ कही गई हैं—पौराणिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक—वैसे ही समाज में तीन अवस्थाएँ आती हैं—युद्धावस्था, विवादावस्था और उद्योगावस्था (अर्थात कलि, द्वापर और कृत युग)। सब से नीच युद्धावस्था है जिसमे बलवान् निर्बलों को गुलाम बनाकर गृहकार्य चलाते हुए स्वयं एक दूसरी जाति से युद्ध कर अपनी उन्नति करना चाहते हैं। इस अवस्था में शक्ति और संघटन ही उन्नति का मूल है। दूसरी अवस्था विवाद की है, जिसमे युद्ध कम होने लगता है और कचहरी के झगड़े अधिक बढ़ते हैं। इस अवस्था में तोपों के बदले बारिस्टरों की बहस और शस्त्रास्त्र के बदले शास्त्रार्थ, द्रव्य और झूठे इज़हारो का खूब उपयोग होता है। इसी अवस्था मे आजकल बहुतेरी जातियाँ और बहुतेरे देश हैं। इस अवस्था मे राजनीतिक अधिकारों पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। यह एक अभाव की अवस्था है। तृतीय अवस्था (जो सर्वोत्तम है) उद्योगावस्था है और यही मानुषी अवस्था है। इस

अवस्था में न तो मारकाट की ओर प्रवृत्ति होती है और न हक़ के झगड़े में लोग परेशान रहते हैं। किन्तु सभी अपने कर्त्तव्यों में तत्पर रहकर अपनी और अपने साथियों की उन्नति करते हैं।

इस अवस्था में वैज्ञानिक विशेषज्ञ शास्त्री लोग नाना प्रकार के अनुसंधान और गवेषणाएँ करेंगे। समाज मनुष्यता की ओर जा रहा है। मनुष्यता ही समाज का मुख्य आदर्श है।

गाल ने अपने मस्तिष्क शास्त्र (Phrenology) में लिखा है कि मस्तिष्क के आगे के हिस्से में वात्सल्य और सहानुभूति रहती है और मेरुदण्ड के समीप पीछे के हिस्सों में जबरदस्ती और झगड़े का समावेश है। यदि इस वैज्ञानिक के मत से देखा जाय, तो यही मालूम होता है कि मनुष्यों में मस्तिष्क के आगे का हिस्सा अधिक उपचित है; इसलिये मनुष्य की वात्सल्य, सहानुभूति और सामाजिक जीवन की ओर अधिक प्रवृत्ति होनी चाहिए। यद्यपि लौम्बार्क के विकास वाद से कौम्ट का विरोध था, तथापि इस विषय में उससे ऐक्य था कि अभ्यास के द्वारा मनुष्य की वात्सल्य आदि उत्तम प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं और अनभ्यास तथा अनुपयोग से नीच प्रवृत्तियाँ घटती हैं।

कौम्ट के मत से ज्ञान का मुख्य स्वरूप सम्बन्ध ग्रहण है। सम्बन्ध रहित विशेष वस्तु के अनुभव को ज्ञान नहीं कह सकते; और न नए अनुभव से बिना सम्बन्ध मिलाए किसी बात का निश्चय हो सकता है। प्रमेय विषयों के पारस्परिक सम्बन्ध का नियम ढूँढना ज्ञान का मुख्य उद्देश्य है। लोग पौराणिक और दार्शनिक अवस्थाओं में यह उद्देश्य ठीक तरह से समझ नहीं सकते थे। अब वैज्ञानिक अवस्था में इसका अन्वेषण हो सकता है।

प्रमेयों का सबन्ध दो प्रकार का है—एक समकालिक और और दूसरा क्रमिक। समकालिक सम्बन्ध स्थिति के नियमों के अनुसार होता है और क्रमिक सम्बन्ध गति के नियमों के अनुसार। परीक्षा और अनुभव से सम्बन्ध के नियमों का अन्वेषण संभव है; केवल ध्यान से नहीं, जैसा कि दार्शनिक लोग समझते हैं। दार्शनिकों ने स्वतंत्र सबन्धातीत सत्ता पर विचार करना अपना मुख्य उद्देश्य समझा था। वैज्ञानिक लोग सब ज्ञान को सम्बन्धाधीन (Relative) अर्थात् सम्बन्ध ज्ञान कहते हैं। स्वतंत्र सत्ता को ये लोग निष्प्रमाण समझते हैं। विज्ञान से यह प्रमाणित हुआ है कि समकालीनता और क्रमिकता रूप प्रेमेयों के जो संबन्ध हैं, उन्हीं का ग्रहण मनुष्य को हो सकता है। सब प्रमेय का स्वतन्त्र आदि कारण क्या है, इसका ज्ञान असंभव है। दूसरी बात यह है कि हमारा समस्त ज्ञान हमारे शरीर और उसकी वर्तमान दशा के अधीन है। इस कारण ज्ञान के लिये प्रमेयों के परस्पर संबन्ध और उनका इन्द्रियों से सम्बन्ध आवश्यक है; और स्वतंत्र सम्बन्धातीत सत्ता, जो न किसी प्रमेय से न प्रमाता की इन्द्रियों से सम्बद्ध है, सर्वथा अग्राह्य है; और उसके अन्वेषण या ज्ञान की तृष्णा मरु मरीचिका में प्यास बुझाने की आशा के तुल्य है।

समाज-शास्त्र, जीव-शास्त्र आदि सभी वैज्ञानिक शास्त्रों से यही सूचित होता है कि ज्ञान सम्बन्धाधीन है। सम्बन्ध ज्ञान ऐतिहासिक है। मनुष्यों की किस क्रम से उन्नति हुई है, सम्पूर्ण संसार ही किस प्रकार वर्तमान दशा में पहुँचा है, यह इतिहास ज्ञान ही से जाना जा सकता है।

समाज का सुधार कौम्ट का मुख्य उद्देश्य था। मनुष्यता को इसने उन्नत समाज का आदर्श माना था। इसी विचार के आधार पर इसने अपने अन्तिम दिनों में मनुष्यता का धर्म निकाला था। पेरिस को यह इस धर्म का केन्द्र बनाना चाहता था। इस धर्म में मनुष्यता की स्त्री द्वारा पूजा बताई गई है। स्त्री को मनुष्यता का संकेत माना है। इसने सेवा और प्रेम मुख्य धर्म माने हैं। ईश्वर और अमरत्व का स्थान मनुष्यता ले लेती है। मनुष्य मरते रहें, किन्तु मनुष्यता ईश्वर की भाँति स्थिर और अमर है।

इस प्रत्यक्षवाद में किसी प्रकार के धर्म और भाव का आना एक प्रकार का विरोध है; किन्तु यह विरोध मनुष्य में धर्म की आवश्यकता का द्योतक है।

मिल—कौम्ट के अनुयायियों में प्रधान इंगलैण्ड का दार्शनिक मिल था। इसका पूरा नाम जॉन स्टुअर्ट मिल था। इसका जन्म लण्डन नगर में हुआ था इसका पिता जेम्स मिल मनोविज्ञान में निपुण था। स्टुअर्ट मिल की शिक्षा प्रायः उसके पिता के हाथ से सम्पूर्ण हुई। बचपन ही में इसने कई भाषाओं और कई शास्त्रों का अध्ययन किया था। दर्शन में यह ह्यूम, कौम्ट और अपने पिता का अनुगामी हुआ और धर्म सम्बन्धी विचारों में यह बेन्थम् के उपयोगिता वाद (Utilitarianism) का अनुगामी था।

, तर्क शास्त्र (System of Logic) और हेमिल्टन के दार्शनिक विचारों की परीक्षा (Examination of Hamilton's Philosophy) ये दो इसके मुख्य ग्रंथ हैं। इसने उपयोगिता वाद, अर्थ-शास्त्र आदि पर और भी कई ग्रंथ लिखे हैं। ह्यूम के

प्रमेयवाद (Phenomenalism) और अपने पिता के विचार-संगत प्रधान मनोविज्ञान (Association Psychology) को ठीक मानकर स्टुअर्ट मिल ने अनुभव को एक मात्र ज्ञान का मूल माना है।

वाह्य वस्तु के संबन्ध में मिल का कहना है कि हम केवल दृश्य को जानते हैं। हमको अपने सवेदनों का ज्ञान होता है। यह इनका आधार रूप एक द्रव्य भी मानता है। उसको यह संवेदनों का कारण कहता है; परन्तु वह क्या वस्तु है, इस विषय में वह इतना ही कहता है कि वह हमारे संवेदनों की स्थायी संभावना है; अर्थात् जब हम उस ओर ध्यान देंगे, तभी हमको ऐसे संवेदन प्राप्त होंगे। ऐसा कहने से मिल का यह भी अभिप्राय है कि मूर्त द्रव्य का ज्ञान सहज ज्ञान नहीं है। यह ज्ञान सहस्रों वर्षों के अखंड अनुभव का फल है। बार बार एक ही चीज को कुछ परिस्थितियों में देखकर यह प्रतीति होने लगती है कि यह चीज़ इन परिस्थितियों के प्राप्त होने पर दिखाई पड़ने लगेगी। विचार-संगति द्वारा संवेदनों की पुनरावृत्ति की प्रतीक्षा करना ही मूर्त-द्रव्य अथवा संवेदनों की स्थायी संभावना का मूल है। भीतरी द्रव्य के विषय में भी मिल का ऐसा ही मत है। मन के सम्बन्ध में भी हमको केवल दृश्य का ज्ञान होता है। मानस द्रव्य की भी विचार संगति के आधार पर व्याख्या की जाती है। किन्तु इस प्रकार की व्याख्या में जो कठिनाइयाँ पड़ती हैं, उनको मिल स्वयं स्वीकार करता है; किन्तु उनके कारण वह विरुद्ध पक्ष को मानने के लिये तैयार नही है। यदि हम मन को विचार तथा भावों की परंपरा मानते हैं, तो हमको इसके साथ यह भी कहना

पड़ेगा कि वह अपना भूत और भविष्य भी जानता है; अर्थात् क्षण प्रतिक्षण बदलनेवाली चीज को पिछले क्षणों एवं आगे की संभावनाओं का ज्ञान है। ऐसी अवस्था में दो ही बातें हो सकती हैं। या तो मन को इस परंपरा से स्वतंत्र मानें (जैसा कि स्वतंत्र आत्मा माननेवाले मानते हैं) या यह मानें कि सिलसिला ही इस बात का अनुभव कर सके कि मैं सिलसिला हूँ। यद्यपि यह बतलाना कठिन है कि मिल के कथनानुसार किस प्रकार एक सिलसिले का कोई क्षण अपने को सिलसिला जान सकता है, तथापि किसी न किसी प्रकार से ऐसा हो जाता है। थोड़े शब्दों में यह कि मिल सिलसिले से अतिरिक्त कोई स्वतंत्र आत्मा नहीं मानता।

वैज्ञानिक परीक्षा का मुख्य उपाय आगमन द्वारा व्याप्तिग्रह है। अनुमान में भी मुख्य व्याप्तिग्रह ही है। जहाँ धूआँ है, वहाँ आग अवश्य है, इतना कह देने ही से इस सामान्य व्याप्तिग्रह के जितने विशेष उदाहरण हैं, वस्तुतः वे सब इसके अन्तर्गत हो गए। केवल स्पष्ट रूप से इसके उदाहरणों को दिखाना ही अनुमान है। एक विशेष ज्ञान से उसके आधार पर बनी हुई व्याप्ति द्वारा दूसरे विशेष ज्ञान का होना ही अनुमान का स्वरूप है।

जब लड़का एक बार आग से हाथ जला लेता है, तो फिर आग देखने से उसे जलने का स्मरण होता है और वह समझता है कि जब जब आग का स्पर्श होगा, तब तब हाथ जलेगा। विशेष व्याप्तिग्रहों का मूल प्रकृति की एकरूपता में, अर्थात् कार्य-कारण भाव की सर्वव्यापकता में, विश्वास है। यह विश्वास भी अनुभव-मूलक ही है। मनुष्य देखता है कि बिना कारण कोई कार्य नहीं

होता; और अनुभव से यह भी मालूम होता है कि यदि प्रतिबन्धक न हो, तो कारण से कार्य अवश्य होगा। इसी कारण आग से एक बार जलने पर फिर भी जलने का भय अवश्य होता है। प्रकृति के एक-रूप्य में यही विश्वास सब से बड़ा व्याप्तिग्रह है जिसका बाधक अभी तक किसी को नहीं मिला। इसी व्याप्ति के आधार पर और सब अनुमान होते हैं।

मिल ने कार्य कारण भाव की परीक्षा के लिये चार प्रकार निकाले हैं–(१) अन्वय रीति, (२) व्यतिरेक, (३) सहभावी परिवर्तन और (४) पारिशेष्य *। ये नियम संक्षेप से नीचे दिए जाते हैं।

(१) यदि किसी विषय के अनेक उदाहरणों में और सब बातें भिन्न होने पर भी किसी एक बात की समानता पाई जाय, तो उस बात का उस विषय से कार्य कारण सम्बन्ध होना सम्भव है।

(२) यदि दो ऐसे उदाहरण हों जिनमें से एक में अन्वेष्टव्य द्रव्य वर्तमान हो और दूसरे में न हो और उन दोनों में किसी एक ही विषय का भेद हो और सब विषयों में साम्य हो, तो जिस विषय में भेद है, वही अन्वेष्टव्य दृश्य कारण या कार्य हो, ऐसा संभव है। ये दोनों नियम एक साथ मिला भी दिए जा सकते हैं। इन दोनों को मिलाकर एक और नियम इस प्रकार का

---

* इन रीतियों के अंगरेजी में नाम इस प्रकार हैं—(1) Method of. Agreement. (2) Method of Difference. (3) Method of Concomitant. Variations. (4) Method of Residues. पहली और दूसरी के योग से एक और रीति भी बनाई गई है। उसको Joint Method of Agreement and Difference कहते हैं।

होता है—यदि अनेक उदाहरणों में, जिनमें अन्वेष्टव्य दृश्य वर्तमान हो, कोई एक ही विषय वर्तमान हो और दूसरे उदाहरणों में जिनमें कि अन्वेष्टव्य दृश्य नहीं है, वही विषय न हो, तो वह विषय अन्वेष्टव्य दृश्य का कारण या कार्य है। इसको अन्वय व्यतिरेक नियम कहते हैं।

(३) यदि दो घटनाओं, स्थितियों या पदार्थों में ऐसा सम्बन्ध हो कि एक के परिवर्तनों के साथ ही नियमित रूप से दूसरे में भी परिवर्तन हों, तो घटनाएँ, स्थितियाँ या पदार्थ एक दूसरे के कार्य या कारण हैं अथवा दोनों किसी दूसरी एक ही वस्तु से कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध के द्वारा सम्बद्ध हैं।

(४) अन्तिम अर्थात् पारिशेष्य नियम यह है कि यदि किसी दृश्य की पूर्ववर्तिनी घटनाओं में से कुछ का उस दर्शन के कुछ भागों के साथ कार्य्य-कारण-सम्बन्ध, पूर्व व्याप्तिग्रहों द्वारा, निश्चित हो चुका हो, तो उन पूर्व-वर्तिनी घटनाओं के शेष भाग का उस दृश्य के शेष भाग के साथ कार्य्य कारण सम्बन्ध हो गया।

आचार के विषय में मिल बेन्थम का अनुगामी था। वह भी इसकी भाँति सुखवादी था। जिसमें सब का सुख हो, वही श्रेय है, वही कर्तव्य है, इस बात को मानते हुए मिल का बेंथम से मुख्य रूप से दो बातों मे भेद था। बेन्थम सुखों में तीव्रता, स्थिरता, निश्चयता, निकटस्थता आदि परिमाण सम्बन्धी भेद मानता था, किन्तु मिल ने सुखों में गुण भेद माना है। इसके मत से काव्य-कला-सुख, गद्दे तकिए में आराम से सोने के सुख से श्रेष्ठतर और उपादेय है। संतुष्ट पंडित अच्छा है। मिल और बेन्थम दोनों ही उपयोगिता का सिद्धान्त "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" मानते

हैं; परन्तु दोनों के मत से परार्थ साधन का आधार भिन्न है। बेन्थम के अनुसार पदार्थ का आधार स्वार्थ में है। मिल के मत से मनुष्य जाति में ऐक्य की जो स्वाभाविक इच्छा है, वह इसी के आधार पर है।

मिल का उपयोगितावाद सुखों में गुण भेद के कारण बुद्धि-वाद की ओर झुका हुआ है। मिल का यह सिद्धान्त उसके और सिद्धान्तों के साथ असंगत सा मालूम होता है; किन्तु यह असंगति उसकी सत्यप्रियता की द्योतक है। मिल का उपयोगितावाद यद्यपि दार्शनिक रीति से ठीक नहीं बैठता, तथापि वह साधारण लोगों के लिये कर्त्तव्याकर्तव्य की कसौटी है और वह इंगलिस्तान में सामाजिक उन्नति का मुख्य प्रवर्तक रहा है। समाज, राष्ट्र तथा स्त्रियों के विषय में मिल के बहुत उदार विचार थे। उसका कहना है कि स्त्रियों को पराधीन रखने में जितनी हानि स्त्रियों की नहीं है, उससे अधिक पुरुषों की है।

आठवाँ अध्याय

विकास वाद

आज से प्रायः सौ बरस पहले श्रूसबेरी में डार्विन का जन्म हुआ था। विज्ञान की ओर चार्ल्स डार्विन की स्वाभाविक प्रवृत्ति विशेषतः जीव शास्त्र के अभ्यास से हुई। जब यह इक्कीस बाईस वर्ष का हुआ, तो बीगल नाम के जहाज पर इसने पृथ्वी के चारों ओर यात्रा की। दूर दूर के टापुओं के रहनेवाले एक ही जाति के जन्तुओं में अनेक छोटे छोटे भेद पाकर इसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि क्या कारण है कि एक ही जाति के जन्तुओं में इतना अन्तर पड़ा। इसी विचार में डार्विन पड़ा था कि प्राणी-वृद्धि पर लिखे हुए प्रबन्ध इसके हाथ लगे। उन लेखों में मैल्थस ने यह दिखलाया था कि प्राणियों की संख्या स्वभावतः इतनी बढ़ती रहती है कि यदि जीवन के विरोधी अनेक उपद्रव न होते, तो किसी जन्तु को खाने को न मिलता और रहने को पृथ्वी पर जगह न मिलती। मैल्थस के मत से जीव-धारियों की संख्या १, २, ४, ८, १६ के हिसाब से गुणोत्तर श्रेणी (Geometrical Progression) में बढ़ती है; और खाद्य पदार्थों की संख्या १,२,३,४,५ के हिसाब से व्यक्त श्रेणी (Arithmetical Progression) में बढ़ती है। लड़ाइयाँ, बीमारियाँ और संघर्षण आदि कारण जीवधारियों की दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि को रोककर इन की संख्या को उचित परिमाण से बाहर नहीं जाने देते। पर यह मत आज कल सर्वमान्य नहीं है।

इस बात को पढ़कर डार्विन के चित्त में आया कि यदि ऐसी बात है, तो जीवन की इस प्रतिद्वन्द्विता में उन्हीं प्राणियों के बचने की संभावना है, जिन्हें किसी कारणवश ऐसी शारीरिक रचना या शक्ति प्राप्त हो कि विशेष प्रदेशों में तथा और जन्तुओं की अपेक्षा प्राण बचाने का उन्हें अधिक सुभीता हो। जिन जन्तुओं को ऐसा सुभीता नहीं होगा, वे नहीं बच सकते। इस प्रकार जो जन्तु किसी कारणवश अपने विशेष निवास स्थान के योग्य शरीर रखते होंगे, उन्हीं की सन्तानें भी बढ़ेंगी। औरों की जाति या तो नष्ट हो जायगी या और कहीं जाकर रहेगी, जहाँ उनके लिये ठीक सुविधा हो। इसी योग्यतम की रक्षा (Survival of the Fittest) वाले सिद्धान्त की बुनियाद पर डार्विन ने अनेक ग्रंथ लिखे, जिनमें से मुख्य जात्यन्तरों का मूल (Oigin of Species) और मनुष्य की उत्पत्ति (Descent of Man) हैं। प्रतिद्वंद्विता प्रकृति का एक नियम है। यह नियम शाश्वत और सार्वत्रिक है। यह प्रतिद्वन्द्विता प्राणियों की अति वृद्धि से होती है, यही जीवन संग्राम (Struggle for exist ence) का मूल है। बलवान निर्बलों को नष्ट कर अपने को स्थित रखते हैं *। इसलिये जिन प्राणियों में जीवन रक्षा के लिये अपने को परिस्थिति के अनुकूल बनाने की शक्ति होती है, अर्थात् जैसी अवस्था आवे उसी के अनुसार जो प्राणी अपने

---

* इस सिद्धान्त की झलक नीचे के श्लोक में पाई जाती है—

अहस्तानि सहस्तानाम् पदानि चतुष्पदाम्।
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम्॥

स्वभाव में परिवर्तन कर सकता है, वही बचता है और संतान-वृद्धि भी कर सकता है।

इस जीवन संग्राम (Struggle for existence) के द्वारा गुणों में भिन्न भिन्न परिस्थितियों के अनुसार भेद होते गए; और वे भेद परम्परानुगत होने के कारण पुष्ट होते गए।

इसी प्रकार अवस्थानुरूप परिवर्तन होते गए हैं और प्राणियों की भिन्न जातियाँ संसार मे प्रकट हुई हैं, जिन्हें लोग भिन्न सृष्टि तथा स्वतंत्र समझते हैं।

इस विकास सिद्धान्त के निश्चय के लिये पहले तो डार्विन को अपनी यात्रा में अनेक जन्तुओं का निरीक्षण करना पड़ा। फिर मैल्थस का ग्रंथ पढ़कर संतान वृद्धि की स्वाभाविक अति प्रवृत्ति से प्रतिद्वन्द्विता का अनुमान हुआ। उसके बाद प्रति-द्वन्द्विता के कारण प्रकृति में जो योग्यता निर्धारण या चुनाव (Natural Selection) होता है, अर्थात् प्रकृति योग्य व्यक्तियों को चुनकर उनकी रक्षा करती है और अयोग्य या असमर्थ व्यक्तियों की उपेक्षा करती है, जिससे अन्त में उनका नाश हो जाता है, इस विषय की अनुभव के द्वारा परीक्षा करनी पड़ी। वैज्ञानिक सिद्धान्तों के निश्चय में ये ही तीन मुख्य व्यापार हैं—निरीक्षण, अनुमान और परीक्षा। डार्विन ने निरीक्षण और अनुमान किस प्रकार किया, यह ऊपर कहा गया है। परीक्षा में डार्विन को चार बातों से सहायता मिली। घोड़े, भेड़ आदि जन्तुओं को पालनेवाले अपने मतलब के लायक जन्तुओं का संग्रह कर सके उनमें से भिन्न प्रकार के व्यक्तियों को छाँटते जाते हैं; और इस तरह इच्छानुरूप जाति वैभिद्य उत्पन्न कर लेते हैं। दूसरी बात यह है

कि जिन पशु, पक्षी आदि की जातियाँ नष्ट हो गई हैं, उनका वर्तमान जातियों से बहुत सादृश्य दिखाई देता है। भेद प्रायः इतना ही रहता है कि नष्ट जातियाँ वैसी उत्तमता को प्राप्त न थीं, जैसी कि वर्तमान जातियाँ हैं। पृथ्वी पर जितनी जातियाँ हैं, उनमें पारस्परिक सादृश्य तीसरा प्रमाण है, जिससे हम लोग समझ सकते हैं कि किसी समय छोटे जन्तुओं की एक ही कोई जाति पृथ्वी पर थी जिनके सूक्ष्म अंडे या बीज जलवायु आदि के प्रवाह से समस्त भूमण्डल पर फैले, जिनसे विकास क्रम से स्वयं वर्तमान जातियाँ निकली हैं। विकास की साधक चौथी बात यह है कि गर्भावस्था में प्रायः अनेक जन्तु एक ही से देख पड़ते हैं; और अनेक जन्तुओं में कितनी ही आरम्भिक (Rudimentory) इन्द्रियाँ गर्भावस्था में पाई जाती हैं, जिनका पूर्ण विकास नहीं होता। इन सब बातों से प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) और योग्यतम रक्षा (Survival of the Fittest) पूर्ण रीति से सिद्ध होती है।

डार्विन स्वयं इस बात को समझता था कि मेरी विकास कल्पना (Evolution Hypothesis) के लिये कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिल सकता। यह कल्पना तभी सिद्धान्तित हो सकती है, जब कि वैज्ञानिक परीक्षा में इसके विरुद्ध कोई विषय न मिले। पर यह बात काल के अधीन है। चिर काल बीतने पर भी यदि विकास कल्पना में वैज्ञानिक विरोध न आवे, तो इसे सिद्धान्त समझना चाहिए।

विकास कल्पना में अन्तिम आपत्ति यह पड़ती है कि जिन्न भिन्न प्रकार के व्यक्तियों में से देशकालोपयुक्त व्यक्तियाँ प्रकृति से

चुनी जाती हैं, रक्षित और परिवर्द्धित होती हैं, और तदनुसार नाना प्रकार के जन्तु संसार में प्रकट होते हैं, उन व्यक्तियों में प्रथम भेद कहाँ से आया? जन्तुओं के जाति भेद का मूल बतलाती हुई विकास कल्पना जब अन्तिम व्यक्ति भेद-पर पहुँचती है, तब सर्वथा अड़ जाती है और कुछ नहीं कह सकती। इस आपत्ति को डार्विन खूब समझता था और यह उसे मानना पड़ा था कि अवस्था भेद से तथा इन्द्रियों और शक्तियों के उपयोग और अनुपयोग से व्यक्तियों में प्रथम भेद उत्पन्न होते हैं। सरदी, गरमी आदि अवस्थाओं के भेद से व्यक्तियों में भेद होता है। इसी प्रकार जिस शक्ति का उपयोग हो, वह अंग या शक्ति सुरक्षित रहती है; और जिसका उपयोग न हो, बहुधा उसके नष्ट होने की संभावना रहती है। इन कारणों से या और किसी कारणान्तर से व्यक्तियों में जो भेद पड़ता है, उन भेदों की कैसे रक्षा, वृद्धि आदि होती है, यही दिखलाना डार्विन का प्रधान उद्देश्य था।

जिस प्रकार छोटे से छोटे जन्तुओं से विकास क्रम से बड़े जन्तु उत्पन्न हुए हैं, वैसे ही बड़े जन्तुओं के उत्पत्ति क्रम से अन्त में मनुष्य उत्पन्न हुआ है। मनुष्य की बुद्धि और शरीर का पशु की बुद्धि और शरीर से कुछ ऐसा भेद नहीं है जिससे मनुष्य विकास क्रम से बाह्य समझा जाय। मछलियों के शरीर और बुद्धि से जितना बन्दर की बुद्धि और शरीर में भेद है, उससे कहीं थोड़ा भेद बन्दर और मनुष्य में है। इसलिये मछलियों से कछुआ आदि क्रम से जैसे बन्दरों का आविर्भाव हुआ, वैसे ही बन्दरों से मनुष्यों के आविर्भाव में कुछ आश्चर्य नहीं मानना चाहिए।

डार्विन के मत से बन्दर यदि मनुष्य के पूर्वज नहीं हैं, तो

उनके चचेरे भाई अवश्य हैं। अर्थात् बन्दरों और मनुष्यों के पूर्वज एक ही हैं। पशुओं मे स्मृति, सौन्दर्य ज्ञान, सहानुभूति आदि मनुष्य ही के सदृश हैं। विवेक भी पशुओं में वर्तमान है; नही तो घोड़े आदि पशुओं की शिक्षा नहीं हो सकती थी। इसलिये कीड़ो से लेकर मनुष्य तक विकास क्रम निर्विवाद समझना चाहिए। यदि हम बीच की श्रेणियों को छोड़कर मनुष्य और प्रारम्भिक कीटाणु में भेद देखें, तो वह भेद बहुत भारी मालूम होता है। किन्तु यदि इस भेद को क्रमानुगत रूप से देखें, तो यह भेद आश्चर्यजनक न मालूम होगा। यदि हम मनुष्य कृत यन्त्रों या ग्रह आदि अन्य पदार्थों का इतिहास देखें, तो भी यही बात मालूम होगी कि अन्तिम और प्रारम्भिक अवस्था में जमीन आसमान का अन्तर है। किन्तु यदि इस क्रम से उन्नति की श्रेणियों पर ध्यान दें, तो यह अन्तर आश्चर्यजनक न मालूम होगा।

डार्विन ने पारस्परिक विरोध या प्रतिद्वन्द्विता शाश्वत और सार्वत्रिक मानी है जिससे कई धार्मिक दार्शनिको को बड़ी घृणा हुई; क्योंकि यदि विरोध ही जगत् का स्वभाव होता, तो उपकार, सहानुभूति आदि की स्थिति संसार में कैसे पाई जाती! पर डार्विन का कहना है कि उपकार, सहानुभूति, धर्म आदि सब गुण व्यक्तियों में अपनी निजी या अपनी जाति की रक्षा के लिये पाए जाते हैं। शुद्ध स्वार्थ-निरपेक्ष कोई गुण नहीं है। सहानुभूति आदि गुणों को रखनेवाले जन्तु सहानुभूतिशून्य जन्तुओं की अपेक्षा अपनी रक्षा की अधिक आशा रखते हैं। इसलिये सहानुभूति आदि गुण भी स्वरक्षा-हेतुक ही हैं। इसके अतिरिक्त यह भी खयाल रखना चाहिए कि सहानुभूति, परार्थ आदि

गुण केवल मनुष्यों में ही नहीं हैं। कितने पशुओं में भी ये गुण अधिकता से पाए जाते हैं। जब ऐसी अवस्था है, तब उस बन्दर से उत्पन्न होना अच्छा है जो अपने स्वामी के लिये अपने प्राण देने को तैयार होता है, या उस असभ्य मनुष्य से जो अपने पड़ोसी को पीड़ा देने में अपना सुख मानता है और उसके लड़के बालों को मारकर अपना जीवन धन्य समझता है?

सामाजिक सहानुभूति, स्मृति, विचार और भाषा की शक्ति आचार ज्ञान के लिये अपेक्षित है। अपने किए हुए कार्यों को मनुष्य स्मरण करता है और एक कार्य को दूसरे कार्य से मिलाकर विचारता है कि वर्तमान अवस्था के लिये उन कार्यों में से कौन ठीक होगा। जो कार्य अधिक लोगों की प्रशंसा पाते हैं, भाषा-ज्ञान होने के कारण, उन कार्यों में मनुष्यों की अधिक प्रवृत्ति होती है; और निन्दित कार्यों से जी हटता है। धीरे धीरे प्रवृत्ति बढ़ते बढ़ते ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि मनुष्य स्वभावतः ऐसे ही कार्यों की ओर चलने लगता है। इस के अतिरिक्त सहानुभूति और परार्थ प्रवृत्ति आदि में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे विकास सिद्धान्त में कोई बाधा पड़े।

ईश्वर के विषय में मनुष्य की बुद्धि नहीं पहुँच सकती, यह समझकर डार्विन प्रायः कुछ नहीं कहता था। लोगों का दुःख देखकर कारुणिक और सर्वज्ञ ईश्वर मानने में कभी कभी डार्विन को आपत्ति पड़ती थी; क्योंकि वह समझता था कि यदि इस जगत् का कारुणिक परम ज्ञानवान् शासक होता, तो अपने उत्कृष्ट ज्ञान के द्वारा उत्तम से उत्तम और दुःख-रहित संसार की कल्पना कर अपनी करुणा से उसे वैसा ही बनाता। डार्विन ने

अनुभव आदि और भी दार्शनिक विषयों पर अपना मत प्रकाशित किया है; जो स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिया जा सकता।

विकास सिद्धान्त के व्याख्याताओं में अंगरेज वैज्ञानिक और दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर मुख्य था *। डर्बी प्रदेश में इसका जन्म हुआ था।

स्पेंसर बिना विश्वविद्यालय की शिक्षा के स्वयं शिक्षित हुआ था। इसके प्रारम्भिक सिद्धान्त, मनोविज्ञान तत्व, समाजशास्त्र कर्तव्यशास्त्र आदि अनेक ग्रंथ हैं †।

स्पेंसर के मत से कोई मत कैसा ही भ्रममय क्यो न हो, प्रत्यक्ष ही सब मत का मूल है। इसलिये सब में कुछ न कुछ सत्य का अंश रहता है। न कोई मत सर्वथा सत्य है, न सर्वथा असत्य है। सब मतों में जो सामान्य अंश है, उसी का संग्रह करना चाहिए। धर्म और विज्ञान में तो बराबर का झगड़ा है। इस विरोध के भी मूल का अन्वेषण करना चाहिए। जिस मूल से यह विरोध निकला, वही वास्तव है। धार्मिक लोगों के सृष्टि वाद आदि सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध और व्याहत हैं। जैसा काण्ट ने विरोधाध्याय (Antinomics) मे दिखलाया है, उसके अनुसार संसार को न तो

---

* लाला कन्नोमल एम० ए० कृत स्पेंसर साहब की अज्ञेय मीमांसा और ज्ञेय मीमांसा इन दो पुस्तकों में हिन्दी भाषा-भाषियों के लिये स्पेंसर साहब के सिद्धान्तों का सूक्ष्म लेकिन स्पष्ट वर्णन मिलेगा। ये पुस्तकें इंडियन प्रेस, प्रयाग से मिल सकती हैं।

† First Principles, Principles of Psychology, Principles of Sociolgy, Principles of Ethics, Principles of Biology, Education, The Man versus the State, Essays, Facts and Comments, Autobiography.

नास्तिकों के मत में पड़कर स्वभाव-सिद्ध ही मान सकते हैं, न वेदान्तियों की तरह उसे आत्म कल्पित कह सकते हैं; और न द्वैतवादी भक्तों की भाँति उसे बाह्य शक्ति द्वारा बनाया हुआ समझ सकते हैं। जिधर जाते हैं, उधर ही अनिवार्य्य आपत्तियाँ आती हैं। हैमिल्टन और उसके अनुयायी मैंन्सेल ने स्पष्ट दिखलाया है कि जगत् का एक स्वतंत्र निरपेक्ष अनन्त आदि कारण (Absolute) मानने में अनेक विरोध हैं; क्योंकि आदि कारण यदि स्वतंत्र जगद्बाह्य है, तो उससे जगत् का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता; और बिना सम्बन्ध के कोई ज्ञान नहीं हो सकता। और यदि सम्बन्ध हुआ तो स्वतंत्रता जाती रही। पर इन सब विरोधों के रहते हुए भी अत्यन्त भ्रान्त भूतादि वादों से लेकर बड़े दर्शनों तक सब में एक बात अवश्य समान देखी जाती है। वह यह कि सब संसार का मूल कुछ रहस्यमय या अप्रमेय समझते हैं, जिसका वर्णन प्रत्येक मत करना चाहता है, पर कर नहीं सकता।

प्रोटागोरस से काण्ट तक सब दार्शनिकों के विचारों से यह स्पष्ट स्थिर हुआ है कि यह अप्रमेय सर्वव्यापी है, जिसका प्रकाश सब प्रमेयों में हो रहा है। यह परमार्थ सब दृश्यों के पीछे छिपा हुआ स्वयं कभी ज्ञान-गोचर नहीं हो सकता। अर्थात् मनुष्य का ज्ञान कभी स्वप्रमिति तक नहीं पहुँच सकता। यह बात दो प्रकार से प्रमाणित हो सकती है। एक तो अन्तिम वैज्ञानिक प्रत्ययों की दुर्बोधता के आधार पर आगमनात्मक तर्क द्वारा (Inductively) इस का स्थापन हो सकता है; और दूसरे बुद्धि के स्वभाव से ज्ञान व्यापार की परीक्षा के द्वारा निगमनात्मक अनुमान से (Deductively) इस का उपपादन किया जा सकता है।

दिक्, काल, द्रव्य, गति, शक्ति, चित्त, आत्मा, परमात्मा आदि प्रत्यय हैं जिनका मूल और स्वभाव दुर्बोध और अनिर्वचनीय है। विशेष प्रत्ययों को सामान्य में और फिर उनको और बड़े सामान्य में ले आते हैं। अंत में परा सत्ता पर स्थिरता होती है जिसका किसी और बड़े वर्ग में अन्तर्भाव नहीं हो सकता; और इसी लिये निर्वचन भी नहीं हो सकता। ज्ञान के प्रत्येक व्यापार में अनेक वस्तुओं का सम्बन्ध, भेद और सादृश्य अपेक्षित है; अर्थात् ज्ञान सम्बन्ध ग्रहण रूप है। इसलिये जिस वस्तु का वस्त्वन्तर से भेद, परिच्छेद और सादृश्य नहीं हो सकता, उसका बुद्धिगोचर होना असंभव है। अप्रमेय स्वतंत्र जगद्बाह्य परमार्थ न तो भेद ग्रह के, न परिच्छेद के, न सादृश्य के योग्य है; इसलिये उसके बोध में तीन असंभावनाएँ आ पड़ती हैं। स्पेंसर के मत से ईश्वर का विशेष स्वरूप क्या है, यह नहीं जाना जा सकता; पर उसकी सत्ता जानी जाती है; क्योंकि यदि बोध सम्बन्ध ग्रहण में नियत है, तो इससे अवश्य जान पड़ता है कि सम्बन्धातीत भी कुछ वस्तु है, जहाँ बोध नहीं पहुँच सकता। इसी लिये सब का अप्रमेय अविषय कारण मूल शक्ति में पक्का विश्वास है।

ज्ञान सम्बन्ध सापेक्ष है। एक सामान्य ज्ञान के बाद दूसरा, उसके बाद तीसरा ऐसे ही चलते चलते सामान्य ग्रहों की परम्परा बन जाती है। सामान्य मनुष्यों का ज्ञान परस्पर असंघटित है; वैज्ञानिक ज्ञान कुछ कुछ संघटित है। दार्शनिक ज्ञान सर्वथा संघटित है। दार्शनिक ज्ञान सर्वथा संघटित्त, सुव्यवस्थित और एकीभूत (Unified) है।

अप्रमेय एक शक्ति, उस शक्ति के प्रमेय विवर्त्तों में प्रमेय,

सादृश्य और भेद, इन प्रमेयों में आत्मा और अनात्मा का भेद आदि दर्शन के विषय हैं। आत्मा अनात्मा जड़ या चेतन ये सब शक्ति के ही रूपान्तर हैं। दिक् या समकालिक स्थिति के सम्बन्ध, काल या अपरिवर्त्य, क्रम के सम्बन्ध, द्रव्य अर्थात् रोधक स्थितियों की समानकालिक वृत्ति, गति जिसमें दिक, काल और द्रव्य तीनों की अपेक्षा है, और शक्ति जो मूलों का मूल है, जिस पर सब निर्भर है और जिसके वासनात्मक अनुभव से और सब संवित होते हैं—ये सब भी दर्शन के विषय हैं। शक्ति की सार्वकालिक सत्ता ही मूल परमार्थ है जिससे द्रव्य की अविनाशता, गति का सातत्य, शक्तियों के सम्बन्ध की नित्यता अर्थात् नियमों की एकरूपता, शारीरिक, मानसिक और सामाजिक शक्तियों का परिणाम और तुल्य परिवर्तिता, गति का दिङ्नियम अर्थात् उसकी अल्पतमावरोध-रेखानुसारिता, गुरुत्वाकर्षणानुसारिता और इन दोनों का योग और गति का अविच्छिन्न प्रवाह आदि निकलता है। शक्ति के नियम सब प्रमेय पदार्थों में लगे हुए हैं। इन सब नियमों में सब से अधिक व्याप्तिवाला नियम विकास का है। इसके अनुसार द्रव्य का सदा आन्तर परिवर्तन (Redistribution) हुआ करता है। संसार का प्रत्येक अवयव और समस्त संसार भी सदा विकास और विच्छेद (Evolution and Dissolution) इन दो व्यापारों में लगा हुआ है। विकासावस्था में द्रव्य का संघीभाव और विच्छेदावस्था में शिथिलीभाव होता है। इस विकास की तीन श्रेणियाँ हैं—

(१) शक्ति का केन्द्रस्थ होना (Concentration) जैसा कि बादलों के इकट्ठा होने में, प्रारम्भिक नीहारिका (Nebula)

और कीटाणुओं के जीवन केन्द्रों (Cells) में देखा जाता है। (२) भेदीकरण (Differentiation) मूल का बहिरा-वेष्टन से अलग होकर उसमें आन्तरिक भेद होना। (३) स्पष्टी-करण (Determination) अर्थात् भेदों का निश्चित रूप होकर आपस में ससम्बन्ध होकर एक सुव्यवस्थित पूर्ण (Organised Whole) का रूप धारण करना। विकास और विच्छेद में यही भेद है। विकाश में भेद के साथ संघटन है। विच्छेद में संघटन का अभाव है। विकास की गति अनिश्चित सम्बन्ध और व्यवस्था रहित एकरूपता से निश्चित ससम्बन्ध, व्यवस्थापूर्ण अनेक रूपता की ओर है। उदाहरणार्थ नीची कोटि के जीवों में विशेष इन्द्रिय भेद नहीं है; कहीं कहीं लिंग भेद भी नहीं है। एक स्पर्श इन्द्रिय ही सब इन्द्रियों का काम करती है। जैसे जैसे जन्तु विकास की श्रेणी में बढ़ते जाते हैं, वैसे वैसे उनमें इन्द्रिय भेद बढ़ता जाता है और साथ ही साथ भिन्न इन्द्रियों में सम्बन्ध भी स्थापित होता जाता है। मनुष्य में सब इन्द्रियाँ स्पष्ट हैं और सब अपने अपने सम्बन्ध से मनुष्य शरीर की रक्षा और वृद्धि में योग देती हैं। स्पेंसर ने विकास का यह नियम सभी विषयों में लगाया है। विकास का आदर्श केन्द्रस्थ होने की शक्ति और भेदीकरण के साम्य में है। यह अवस्था बहुत काल तक नहीं रहती। इसके बाद ही विच्छेद (Dissolution) का आरम्भ हो जाता है। विकास में भूत पदार्थ का एकीकरण (Integeration) और गति का वित-रण (Dissipation) होता है; और विच्छेद में गति का तिरो-भाव और भूत पदार्थ का अनेकीकरण या वितरण होता है। यह विकास और विच्छेद का नियम विश्व के लिये एक साथ प्रयुक्त

नहीं होता, वरन् ऐसा होता है कि यदि एक भाग में विकास होता है, तो दूसरे में विच्छेद का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार दर्शन के सामान्य तत्वों का व्याख्यान कर स्पेंसर ने दर्शन के विशेष विभागों का व्याख्यान करना आरम्भ किया है। इन विशेष विभागों में तीन मुख्य हैं—जीवन विभाग, मनोविभाग, और समाज विभाग। निर्जीव संसार का विषय छोड़कर स्पेंसर ने पहले जीवशास्त्र का तत्व (Principles of Biology) लिखा है जिसमें आन्तर सम्बन्धों के साथ अविच्छिन्न मिलावट का उसने जीवन समझा है। जैसे जैसे बाह्य और आन्तरिक सम्बन्धों का साम्य होता जाता है, वैसे वैसे ऐन्द्रिक शरीर विकास के क्रम में ऊँचा होता जाता है। इन दोनों सम्बन्धों का पुनः परस्पर सम्बन्ध मनोविज्ञान में पूर्ण रूप से दिखाया गया है। मनस्तत्व स्वयं क्या है, यह बात विज्ञान नहीं कह सकता। स्वयं मनस्तत्व अज्ञेय है। जिन अवस्थाओं में यह प्रकाशित होता है, केवल उन अवस्थाओं की परीक्षा विज्ञानाधीन है। स्नायुनिष्ठ आघात (Nervous Shock) ही संवित का मूलाधार है। संवेदन और संवेदनों में संबन्धों से चित्त बना है। इन्हीं संवेदनों के स्मरण, परस्पर सम्बन्ध और संघीभाव से समस्त संवित बना है। इसलिये चित्त की भिन्न वृत्तियों में परस्पर अत्यन्त भेद नहीं है। चित्त व्यापार में प्रतिफलन (Reflex Action) स्वाभाविक क्रिया, स्मरण, विवेक ये क्रम हैं। संवित के जो आकार व्यक्तियों में स्वाभाविक और सहज हैं, वे भी जाति में किसी न किसी समय अनुभव से प्राप्त हुए थे और पीछे स्नायुजाल में जमकर परम्परागत हुए हैं। स्पेंसर ने इस प्रकार अनुभववाद (Experi-

encism) और सहज ज्ञानवाद (Intuitionalism) का साम्य स्थापन करना चाहा है। किन्तु स्पेंसर ने इस सिद्धान्त द्वारा कठिनाई को पीछे हटा दिया है। यह प्रश्न बना ही रहता है कि प्रारम्भिक मनुष्यों में ऐसे ज्ञान की किस प्रकार नींव पड़ी। यदि यह कहा जाय कि अनुभव से, तो इसके विरुद्ध यही कहा जा सकता है कि जब अनुभव को आजकल कारणता आदि मूल सिद्धान्तों की अपेक्षा है, तब प्रारम्भिक काल में अनुभव किस प्रकार स्वतंत्र हो सकता है ?

बाह्य शरीर के द्वारा स्नायु तन्तुओं पर आघात होता है। उससे ज्ञान उत्पन्न होता है। चित्त और शरीर दोनों ही अप्रमेय के रूपान्तर हैं। संवित के एकीभाव और विभाग का प्रवाह रूप चित्त है। वही परमार्थ है जिसका अभाव विचार में न आ सके। इस नियम के अनुसार वस्तुवाद प्रत्ययवाद से अच्छा है; पर सद्वाद का वही रूप ठीक है जिसके अनुसार पारमार्थिक सत्ता मात्र जानी जाती है; पर उस सत्ता का निर्वचन नहीं हो सकता। इसी मत को स्पेंसर ने रूपान्तरित सद्वाद (Transfigured Realism) कहा है।

इस मत के अनुसार हमको वास्तविक सत्ता के अस्तित्व का ज्ञान उसके दृश्यों द्वारा होता रहता है। ये दृश्य उसकी प्रतिलिपि नहीं हैं, वरन् उसके संकेत हैं। लिखा हुआ शब्द बोले हुए शब्द का संकेत है। किन्तु जिस प्रकार लिखे हुए शब्द और बोले हुए शब्द में किसी प्रकार की समानता नहीं है, उसी प्रकार वास्तविक सत्ता और उसके दृश्यों में कोई समानता नहीं है। यही रूपान्तरितता है। वस्तुवाद में इतना है कि बाहरी सत्ता को

माना है। बहुत से लोग इस मत का मायावाद से तादात्म्य करते हैं; किन्तु मायावाद का आधार सच्चिदानन्द स्वरुप है; और यह आधार न जड़ ही है और न चेतन ही। जी० एच० ल्यूइस (G. H. Lewis) ने विकास वाद के सिद्धान्त को मानते हुए इस रूपान्तरित वस्तुवाद के विषय में आपत्ति उठाई है। उसका कहना यह है कि जो कुछ अनुभव में दिया हुआ है, वही सत्य और वास्तविक है। उसको संकेत मानकर उसके अतिरिक्त वास्तविक सत्ता की खोज करना मानों रोशनी के पीछे रोशनी की खोज करना है; और यह बुद्धि का भ्रम है। इसका कहना है कि यदि स्पेंसर साहब का रूपान्तरितवाद इन्द्रिय का भ्रम दूर करता है, तो मेरा युक्ति युक्त वस्तु वाद बुद्धि के भ्रम को दूर करता है। युक्ति युक्त वस्तु वाद (Reasoned Realism) के विषय में ल्युइस साहिब ने कहा है–It is a doctrine which endeavours to rectify the natural illusion of reason when reason attempts to rectify the supposed illusion of senses" *

निद्रा, स्वप्न, मूर्छा, मृत्यु आदि को देखकर प्राचीन मनुष्यों

* यह वह सिद्धान्त है जो बुद्धि के उस समय में उत्पन्न हुए स्वाभाविक भ्रम को, जब कि बुद्धि इन्द्रियों के माने हुए भ्रम को संशोधित करने की चेष्टा करती है, दूर करता है। अभिप्राय यह है कि बुद्धि इन्द्रियों के ज्ञान को भ्रमात्मक कहकर एक वास्तविक पदार्थ स्थापित करती है। ल्युइस साहब का कथन है कि इन्द्रिय का जो भ्रम है, वह केवल माना हुआ भ्रम है। बुद्धि जो उस भ्रम को दूर करने की चेष्टा करती है, यह उसकी भूल है। उनका वस्तुवाद बुद्धि की इस भूल को दूर करता है।

का ऐसा विश्वास हुआ कि शरीर से भिन्न 'चित्त' कोई वस्तु है। यह चित्त या प्राण या शरीरातिरिक्त आत्मा मरने पर कहीं रहता है और जीते हुए लोगों को सुख दुःख आदि देने का प्रयत्न करता रहता है, ऐसा विश्वास रखकर मनुष्यों ने जादू, तंत्र, प्रार्थना, स्तुति आदि से इन प्रेतों को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया। इसी पितृ-पूजा से वृक्ष-पूजा, मूर्ति-पूजा, जन्तु पूजा आदि अनेक धर्म निकले हैं। प्राचीन मनुष्य केवल जीवित जन्तुओं से नहीं, वरन् भूत प्राणियों से भी अपने को सम्बद्ध समझते थे। वे लोग ऐसा समझते थे कि हमारे चारों ओर भूत, प्रेत, पिशाच, सती, और ब्रह्म राक्षस आदि भरे हुए हैं। जीवित के भय से दण्ड भय और मृत-भय से धर्म-भय निकला।

युद्ध और वैश्य वृत्ति सब से प्राचीन सामाजिक वृत्तियाँ हैं। युद्ध वृत्ति में पारवश्य और वैश्य वृत्ति में स्वातंत्र्य मुख्य है। धर्म की उन्नति का मुख्य उद्देश्य मनुष्य, प्रेत आदि में विश्वास छोड़कर शुद्ध अप्रमेय को मानना है। इस प्रकार सामाजिक तत्वों का व्याख्यान कर स्पेंसर ने आचार तत्वों का व्याख्यान किया है।

जिस आचरण को अच्छा या बुरा कह सकते हैं, वही आचार शास्त्र का विषय है। उद्देश्य के अनुरूप व्यापार को आचार कहते हैं। जिससे अपना जीवन, संतान का जीवन और सामाजिक जीवन पूर्णता को पहुँचे और व्यक्तियों का आचरण इस उद्देश्य के पूर्णतया अनुरूप हो सके, इसी पर आचार सम्बन्धी विकास का बराबर लक्ष्य रहा है। किसी आचरण की परीक्षा के लिये यह देखना आवश्यक है कि उससे अनुष्ठान-प्रयुक्त दुःख की अपेक्षा फलीभूत सुख अधिक है या कम। जिस

कार्य के करने में जितना दुःख हुआ हो, उससे अधिक सुख यदि आगे निकल सके, तो वह कार्य अच्छा है। यदि सुख कम निकले तो बुरा है। आचरण की परीक्षा आधिभौतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक नियमों के अधीन है। स्वार्थ और परार्थ दोनों पृथक् होने के कारण अनर्थकारक हैं। दोनों में मेल होने से आचार की उन्नति होगी। स्वार्थ से परार्थ का साधन हो सकता है और परार्थ से स्वार्थ का। सब से पहले स्वार्थ प्रयुक्त कलह होती है। फिर प्रत्येक का स्वार्थ परस्पराधीन देखकर मनुष्य प्रेममय जीवन को पसंद करते हैं। सामाजिक आचारों में न्याय और उपकार मुख्य हैं। न्याय के अनुसार अपने स्वभाव और आचार की भलाई बुराई का उचित अंश कर्त्ता को मिलता है। प्रतिकार का भय, सामाजिक अपवाद, राजदण्ड, देवदण्ड आदि का भय परार्थ न्याय में सहकारी है और स्वार्थ न्याय स्वातंत्र्य की इच्छा से प्रवृत्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के स्वातंत्र्य का विरोध न कर जितना और जो कुछ चाहे, कर सकता है; यही न्याय का नियम है। स्पेंसर साहब ने मिल, बेंथम आदि की भाँति सुखवाद को माना है। स्पेंसर साहब के मत से सुख सामाजिक स्वास्थ्य का सूचक है। व्यक्ति और समाज में साम्य हो जाना ही सब कर्त्तव्यों का आदर्श है। मिल और बेंथम ने परार्थवाद को माना है; किन्तु उनके पास परार्थ साधन का कोई दार्शनिक आधार नहीं था। स्पेंसर के लिये यह आधार समाज के विचार में था। स्पेंसर के मत से समाज और व्यक्ति का अवयवावी सम्बन्ध (Organic Relation) है। अवयव अवयवी से पृथक् नहीं हो सकता। अवयवी के सम्बन्ध से अवयवों में परस्पर सम्बन्ध है। जो कार्य

समाज के लाभ का है, उससे व्यक्ति का भी लाभ होता है; और जिस कार्य से समाज को हानि पहुँचती है, उससे व्यक्ति को भी हानि पहुँचती है, यही परार्थ का आधार है।

समाज में राज्य और राज्य-शासन की आवश्यकता परस्पर विरोध के कारण पड़ती है। प्रजा में परस्पर अन्तर्भेद को बचाना, प्रजा की बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना राज्य का कार्य है। सब लोगों को समान अधिकार और समान स्वतंत्रता है। केवल इतना ध्यान रखना चाहिए कि एक की स्वतंत्रता से दूसरे की स्वतंत्रता में बाधा न पड़े; इसी के लिये राज्य की आवश्यकता है। स्पेंसर व्यक्ति के कामों में राज्य की ओर से अधिक हस्तक्षेप के विरुद्ध है; किन्तु आत्मरक्षार्थ युद्ध में व्यक्ति का राज्य के लिये जान देना भी श्रेय मानता है। स्पेंसर साहब साम्यवाद (Socialism) के विरुद्ध हैं। उन्होंने विकासवाद सम्बन्धी वैज्ञानिक विचारों के अतिरिक्त अज्ञेयवाद सम्बन्धी दार्शनिक विचारों का भी प्रतिपादन किया है; इसलिये अज्ञेयवाद को माननेवाले स्काटलैण्ड निवासी सर विलियम हेमिल्टन (Sir William Hamilton के मत का भी वर्णन इसके साथ ही दिया जाता है। इनके सापेक्षतावाद का स्पेन्सर साहब पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। अज्ञेयवाद में स्पेन्सर और हक्स्ले का नाम प्रायः साथ साथ आता है; इसलिये उनके मत का भी यहाँ पर थोड़ा बहुत उल्लेख कर देना आवश्यक है।

हैमिल्टन—स्काटलैण्ड के दार्शनिकों में हैमिलटन का बड़ा नाम है। यह अपनी विद्वत्ता के लिये भी बहुत मशहूर थे। इनका जन्म संवत् १८४५ में हुआ था और मृत्यु सम्वत् १९१३ में हुई थी।

इन्होंने अवश्यंभावी अनुभवातीत (Apriori Truth) को

माना है। विश्वव्यापकता और अवश्यंभाविता को इन्होंने मुख्य जाँच माना है। इनके मत से प्रतिकूल भाव की विचार में असंभावना (The Inconceivability of its Opposition) सत्य की कसौटी नहीं है। इनका कहना है कि बहुत से ऐसे विचार हैं जिन का प्रतिकूल या व्याघातक विचार असंभव हो। लेकिन यदि वह स्वयं भी असम्भव हो, तो फिर क्या उसे सत्य मान लेंगे? उदाहरण लीजिए। पूर्ण स्वतंत्रता और कार्य कारणाश्रयता दोनों ही विचार में नहीं आ सकते; इसलिये सत्य की यह परीक्षा ठीक नहीं। प्राय: ऐसा देखा गया है कि सत्य दो प्रतिकूल भावों के बीच की अवस्था होती है और पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों ही अयथार्थ होते हैं। फिर उनमें से दोनों के ही व्याघातक प्रतिकूल विचार में न आने योग्य होने के कारण, दोनों ही सत्य होने चाहिए थे; लेकिन यह बात असम्भव है। वास्तव में दोनों ही असत्य हैं। फिर व्याघातक प्रतिकूल की विचार में असंभावना के साथ उसकी स्वयं सम्भवता अवश्य देख लेना चाहिए; इसी लिये इन्होंने व्यापकता और अवश्यंभाविता दो ही सत्य के लक्षण माने हैं।

कार्य कारण (Causality) को इन्होंने अवश्यंभावी सत्य नहीं माना है; क्योंकि इसकी सिद्धि केवल इसी बात पर निर्भर है कि कि इसका प्रतिकूल नहीं विचारा जा सकता; और इनके मत से यह सत्य की कसौटी नहीं है। यदि यह नियम अवश्यंभावी न होता, तो मनुष्य-स्वातंत्र्य असम्भव होता। परन्तु स्वतंत्रता का प्रमाण हमको अपनी चेतना में मिलता है।

ये ज्ञान को सापेक्ष मानते हैं। सत्ता का ज्ञान निरपेक्ष रीति से नहीं हो सकता। उसका ज्ञान विशेष प्रकार से ही हो सकती है।

यह प्रकार हमारी मानसिक शक्तियों से सम्बन्ध रखता है; अर्थात् जो कुछ ज्ञान होता है, हमारी मानसिक शक्तियों के सम्बन्ध से होता है। उस सम्बन्ध से निरपेक्ष ज्ञान नहीं होता *। यदि हमारा ज्ञान सापेक्ष है, तो हमको ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि वह निरपेक्ष है। ये निरपेक्ष पदार्थ को असंभव या असत् नहीं मानते हैं, किन्तु इतना अवश्य कहते हैं कि निरपेक्ष पूर्ण और अनन्त दोनों नहीं हो सकता। इनका मत है कि अनन्त में एक प्रकार की अपूर्णता लगी हुई है। ईश्वर में दो गुणों में से एक ही गुण हो सकता है; किन्तु केवल तर्क से यह कहना कठिन है कि वास्तविक रूप से ईश्वर में कौन सा गुण है।

यही सापेक्षता का नियम इन्होंने मानसिक और भौतिक द्रव्य के विषय में लगाई है। हमको केवल दृश्य ही दृश्य दिखाई पड़ते हैं और दृश्य द्रष्टा की अपेक्षा रखते हैं। किन्तु इसके साथ यह सापेक्षता ऐसी नहीं कि इसके आगे कुछ न माना जाय। यह दृश्य, यह गुण किसी पदार्थ के दृश्य होंगे। हमको विश्वास है कि वह पदार्थ या द्रव्य है; किन्तु वह हमारे लिये अज्ञात और अज्ञेय है। मानसिक और भौतिक द्रव्य के दृश्य मात्र हमको दिखाई पड़ते हैं। इन द्रव्यों के विषय में इनका कहना है कि यह है अवश्य, किन्तु यह हमारे लिये अज्ञात और अज्ञेय है। इन दोनों

---

* ये ज्ञान की सापेक्षता हमारी शक्तियों की न्यूनता के कारण नहीं मानते, वरन् ज्ञान के लिये सापेक्षता स्वाभाविक मानते हैं। इनका कहना है कि सत्ता के जितने प्रकार हैं, यदि उनको जानने के लिये उतनी ही इन्द्रियाँ उत्पन्न हो जायँ, तब भी हमारा ज्ञान सापेक्ष रहेगा।

की दृश्य शृंखला में जो भेद दिखाई पड़ता है, उसी के अनुकूल उनके वास्तविक द्रव्य में भेद मानते हैं। इसमें इनका मत स्पेंसर साहब के मत से बहुत कुछ मिलता है; किन्तु ईश्वरवाद के विषय में इनका स्पेंसर से मतभेद है। काएट के अज्ञेयवाद को इन्होंने लॉक के सिद्धान्तों का स्वाभाविक परिणाम माना है। यह स्पेन्सर की भाँति अज्ञेयवाद पर रुक नहीं जाते। जिस प्रकार काएट ने वुद्धि का ह्रास होने पर कर्तव्य सम्बन्धी संसार का सहारा लिया, उसी प्रकार इन्होंने लोकमत दैवी आवेश द्वारा उन सिद्धान्तों की सत्यता का स्थापित होना माना है जिनकी सिद्धि नहीं हो सकती, परन्तु जिनका मानना परम आवश्यक है। हेमिल्टन के एक शिष्य डीन मैनसल (Dean nansel ने दार्शनिकों के निश्चित ज्ञान तक न पहुँचने के आधार पर ही धर्म की पुष्टि की है। उनका कहना है कि वुद्धिवादी लोग धर्म में जो कठिनाइयाँ देखते हैं, वे कठिनाइयाँ मानसिक सिद्धान्तों के वनावट में ही है। वे कठिनाइयाँ जैसी धर्म में हैं, वैसी ही विज्ञान में हैं (इस वात को एक अंश में स्पेन्सर ने भी माना है)। फिर धर्म में ही क्यों आपत्ति उठाई जाय ? जब एक और अनेक के दुर्भेद्य रहस्य के आगे दार्शनिक लोग मूक हैं, तब ईसाइयों के त्रिमूर्ति (Trinity) के विचार में आपत्ति उठानी चाहिए। जब हम किसी चीज की उत्पत्ति का रहस्य नहीं जान सकते, तब ईश्वर कृत अद्भुत चमत्कारों में क्यों आपत्ति उठावें। उनको असम्भव न कहना चाहिए। यदि वे ऐतिहासिक हैं तो ठीक हैं। स्पेन्सर धर्म और विज्ञान के मौलिक रहस्य के आधार पर उनका मेल कराते हुए धर्म का इस प्रकार पक्ष न करेंगे।

हक्सले—हक्सले साहब का नाम वैज्ञानिक पद्धति और

वैज्ञानिक मत के झुकाव के सम्बन्ध में बहुत आता है। ये सत्य के निर्णय में अपनी रुचि और इच्छाओं को बिलकुल स्थान नहीं देना चाहते। सत्य जैसा है, हमको वैसी ही देखना चाहिए। अपनी इच्छाओं या अभिलाषाओं से सत्य की जाँच न करनी चाहिए। स्वर्ग, अमरत्वादि यद्यपि हमारी इच्छाओं के अनुकूल हैं, किन्तु जब तक उसके लिये वैज्ञानिक अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण न मिले, तब तक हम उसमें विश्वास नहीं कर सकते। सत्य वही है जिसकी प्रयोगात्मक जाँच हो सके और जो उस जाँच में ठीक बैठे। जितना हमार जाँच में आ सकता है, वही सत्य है। यह जाँच प्रत्यक्ष अनुभव की जाँच है, तर्क की नहीं। जब तक हमारे अनुमान अनुभव-सिद्ध न हो जायँ, तब तक वे सिद्ध नहीं कहे जा सकते। जो बातें हमारे अनुभव में नहीं आ सकती, उनके लिये वैज्ञानिक को चुप रहना चाहिए। ये विज्ञान से आगे तत्वज्ञान में नहीं प्रवेश करना चाहते। जो कुछ विज्ञान के विरुद्ध है, उसका खण्डन करेंगे और उसके आगे राय न देंगे। ये स्पेन्सर और हैमिलटन के खण्डनात्मक भाग को मानते हैं; और जो लोग निरपेक्ष के विषय में इससे अधिक कहते हैं, उन पर हक्सले साहब हँसते हैं।

इनके मत से भूतवादी वैज्ञानिक लोग जो केवल 'भूत' द्रव्य को सब का कारण मानते हैं, अपने अधिकार से बाहर जाते हैं। इनका कहना है कि न तो हम भूत द्रव्य के ही बारे में जान सकते हैं और न आध्यात्मिक द्रव्य के बारे मे जानते हैं। इनका सिद्धान्त यह है कि भूतवाद और आत्मवाद दोनों ही वृथा वाद हैं। हम दोनों में से किसी के बारे में नहीं जान सकते; क्योंकि इन दोनों में से सिद्ध करने के लिये किसी पक्ष में गवाही नहीं

मिलती। इस प्रकार दोनों को इन्होंने वृथा वाद कहा है; किन्तु दोनों ही की ओर बहुत झुकाव प्रकट किया है। प्रत्ययवादियों के संवित या चेतना (Conciousness) को अन्तिम माना है। उससे कोई बाहर नहीं हो सकता। जो कुछ भी हम कहें, चाहे भौतिक द्रव्य चाहे शक्ति, वह संवित से बाहर नहीं है। लेकिन जब इस संवित की व्याख्या करने बैठते हैं, तब भूतवाद की ओर झुक जाते हैं। इनके मत से भूतवाद की कल्पना अधिक सुभीते की है। इस कल्पना में पदार्थ प्रयोग में आते हैं। वे ऐसे हैं जिन के विषय में निश्चपूर्वक से कुछ कहा जा सकता है। भूतवाद की कल्पना चेतना संवित के दृश्य को दृश्य संसार के जाने हुए और नियमों के साथ मिला देता है। यद्यपि इस प्रकार भूतवाद का समर्थन करते हुए थोड़ी अज्ञेय-वाद की मात्रा लगी हुई है, तथापि यह साधारण भूतवाद से अधिक दूर नहीं है। हक्सले साहब संवित का आधार मानते हैं और यह भी कहते हैं कि संवित से बाहर नहीं हो सकते। किन्तु हम इस स्थिति में और भूत वाद में कोई विरोध नहीं देखते। इनका कहना यह है कि भौतिक द्रव्य, मानसिक द्रव्य या मन का कारण नहीं है, वरन् वे संवेदन जिनको हम भौतिक पदार्थ कहते हैं, उन संवेदनों के कारण हैं, जिनको हम मानसिक संवेदन कहते हैं। इस प्रकार हक्सले साहब बहुत अंशों में ह्यूम की स्थिति पर आ जाते हैं। इन्होंने ह्यूम को अज्ञेय वादियों का राजा (Prince of Agnostics) कहा है। हक्सले साहब का कथन है कि निश्चय रूप से न हम भूत पदार्थ के बारे में कह सकते हैं और न आत्मिक पदार्थ के बारे में। दोनों ही एक अज्ञात

पदार्थ हैं। जहाँ तक एक पदार्थ से व्याख्या हो सके, वहाँ तक अच्छा है। इन दोनों अज्ञात पदार्थों में भौतिक द्रव्य के आधार पर व्याख्या करना अधिक अच्छा है; क्योंकि उसके बारे में हमको अधिक ज्ञान है। अन्त में कोई बात निश्चित रूप से नहीं कह सकते। हमको तो अपने व्यवहार चलाने के लिये प्राकृतिक नियमों का ज्ञान काफी है। हम लोग ताश खेलनेवालों की भाँति हैं। ताश के नियमों को यदि हम भली प्रकार जानते हैं, तो हम सफलता के साथ खेल सकेंगे। हमको खेल से काम है न कि यह जानने से कि ताश के पत्ते काहे के बने हैं और किसने बनाए हैं। आम खाने से काम। पेड़ गिनने से नहीं, यह अज्ञेय पदार्थ एक है या दो हैं या अनेक हैं, या एक भी नहीं, इसके बारे में निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जाता। It may turn out that 1 may be quite wrong that the reare no xs or 20 xs.

कर्तव्य सम्बन्धी विचारों में हक्सले साहब कुछ प्रकृतिवाद से हटे हुए हैं। इनका कहना है कि हमारा कर्तव्य प्रकृति का अनुकरण करना नहीं है, वरन् उससे ऊँचे जाना है। प्रकृति में जीवन संग्राम है। मनुष्य समाज का उद्देश्य इस संग्राम को घटाना है।

अन्य भौतिक द्रव्यवादी दार्शनिक हक्सले के साथ प्रायः टिन्डैल और हैकेल का नाम भी लिया जाता है। लेस्ली स्टीफिन और डबल्यू० के० क्लिफोर्ड भी इसी अज्ञेय वादियों के घेरे में गिने जाते हैं।

---

* हैकेल के Riddle of the Universe का अनुवाद पं० रामचन्द्र शुक्ल ने "विश्व प्रपंच" के नाम से किया है, जो नागरीप्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित हुआ है। पुस्तक पढ़ने योग्य है।

टिन्डैल और हैकेल—यद्यपि ये लोग भौतिक द्रव्य वादी हैं, तथापि इनके भौतिक द्रव्य में मनुष्य के उच्चतम भावों और उद्देश्यों के भी बीज वर्तमान रहते हैं। इस कारण इनके भूतवाद का स्थूलत्व कम हो जाता है। हैकेल ने अपने एक द्रव्य के आधार पर सारे संसार की रचना का रहस्य बतलाया है। आत्मवादी पंडितों और इन वैज्ञानिकों में इतना ही भेद है कि आत्मवादी दार्शनिक आत्मा को विकास के आदि में ही मानकर विकास की गति को चेतन कारणों द्वारा निश्चित हुआ मानते हैं; और ये विकसित द्रव्य में चेतन की सम्भावना मात्र मानते हैं और वह चेतनता विकास की एक खास श्रेणी में ही आकर प्रकट हुई है। अगर ऐसे वैज्ञानिकों का मत सूक्ष्म और सहृदय दृष्टि से देखा जाय तो सर्वमनस या चेतनवाद (Pan Pychism) में आ जाता है। इन लोगों की भूल इतनी ही है कि ऊँचे तत्व की नीचे तत्व द्वारा व्याख्या करते हैं।

सर्व मनसवाद की मात्रा क्लिफोर्ड के लेखों में स्पष्ट हो जाती है। ये संसार में मानसिक द्रव्य (Mind stuff) फैला हुआ मानते हैं। यही द्रव्यविकास द्वारा ऐन्द्रिक शरीरों में इकट्ठा होकर चेतना हो जाता है।

ये वस्तु की वस्तुता इसमें मानते हैं कि वह मेरे सिवा दूसरे के मन का भी विषय होती है।

धर्म और विश्वास के ये लोग कट्टर विरोधी हैं। ईश्वर के स्थान में ये मनुष्य और मनुष्य समाज को रखते हैं। ये मनुष्य में ही ईश्वरत्व मानते हैं। विलियम रीड (William. W. Reade) ने अपनी पुस्तक Martyrdom of Man (मनुष्य का बलिदान) में इसी बात को सिद्ध किया है। मनुष्य जाति एक व्यक्ति है

और वह पूर्णता की ओर जा रही है। वही ईश्वर है। ऐसे मत को हम अनीश्वरवाद इसलिये कहते हैं कि इसमें लोग मनुष्य के आगे कुछ नहीं मानते। वेदान्ती लोग भी मनुष्य को ईश्वर मानते हैं, किन्तु वे लोग मनुष्य के ईश्वरत्व को मनुष्य में ही संकुचित नहीं कर देते।

नवाँ अध्याय

हैगेल के पीछे का जरमन विचार

हैगेल और हर्बर्ट के बाद जरमनी में स्वतंत्र विचार के दो दार्शनिक हुए—फेक्नर और लोटजे। गुस्टाव थियोडोर फेक्नर लीप्सिग में अध्यापक था। धार्मिकों एवं प्रकृतवादियों ने ईश्वर और संसार को पृथक् और परस्पर अत्यंत भिन्न मानकर अपना अपना शास्त्र चलाया है। फेक्नर के मत से यह अत्यंत अनुचित है। जैसे आत्मा और शरीर परस्पर संबद्ध हैं, वैसे ही ईश्वर और संसार भी। द्रव्य के अवयवों का परस्पर सम्बन्ध आत्मशक्ति का कार्य है। जैसे जीवात्मा शरीर के व्यापारों और अवस्थाओं को संवित की एकता में इकट्ठा कर रहा है, वैसे ही परमात्मा समस्त सत्ता और भावों का ऐक्य है। समस्त प्रकृति ईश्वर का शरीर है। नक्षत्र, वृक्ष आदि सब सात्मक और सजीव हैं। मृत और निर्जीव से जीव नहीं पैदा हो सकता। यदि पृथ्वी निर्जीव होती तो इस से जीव कैसे हो सकते? जिस रूप या गंध से जन्तुओं को इतना आनंद होता है, क्या उस अपने ही रूप और गंध से जन्तुओं को आनंद नहीं होता होगा? अवश्य ही होता होगा। मनुष्य की आत्मा केवल मध्य में है। उसके नीचे की श्रेणियों में वृक्ष आदि की आत्मा है। इन सब आत्माओं का ऐक्य चित्त स्वरूप परमात्मा में होता है। परमात्मा की सर्वव्यापकता के बोध द्वारा शुष्क विज्ञान वाद की रात्रि से मनुष्य बचता है।

वैज्ञानिकों के अनुसार चित्त के अतिरिक्त सब कुछ अंधकारमय है। पर यह बात सर्वथा असंगत है; क्योंकि रूप, रस, शब्द आदि जीवगत चित्त शक्ति निष्ठ भास मात्र नहीं हैं। ये परमार्थिक ईश्वरीय ज्ञान के अवयव हैं। जैसे पृथ्वी पर जीवन है, वैसे ही ऊपर के लोकों में भी जीवन है—एक से एक उत्तम लोक हैं। दुःख या तम केवल सुख का मूल है। बिना तम के रज और सत्व की प्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि बिना दुःख के उद्योग और ज्ञान की ओर कोई जाता ही नहीं।

इस प्रकार दार्शनिक विषयों को दिखलाकर वेबर आदि मनोविज्ञान वेत्ताओं के निकाले हुए नए 'मनः शरीर सम्बन्ध शास्त्र' (Psycho Physics) की ओर फेक्नर ने ध्यान दिया। फेक्नर के वैज्ञानिक 'रात्रिमत' के विरुद्ध दार्शनिक 'दिन मत'—जैसा कि ऊपर दिखला आए हैं—शुद्ध विश्वास पर निर्भर है, जिसका मूल इतिहास, धर्म और आचार तीनों ही में है। पर मन और शरीर अर्थात् अन्तःकरण और बाह्य करण के सम्बन्ध के अन्वेषण में फेक्नर ने विश्वास पर निर्भर न रहकर शुद्ध वैज्ञानिक रीति से तत्व निश्चय का यत्न किया है। हर्बर्ट ने मन के व्यापारों को साक्षात् नापना चाहा था, पर उसका प्रयत्न सफल नहीं हुआ। अब फेक्नर ने इन्द्रियों के व्यापार के द्वारा मन के व्यापारों को नापने में सफलता प्राप्त की।

वेबर ने दिखलाया था कि संवेदन के बल में घटती बढ़ती बाह्येन्द्रियोत्तेजना सम्बन्धिनी घटती बढ़ती के परिमाण के तुल्य होती है। अर्थात् यदि आँख पर एक संख्या का प्रकाश पड़ने के बाद उससे शतगुण प्रकाश शीघ्र पड़े, तो देखनेवाले को प्रकाश के एक और

सौ में उतना ही अन्तर जान पड़ेगा, जितना कि २ और २०० या ३ और ३०० इत्यादि में। इसी सम्बन्ध के, एवं किस इन्द्रिय के संवेदन में किस परिमाण का भेद पड़ने से अन्तर स्पष्ट विदित होता है, इस के अन्वेषण में फेक्नर ने अधिक परिश्रम किया।

फेक्नर के अन्वेषण से यह विदित हुआ है कि जैसे वेबर ने आँख का उदाहरण दिखाया है, वैसे ही त्वगिन्द्रिय आदि के विषय में भी दिखाया जा सकता है। देखा गया है कि पन्द्रह रत्ती का बोझ यदि हाथ पर (सिर या और किसी चीज़ के अवलम्ब पर हाथ रहे) दिया जाय, तो फिर एक रत्ती और देने से कुछ भेद नहीं मालूम होता। जब पाँच रत्ती और दिया जाय, तब भेद मालूम होता है। अब यदि यह प्रश्न किया जाय कि तीस रत्ती पहले देकर फिर कितनी रत्तियों के बढ़ाने से बोझ में भेद मालूम होगा, तो उत्तर पाँच नहीं होता, दस होता है। अर्थात् जितना गुना अधिक संवेदन कारण होगा, उतनी ही गुनी अधिक वृद्धि होने से अन्तर जान पड़ेगा। गुरुत्व और शब्द संवेदन में ३:४ का अन्तर पड़ने से भेद मालूम होता है। पेशी के तनाव (Muscle Sense) में १५:१६ का अन्तर पड़ने से संवेदन भेद होता है; और दृष्टि में १००:१०१ भेद पड़ने से अन्तर मालूम होता है।

इन अन्वेषणों के पीछे भी फेक्नर ने यह सिद्ध किया है कि आत्मा और शरीर नित्य युक्त हैं; न निरात्मक शरीर हो सकता है और न निःशरीर आत्मा। परमार्थ एक है। वहाँ अपने लिये आत्म रूप और दूसरों के लिये शरीर रूप देख पड़ता है। यह बाह्य संसार केवल ईश्वरीय महा विज्ञान स्वरूप है, जो सब व्यक्तिनिष्ट विज्ञानों को घेरकर वर्तमान है।

वुन्ट—इस के मत से फिलासोफी विश्वव्यापक विज्ञान है, अर्थात् इसमें भिन्न विज्ञानों द्वारा प्राप्त सिद्धान्तों का एकीकरण होता है। यदि हम बाह्य पदार्थों के अनुभव को लेकर चलते हैं, तो जड़वाद के परमाणुओं का सहारा लेना पड़ता है। यदि हम अपने को मानसिक जीवन में संकुचित कर लें, तो प्रत्यय-वाद में आना पड़ता है। हम को भीतर बाहर दोनों ही को मानना पड़ेगा, किन्तु भीतर को प्रधानता देनी पड़ेगी। बाहरी संसार को चित् से खाली नहीं मान सकते। बाहरी सृष्टि आन्तरिक सृष्टि के छिलके की भाँति है। मानसिक जीवन में वुन्ट ने कृति या संकल्प को प्रधान माना है। भिन्न भिन्न संकल्पों का एक महान् शक्ति के संकल्प में योग करना आवश्यक है। जीव आत्मिक क्रिया है। एक प्रकार से सारा संसार क्रिया और उद्योग से पूर्ण है। वुन्ट ने मनोविज्ञान में अच्छा नाम पाया है। फेक्नर की भाँति इसने भी प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का अभ्यास किया है। इस ने जड़ चेतन की समकालिक गति (Psychophysical Paralalysm) को गौण रीति से माना है। इस सिद्धान्त में इसने दो एक स्थान पर विरोध और अपवाद बतलाए हैं। मानसिक जीवन में संकल्प या कृति को इसने भी प्रधानता दी है।

जर्मनी का एक और स्वतंत्र विचारक रुडोल्फ हर्मान लोटज़े हुआ है, जो गोटिंगने में अध्यापक था। लोटजे कहता है कि समस्त दर्शन का विषय परमार्थ या सत् है। यह सत् क्या है ? लोटजे के मत से जो उचित है, वही सत् है। इसने फिक्ट की भाँति श्रेय (good) को प्रधानता दी है; किन्तु इस श्रेय के विचार को क्रिया में ही संकुचित नहीं कर दिया है। जो सुन्दर है, वह भी

श्रेय के अन्तर्गत है। लोटजे के मत से ऐन्द्रिक और अनैन्द्रिक (Organic and Inorganic) पदार्थों में व्यवस्थान (arrangment) का भेद है, गुण का भेद नहीं है। सब ऐन्द्रिक शरीर यन्त्रवत् चलते हैं। इस शरीर के ंत्रवत् चलनेवाली कल्पना में मनुष्य के स्वातंत्र्य के लिये स्थान नहीं रहता। किन्तु जब हम इस यंत्रवत् संचालन का आधार ईश्वर में देखते हैं, तब यह कल्पना जड़वाद के दोष से बच जाती है। (उमा दारु-जोषित की नाईं। सबहिं नचावहिं राम गुसाईं॥—तुलसी।) लोटजे के मत से संसार का यंत्रवत् संचालन ईश्वरीय बुद्धि के व्यंजन का एक प्रकार है। शैलिङ्ग, हैगेल आदि ने यंत्रवाद (Mechanism) का तिरस्कार किया था, इसी लिये उनको संसार की व्याख्या करने में सफलता नहीं हुई।

लोटजे ने यंत्रवाद को ईश्वर वाद और उद्देश्य वाद (Teleology) को मिलाया था। इस मिलान से वह अनेकवाद से एकवाद में पहुँच गया। अनेकवाद से पूरी व्याख्या नहीं होती। सब भिन्न भिन्न शक्तियों का आधार एक में होना चाहिए। यही एक शक्ति ईश्वर है। ईश्वर ही पूर्ण पुरुष है। हम में पुरुषता (Personality) है, किन्तु वह पूर्ण नहीं है। सब सान्त व्यक्ति उसी अनन्त शक्ति के व्यंजन हैं। इस सर्वव्यापिनी अनन्त शक्ति द्वारा ही भिन्न परमाणुओं का संचालन और अन्तर सम्बन्ध सम्भव है। इस प्रकार लोटजे सर्वेश्वरवाद में पहुँच जाता है।

लोटजे के मत से यह दृश्य संसार किसी स्वतंत्र सत्ता का प्रतिफलन नहीं है, वरन् बाह्य उत्तेजकों (Stimulies) के प्रति हमारी संवित्ति की क्रिया का फल है। लोटजे सत्ता और

उसके अभिज्ञान (Cognition) में भेद नहीं करता। अभिज्ञान की क्रिया भी तो स्वयं सत्ता का ही अंश है। सब बातों की व्याख्या उद्देश्य या लक्ष्य से होती है। संसार की भी व्याख्या उद्देश्य या लक्ष्य से करनी चाहिए। बाह्य स्वतंत्र वस्तु के विषय में लोटजे का उत्तर अपनी संविति के उपमान के आधार पर है। यदि कोई वास्तविक सत्ता है, तो उसमें क्रिया प्रतिक्रिया एवं परिवर्तन में स्थिरतादि के गुण होने चाहिएँ। यह गुण हमारी संविति में ही मिलते हैं; इसलिये संसार का आधार संविति में ही होना चाहिए। वैज्ञानिको के परमाणु भी लीब्नीज़ के जीवाणुओं की भाँति शक्ति के केन्द्र हैं। नीच से नीच कोटि की सत्ता भी निर्जीव नहीं है। यद्यपि स्वप्रमा (Selfconciousness) मनुष्य मे प्राप्त होती है, पर किसी न किसी दरजे का मानसिक जीवन सभी सत्ताओं में पाया जाता है।

एडवर्ड वन हार्टमान—इसका जिक्र शौपनहौर के प्रकरण मे हो चुका है। सत्ताईस बरस की अवस्था में इसने अपना मुख्य ग्रंथ "चेतनाशून्यावस्था" का दर्शन लिखा। इस ग्रंथ का शीघ्र ही इतना प्रचार हुआ जितना बहुत कम दार्शनिक ग्रंथो का हुआ होगा।

वैज्ञानिक रीति से दार्शनिक कल्पनाओं का उपपादन एवं हैगेल के 'प्रत्यय' और शौपनहौर की 'कृतिशक्ति' का योग करना हार्टमान का मुख्य उद्देश्य है। संसार को दुःखमय समझना और सुख की आशा न रखना अर्थात् निर्वेद (Pessimism) हार्टमान के दर्शन में भरा है। इस विषय में यह शौपेनहौर का अनुगामी तथा दार्शनिक रीति में फेक्नर और लोटजे का अनुगामी है।

हार्टमान के मत से मूर्त द्रव्य अणु शक्तियों का परम्परा रूप है। इन परमाणु शक्तियों में कृति शक्ति उद्देश्य के स्पष्ट ज्ञान से रहित अवस्था में वर्तमान है। इसलिये द्रव्य मात्र ही प्रत्यय और कृति स्वरूप है और चित्त तथा चेतनीय का भेद पारमार्थिक नहीं है। इसी प्रकार शरीर की स्थिति स्वाभाविक और अचेतन है। सभी अवयवों के कुछ उद्देश्य हैं; चाहे उनका स्पष्ट ज्ञान अंगों को न हो। मनुष्य को जो कुछ प्रत्यक्ष होता है, वह पहले स्पष्ट ज्ञान से रहित ही होता है। सुख, दुःख आदि का भी मूल ज्ञान नहीं है। ज्ञान-रहित अवस्था में ही इनका उपद्रव है। यहाँ तक कि किस नाड़ी से और मस्तिष्क के किस अंश के उत्तेजन से क्या व्यापार और कैसी चित्त वृत्ति होती है, यह मनुष्य स्वयं नहीं जानता।

ये व्यापार स्वभावतः होते हैं; पर स्वभाव तो अचेतन है। चेतना शक्ति का कार्य केवल निषेध, परीक्षा, नियमन, परिमाण, तुलन, योजन, वर्गीकरण, व्याप्तिग्रह, अनुमान आदि में है। चेतना शक्ति से नई सृष्टि कभी नहीं हो सकती। सृष्टि अचेतन के अधीन है। चेतना अचेतन व्यापार का उद्देश्य भी नहीं है। यह केवल अचेतन के उद्देश्य का उपाय रूप है। संक्षेपतः हार्टमैन ने कृति और चित्त दोनों का उदय अचेतन से माना है। यह अचेतन स्वयं चेतन नहीं है, वरन् चेतन इसका फल है। हेगेल ने चित् को माना, कृति को नहीं। शौपेनहौर ने कृति को माना और चित् का तिरस्कार किया। हार्टमैन ने चित् (Consciousness) और कृति (Will) दोनों ही का योग अचेतन में किया है।

हार्टमान ने दिखलाया है कि दुःख का यथार्थ ज्ञान होने में

मनुष्य उसका उदासीन निरीक्षक होकर शान्ति पाता है, जैसा कि उसने स्वयं किया है। संसार में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है; इसलिये संसार चेतन का कार्य नहीं हो सकता। मूल तत्व की क्रिया शक्ति (रज) ज्ञान शक्ति (सत्व) से पृथक् होकर कार्य करती है। तथापि ज्ञान शक्ति सदा क्रिया शक्ति का नियमन करती रहती है; इसलिये विकासवाद और दुःखवाद (Evolution and Pessimism) दोनों ही ठीक हैं। जब रज या कृति शक्ति नष्ट हो जायगी, तब ईश्वर में फिर संसार मिल जायगा और मुक्ति पावेगा।

पहले पहल मनुष्य इस रजोमय संसार में सुख की आशा करता है। फिर यहाँ के दुःखों से भीत होकर परलोक में सुख की आशा करता है। फिर स्वर्ग और परलोक असंभव सा देख पड़ता है; और आज नहीं तो किसी समय पृथ्वी पर ही सुख की ओर उन्नति की आशा होती है। पहली अवस्था नास्तिकों की, दूसरी आस्तिकों की तथा तीसरी विकासवादियों की है। इन तीनों की सुख मृग-तृष्णा को मिटानेवाला वैराग्य है जिसके अनुसार न यहाँ, न स्वर्ग में, न आज और न कल सुख की आशा है। केवल काम * रूपी दुःख को (जो रजोमय है) नष्ट करने से मनुष्य को शान्ति मिल सकती है।

---

* काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महा पाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मनां।
जहि शत्रु महाबाहो काम रूपं दुरासदम् ॥

भगवद्गीता।

जितनी ही श्रद्धा अधिक बढ़ती है, उतना ही दुःख और अशक्ति बढ़ती है। इच्छा अधिक बढ़ती जाती है और उसके परितोष के उपाय कम होते जाते हैं। बद्ध और दुःखी संसारी जीव को ईश्वर के अभिमुख होकर मुक्ति के लिये यत्न करने में ही वास्तविक शान्ति और सुख मिलता है, न कि संसार का बखेड़ा बढ़ाने में। तथापि जब तक ऐसी अवस्था नहीं आती, तब तक केवल दुःख के भय से कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। अब अगले अध्याय में जर्मनी के वर्तमान दार्शनिक ओइकन (Eucken) का वर्णन कर देना आवश्यक है।

दसवाँ अध्याय

रुडोल्फ ओइकन—इसका जन्म सम्वत् १९०३ वि० में हुआ था। यह वर्तमान समय में जरमनी के मुख्य दार्शनिकों में है। यद्यपि कई बातों में जेम्स और बर्गसन से इसका मतभेद है, किन्तु क्रिया को प्रधानता देने में यह इन लोगो के साथ है। इसके भी मत से बुद्धि सम्बन्धी ज्ञान हमारे मानसिक जीव का एक अंग है। इसके द्वारा जीवन की पूरी व्याख्या नहीं हो सकती। हमारा जीवन बहुत पेचीला है और बुद्धि इसकी पूर्णतया व्याख्या करने में असमर्थ है। जीवन के भेद जीवन ही में खुल सकते हैं; और जीवन एक क्रिया है। सत्य जानने का विषय नहीं है, वरन् जीवन और क्रिया का विषय है। जेम्स या अन्य व्यवहार वादी (Pragmatists) सत्य को मनुष्य के हित और रुचि के आधार पर रखते हैं; किन्तु ओइकन के मत से सत्य का आधार मनुष्य के ज्ञान से अधिक दूर तक जाता है। सत्य का आधार उस आत्मिक जीवन में है जिसके द्वारा मनुष्य को सत्य का ज्ञान होता है। आइकन ने इस सत्य की खोज इतिहास में होकर की है। इतिहास से हमको ज्ञात होता है कि मनुष्य उन्नति करता आया है। यदि मनुष्य केवल प्राकृतिक तत्वों का संघात होता, तो वह प्रकृति से ऊँचा न जा सकता। मनुष्य के मानसिक इतिहास से यह स्पष्ट है कि मनुष्य वर्तमान से ऊँचे जाने का यत्न किया करता है। यही आध्यात्मिक जीवन (जो हमारे मानसिक

जीवन से परे है) आत्मा की प्रेरणा का फल है। यह आध्यात्मिकता हमारे उच्च जीवन का आधार है।

मनुष्य का प्राकृतिक जीवन आध्यात्मिक जीवन की अपेक्षा नीचा है। आध्यात्मिक जीवन प्राकृतिक जीवन का फल नहीं है, वरन् उससे स्वतंत्र है। प्रायः मनुष्य के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब कि उसको प्राकृतिक जीवन से निर्वेद उत्पन्न होता है और उसे आध्यात्मिक जीवन की झलक मिलती है। जो लोग अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों के वश में रहते हैं, वे इस आध्यात्मिक जीवन से लाभ नहीं उठा सकते। इस आध्यात्मिक जीवन में अपने को मिला लेना ही परम श्रेय है। मनुष्य को यह जीवन प्राप्त करने के लिये बहुत झगड़ा करना पड़ता है। अन्त में मनुष्य प्राकृतिक जीवन पर पूर्ण अधिकार जमाकर पूर्णतया स्वतन्त्र हो सकता है। आध्यात्मिक जीवन के अनुकूल चलने में ही मनुष्य की पूर्ण स्वतन्त्रता है।

मनुष्य इस आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश कर अपने क्षुद्र व्यक्तित्व (Individuality) से पार होकर पुरुषता (Personality) में प्रवेश करता है। इस पुरुषता में प्रवेश करने में मनुष्य अपनी निजता नहीं खोता। वह केन्द्र रूप बना रहता है, किन्तु उसके वृत्त का विस्तार बढ़ जाता है। इस तरह से ओइकन पुरुषता और ब्रह्म का मिलान कर देता है। इस आध्यात्मिक जीवन के मूल स्रोत को ओइकन ईश्वर कहता है। यद्यपि वह ईश्वर में पुरुषता बतलाने में संकोच करता है, तथापि वह ईश्वर को दुःख सुख विशिष्ट संसार से अतीत नहीं मानता। हमको इससे प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में बल मिलता है।

धर्म का मूल भी इस आध्यात्मिक जीवन की ओर उद्योग करना और उसमें अपने को मिला देना है। जो लोग अपने को आध्यात्मिक जीवन में मिला देने में सफल होते हैं, वही अमरता प्राप्त कर सकते हैं; और जो लोग प्राकृतिक प्रवृत्तियों के वश में पड़े रहते हैं, वे नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

यद्यपि ओइकन का दर्शन धार्मिक भाव से भरा हुआ है, तथापि इसने प्राकृतिक और आध्यात्मिक जीवन का भेद बहुत बढ़ा दिया है। और उस दशा में एक से दूसरे पर जाने के लिये रास्ता नहीं रह जाता।

पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास

(तीसरा खंड)

आधुनिक दर्शन

दूसरा भाग

पहला अध्याय
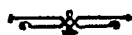
नवीन प्रत्ययवाद

जर्मनी के प्रत्यय वाद की लहर हैगेल के दर्शन में उच्चतम स्थान को पहुँच गई थी। किन्तु उसके पश्चात् उसका नाश नहीं हुआ, वरन् इंगलैण्ड और अमेरिका में वह नए रूप से प्रकट हुई। जिस समय स्पेंसर और मिल की दुहाई बोली जा रही थी, उसी समय कुछ दार्शनिक काण्ट और हैगेल के ग्रंथों का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने लगे थे। जे० एच० स्टर्लिङ्ग द्वारा "हैगेल का रहस्य" (Secret of Hegel) के लिखे जाने के पश्चात् लोगों का झुकाव जर्मनी की फिलासोफी की ओर और भी बढ़ गया; और इंगलैण्ड के दार्शनिक नेता अनुभववाद को छोड़ कर प्रत्यय वाद की ओर चलने लगे। इन दार्शनिकों में ग्रीन (C. H. Green), एडवर्ड कैयर्ड (Edward Caird), जॉन कैयर्ड (John Caird), एफ० एच० ब्रेडले (F. H. Bradley), ज़ेम्स वार्ड (James Ward), मैक्टगर्ट (Mctaggart) आदि मुख्य हैं।

अमेरिका में जोशुआ रोइस (Joshoah Royce) आज कल प्रत्ययवाद के व्याख्याता हैं।

ग्रीन—(T. H. Green) इन का जन्म सन् १८३६ में यार्कशायर के बर्किन नामक एक गाँव में हुआ था। इन्होंने

अपना बहुत सा समय ऑक्सफोर्ड (Oxford) के बेलियल कॉलेज (Baliol College) में व्यतीत किया था। इनकी मृत्यु सन् १८८२ में हुई थी।

ग्रीन का मत वस्तु प्रधान प्रत्ययवाद (Objective Idealism) के नाम से प्रसिद्ध है। इन पर काण्ट का प्रभाव अधिक है। इन्होंने ह्यूम के अनुभववाद, स्पेंसर के विकासवाद और मिल के सुखवाद का खण्डन कर प्राकृतिक विज्ञान के स्थान में आत्मवाद का स्थापन किया था। विकासवादी और अनुभव वादी लोग उसी को दृश्य का फल बतलाते हैं जिसके ऊपर दृश्य की सत्ता निर्भर है। सारा दृश्य संसार सम्बन्ध के तन्तुओं से बना हुआ है। सम्बन्ध-रहित कोई पदार्थ नहीं है। सम्बन्ध का ज्ञान पदार्थ से नहीं हो सकता। जो लोग इस बात को मानते हैं कि बाहरी पदार्थ स्वतंत्र रूप से हमारी चेतना में अंक जमाते हैं और हमारी चेतना का सम्बन्ध क्रम बाहरी पदार्थों द्वारा निश्चित होता है, वे भूल करते हैं।

प्रकृति का ज्ञान—हमारी चेतना के परिवर्तन ही परिवर्तन का ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकते हैं और न वह एक हैं (Change of conciousness is not conciousness of change)। परिवर्तन के ज्ञान के लिये एक ऐसी वस्तु होनी चाहिए जो इन परिवर्तनों से स्वतंत्र हो*। जो एक रहकर अनेकों को सम्बन्धों के तन्तु में

---

* नीचे के वाक्य से इसकी तुलना कीजिए—
"व्यावर्तमानेषु यदनुवर्तते तत्तेभ्योभिन्नं"। अर्थात् जो बदलनेवाले दृश्यों में नहीं बदलता, वह उनसे भिन्न है।

ग्रस्त कर सके, ऐसी मिलानेवाली शक्ति हमारी प्रज्ञा है। काण्ट ने भी यही माना है कि प्रज्ञा द्वारा सम्बन्ध स्थापित होकर हमारा अनुभव बनता है; किन्तु काण्ट ने इस अनुभव के आधार को प्रज्ञा से स्वतंत्र माना है। पर यदि विचार किया जाय तो अनुभव को प्रज्ञा से स्वतंत्र मानना भूल है। जब हमारा अनुभव बिना प्रज्ञा के दिए हुए सम्बन्धों के कुछ नहीं है, तो उसका आधार ही उन सम्बन्धों बिना क्या हो सकता है? फिर इसमें यह प्रश्न बना ही रहता है कि प्राकृतिक संस्थान और मानसिक संस्थान का किस प्रकार से साम्य हो जाता है।

इन प्रश्न से बचने के लिये यदि कोई मानसिक संस्थान को प्राकृतिक संस्थान का फल बतला दे, तो उसमें दो दोष आते हैं। एक तो वही जो ऊपर बताया जा चुका है कि प्रकृति परिवर्तनों का प्रवाह है और यह ज्ञान कि परिवर्तन होते हैं, अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था प्राप्त होती है, केवल इन्हीं परिवर्तनों से नहीं प्राप्त हो सकता। परिवर्तन का ज्ञान तभी हो सकता है, जब कोई वस्तु इन परिवर्तनों से स्वतंत्र हो। दूसरा दोष यह है कि यह बात कोई नहीं जानता कि अनुभव से स्वतंत्र प्रकृति क्या है; स्वयं वे लोग भी नहीं जानते जो प्रकृति को ही सब का मूल कारण मानते हैं। अनुभव से स्वतंत्र प्रकृति अज्ञात है; और अज्ञात के द्वारा ज्ञात की व्याख्या करना मूर्खता है। अज्ञात की व्याख्या ज्ञात से होती है, न कि ज्ञात की अज्ञात के द्वारा।

फिर क्या यह सब वास्तविक संसार मनोकल्पित है? केवल इस अर्थ में मनोकल्पित नहीं है कि यह किसी व्यक्ति की कल्पना नहीं है। यह मानसिक है; और मानसिक ही वास्तव है। वास्तविकता

मानसिक या अमानसिक होने पर निर्भर नहीं है। चेतना से बाहर कुछ नहीं है। वास्तविकता इस बात पर निर्भर है कि हमेशा एक सी रहे—उसके सम्बन्ध अटल रहें। वास्तविक संसार ऐसे ही अटल सम्बन्धों का संस्थान है। व्यक्तिगत संस्थान और इस संस्थान का साम्य है। यह संस्थान भी मानसिक है, क्योंकि सम्बन्धों का संस्थान चेतना के अतिरिक्त और कहाँ रह सकता है। समष्टि की चेतना में इन सम्बन्धों की वास्तविकता है।

जब ये सम्बन्ध हमको अपने नैसर्गिक क्रम से प्राप्त होते हैं, तब ये सत्य हैं; और जब इस नैसर्गिक क्रम के अतिरिक्त अन्य किसी क्रम में दिखाई पड़ते हैं, तभी असत्य हैं। जो क्रम सब को एक सा दिखाई पड़े, वही नैसर्गिक या वास्तविक क्रम है। प्रकृति की एकाकारता (Uniformity of Nature) की भी व्याख्या, हमारी चेतना से साम्य रखनेवाली समष्टि की चेतना के ही आधार पर हो सकती है। हमारे ज्ञान का विस्तार किसी बाहरी स्वतंत्र वस्तु के क्रमागत ज्ञान के आधार पर नहीं है; वरन् वास्तविक बात यह है कि पूर्ण या समष्टि की, जिसको चाहे ससम्बन्ध पदार्थों के संसार में अनादि और अनन्त चेतना का व्यंजन कह लो, चाहे ऐसी चेतना द्वारा बना हुआ ससम्बन्ध पदार्थों का संस्थान कह लो, क्रमशः धीरे धीरे हमारे ज्ञान में प्रतिलिपि होती रहती है, जिसके द्वारा अटल और निश्चित सम्बन्धों में प्रज्ञा और प्रज्ञा द्वारा समझे तथा जाने हुए पदार्थ एवं अनुभव और अनुभव किया हुआ संसार मिलता रहता है। संक्षेप में और सम्बन्धपूर्ण संसार और सम्बन्धों को बनाने तथा पहचाननेवाली संज्ञा का आधार एक ही है; और वह आधार भी प्रज्ञा रूप है।

जिस प्रकार तत्व ज्ञान के सम्बन्ध में ग्रीन ने प्रकृतिवाद को उड़ाया है, उसी प्रकार कर्त्तव्य के सम्बन्ध में भी ग्रीन ने प्रकृतिवाद पर सधे हुए सुखवाद को काटा है।

कर्तव्य सम्बन्धी विचार—मनुष्य में पशुओं की भाँति बहुत सी स्वाभाविक चाहें और इच्छाएँ होती हैं, लेकिन वे मनुष्य की क्रिया में नहीं आ सकतीं। कोई क्रिया मनुष्य की क्रिया या आचार तभी कहलावेगी जब कि उसके करने की इच्छा को वह अपनावे। यद्यपि यह बात ठीक है कि मनुष्य की क्रिया उसके पूर्व संस्कारों पर निर्भर है और इस अंश में मनुष्य अ-स्वतंत्र है, किन्तु मनुष्य के संस्कार उसी के बनाए हुए हैं और वह नए संस्कार भी बना सकता है। इस अंश में वह स्वतंत्र है। वह वर्तमान से अच्छी अवस्था की कल्पना कर सकता है, यही उसकी उन्नति का कारण है—इसी में उसकी मनुष्यता है। उसको उत्तम अवस्था का ज्ञान समष्टि के ज्ञान के सम्बन्ध के कारण प्राप्त हो जाता है। सब से श्रेष्ठ कर्त्तव्य का आदर्श वही हो सकता है जिसमें मनुष्य की पुरुषता और उसकी शक्तियों का पूर्ण विकास हो सकता हो। इस आदर्श को पूर्ण करने में सब की उन्नति होती जायगी; और समाज की ऐसी अवस्था प्राप्त हो जायगी जिसमें सब को कर्त्तव्य का खयाल होगा—सब एक दूसरे के साथ भाईचारे का व्यवहार करेंगे। समस्त कर्त्तव्य और सुधार का आदर्श यही है कि मनुष्य अपनी पूर्णता को प्राप्त हो सके। जो धार्मिक लोग आत्मोन्नति के लिये यत्न करते हैं, उनका वह यत्न सराहनीय है। आत्मोन्नति का फल बाहरी सुख या सम्पत्ति में नहीं ढूँढना चाहिए। स्वयं आत्मोन्नति ही सब से मूल्य-

वान् फल है। बिना आत्मोन्नति के सामाजिक सुधार वृथा है। यह बात ठीक है कि खाने पीने और रहन सहन सम्बन्धी स्थिति को सुधारना आवश्यक है; किन्तु यदि सुन्दर शरीर और भव्य भवनों में नीची श्रेणी की आत्माएँ रहें, तो "ऊँची दूकान और फीका पकवान" वाली कहावत सार्थक हो जायगी।

ब्रेडले–एफ० एच० ब्रेडले (F. H. Bradeley) का जन्म सन् १८४६ में हुआ था। ये आजकल के प्रत्ययवादियों और निरपेक्ष वादियों में सब से अधिक प्रख्यात हैं। इनके लेख बहुत तर्कपूर्ण हैं; इसलिये इनको लोग आज कल का जेनो कहते हैं। इनका सब से प्रख्यात ग्रंथ Appearance and Reality है। उसमें इन्होंने प्रातिभासिक सत्ता (Appearance) और वास्तविक सत्ता की विवेचना की है। इस पुस्तक का उद्देश्य संशय और जिज्ञासा को उत्तेजित करना है (T0 stimulate inquiry and doubt)। संशय का अर्थ पहले से माने हुए विश्वासों की परीक्षा करना है; और इसके लिये सत्ता शास्त्र या तत्व ज्ञान की आवश्यकता है। इसका फल चाहे जितना अनिश्चित हो, किन्तु इससे यह लाभ अवश्य है कि लोग अपनी मनमानी नहीं हाँक सकते। अन्ध विश्वास से बचने के लिये हमारे पास और कोई साधन नहीं है। परीक्षा के सामने अन्ध विश्वास के आधार पर बनी हुई ईश्वर विद्या (Theology) और अप्रमाणित देहात्मवाद (Materialism) दोनों ही नहीं ठहर सकते।

तत्वज्ञान की इन्होंने तीन परिभाषाएँ दी हैं। (१) आभासिक सत्ता से पृथक् वास्तविक सत्ता के ज्ञान को तत्वज्ञान समझना

चाहिए। (२) मूल तत्वों या सिद्धान्तों या अन्तिम सत्ता का विवेचन अथवा (३) विश्व को खण्ड खण्ड में न देखकर उस को पूर्ण रूप से समझने के उद्योग को तत्वज्ञान कहते हैं। इसलिये इनकी पुस्तक का नाम आभासिक सत्ता और वास्तविक सत्ता (Appearance and Reality) पड़ा। आभासिक सत्ता से ब्रेडले साहब का अर्थ कोरी आभासिक सत्ता (Mere appearance) है। अर्थात् यदि हम दृश्य को वास्तविक सत्ता से अलग कर दें तो उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। वह अपूर्ण रह जायगा और अपूर्णता के कारण उसमें व्याघातक दोष आ जायँगे। इन्होंने अपनी पुस्तक के पहले भाग में आयाम, विस्तार (Extension) अनेकता, गति, परिवर्तन, देश-कालादि, द्रव्य, गुणादि दृश्य पदार्थों की अपूर्णता और व्याघातकता बतलाई है और दूसरे भाग में वास्तविक सत्ता की विवेचना की है। इन्होंने पहले वैज्ञानिक लोगों के माने हुए मुख्य और गौण गुणों के भेद की असारता दिखाई है। इनका कहना है कि जिस आधार पर गौण गुण "गौण" सिद्ध किए जाते हैं, उसी आधार पर मुख्य गुण भी "गौण" साबित किए जा सकते हैं। मुख्य गुणों में लोगो ने विस्तार (Extension) के गुण की प्रधानता मानी है। किन्तु विस्तार रंग से अलग नहीं है; और जब वह रंग से अलग नहीं है और जब रंग गौण है, तब विस्तार को भी उसी के साथ गौणता प्राप्त हो जायगी। इसी प्रकार इन्होंने गुणी और गुण के भेद को भी भ्रमात्मक कहा है। यदि वस्तु एक है, तो उसके गुणों की अनेकता कैसी? वे गुण एक दूसरे के सम्बन्ध से वस्तु में ही हैं; और यदि गुण अनेक माने जायँ तो गुण-रहित

द्रव्य मानना पड़ेगा। परिवर्तन का भी विचार इनके मत से व्याघातक है। इनका कहना है कि वस्तु जो है, उससे दूसरी किस प्रकार हो सकती है? इसी आधार पर इन्होंने कार्य्य कारणता के विचार का विरोध किया है। यदि कारण के लिये कार्य्य आवश्यक है, तो कार्य्य बिना कारण के किस प्रकार रह सकता है? और यदि कार्य्य कारण के लिये आवश्यक नहीं, तो कारण से कार्य्य की किस प्रकार उत्पत्ति हो सकती है? क्रिया का भी भाव परीक्षा में विरोधपूर्ण दिखाई पड़ता है। अवसर बिना कोई पदार्थ क्रियात्मक नहीं हो सकता; और जिस अंश में अवसर से क्रिया की उत्पत्ति हुई, उसी अंश में वह पदार्थ स्वयं क्रियावाला (Active) नहीं है। (Nothing can be active without an occassion, and what is active, being made thus by the occassion is so for passive.)

जीव के विचार में अनेकता और एकता दोनों ही मिली हुई हैं, इसलिये इस में विरोध है। यद्यपि एकता और अनेकता दोनों मिली हुई दिखाई देती हैं, तथापि यह मिलान इनके तर्क में नहीं ठहरता। इनके हिसाब से शुद्ध एकता ही तर्क के अनुकूल हो सकती है। लेकिन 'अ = अ' इस प्रकार की एकता ज्ञान को निर्विषय बना देती है। ज्ञान की निर्विषयता चाहे हो जाय, किन्तु ये तर्क से नहीं हटना चाहते। जो लोग वास्तव में निर्विशेष ज्ञान और शुद्ध सत्तारूपी निरपेक्ष ब्रह्म को मानते हैं और अपने तर्क को स्थित रखने के लिये सविशेष ज्ञान को असत् कहने के लिये तैयार हैं, ऐसे लोगों के लिये तो यह शुद्ध एकता की युक्ति ठीक ही है। किन्तु ब्रेडले साहब को, जो वास्तविक और आभासिक सत्ता का

मिलान करना चाहते हैं, यह युक्ति शोभा नहीं देती ।

ब्रेडले साहब दृश्य को इस प्रकार विरोधपूर्ण सिद्ध करके वास्तविक सत्ता की विवेचना करते हैं। वास्तविक सत्ता का मुख्य गुण पूर्णता है। यह पूर्णता ऐसी है कि इससे दृश्य भी बाहर नहीं रह जाता, वरन् उसकी भी वास्तविक सत्ता की पूर्णता इसी पूर्णता में हो जाती है। स्वतंत्र रूप से दृश्य अपूर्ण और असार है; किन्तु ब्रह्म में सब विरोध और अपूर्णता का समन्वय हो जाता है। दृश्य ब्रह्म से बाहर नहीं है। फिर ब्रह्म अथवा वास्तविक सत्ता क्या है? वह ऐसी व्यवस्था है जो एक सी रहती है। चेतन अनुभव के अतिरिक्त उसमें और कुछ नहीं है। वह एक पूर्ण सर्वव्यापक अनुभव है जिसमें सब विरोधात्मक अपूर्णताओं का साम्य हो जाता है। यद्यपि विरोध और अनेकता का ब्रह्म में साम्य हो जाने की समस्या कठिन है, तथापि ब्रेडले साहब का कहना है कि किसी प्रकार से यह साम्य हो जाता है। परिमित का अपरिमित में लय हो जाता है और उसी के साथ परिमित का नाश भी नहीं होता। परिमित अपरिमित में अपनी पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। अब यह प्रश्न होता है कि इस वास्तविक सत्ता का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है।

इस के लिये ब्रेडले साहब विचार की साधनता को मानते हैं; किन्तु विचार का आदर्श तार्किक विचार से हटाकर स्फूर्ति या प्रतिभा में मिला देते हैं। यह ज्ञान अव्यवहित (Direct and immediate) अनुभव में होता है। इस प्रकार के ज्ञान में एक अंश से दूसरे अंश पर नहीं जाना पड़ता, वरन् प्रत्येक अंश में पूर्णता दिखाई पड़ती है। व्यष्टि में समष्टि की प्रतीति

होने लगती है। आज कल के दार्शनिकों में इनका मत शांकरीय वेदान्त से बहुत कुछ मिलता जुलता है।

रोइस—अमेरिका में प्रत्ययवाद के नेता जोशुआ रोइस माने जाते हैं। आप का जन्म सम्वत् १९१२ में हुआ था। आप हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अध्यापक हैं।

हमारे अनुभव में कोई बात ऐसी नहीं है जो प्रत्ययों से सम्बन्ध न रखती हो। सारा संसार प्रत्ययों का ही बना हुआ है। कुछ प्रत्यय ऐसे हैं जो हमारे बनाए हुए नहीं हैं। उन्हीं को हम मैटर या जड़ प्रकृति कहते हैं। लेकिन वास्तव में यह प्रत्ययों ही की संस्था है। यदि बाहरी संसार ज्ञेय है, तो वह अवश्य मानसिक है। यह संसार एक आदर्श के अनुकूल है। वह आदर्श समष्टि के मनस् में रहता है; और उसी समष्टि के मन में रहने-वाला प्रत्यय संस्थान ही संसार है। हम चेतन हैं, इसलिये चेतना का कार्य्य हमारी समझ में आ सकता है। यदि सत्ता मानसिक नहीं है तो वह हमारे लिये निरर्थक है। संसार या तो चेतनामय मानना पड़ेगा या अज्ञेय। पर नितान्त अज्ञेय कोई वस्तु नहीं हो सकती। सत्ता के माने ही व्यंजित होना अर्थात् प्रकट होना है। अतः वास्तविक संसार या तो कोई एक मनस् है या बहुत से मनस् हैं। अब यह प्रश्न होता है कि हम दूसरे मन या बाहरी मन की बात किस प्रकार जान सकते हैं। इसके उत्तर में जोशुआ रोइस का कहना है कि मूल में सारा संसार एक है और वह तू ही है—'तत्त्वमसि'। जब संसार एक ही है, तब यह प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता कि हम दूसरे के मन की बात किस प्रकार जान सकते हैं। वह आत्मा जो पदार्थ को समझती या अपने

ज्ञान में लाती है, वही है जिसके ज्ञान में ये पदार्थ रहते हैं। जिस प्रकार हम अपनी खोई हुई वस्तु को तलाश करते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति समष्टि के ज्ञान में से पदार्थों को ढूँढ़कर जान लेता है। एक ही आत्मा है। उसमें सब ज्ञान, सब पदार्थ और सब आत्मा एक विचारपूर्ण व्यवस्था में वर्तमान हैं। यह आत्मा हमारी चेतना को प्रतीत करता है; और चूँकि हम इस में वर्तमान हैं, इसलिये यह पूर्ण पुरुष (Perfect person) है।

प्रोफेसर बोसेन्कैट—इन महाशय का मत ब्रेडले के मत से बहुत कुछ मिलता जुलता है। आज कल के निरपेक्ष वादियों (Absolutists) में ये दोनों महाशय अग्रगण्य समझे जाते हैं; और निरपेक्षवाद प्रायः इन दोनों महाशयों—ब्रेडले और बोसेन्कैट—सम्प्रदाय कहलाता है। निरपेक्ष वाद में इन दोनों महाशयों के मत की एकता होते हुए भी इनकी स्थिति में थोड़ा भेद है। बोसेन्कैट साहब का सत्य का आदर्श शुष्क तार्किक अविरोध की अपेक्षा अधिक पूर्ण है; इसी लिये दृश्य संसार इनके लिये आभासिक सत्ता मात्र नहीं रहता। इनके मत से निरपेक्ष और सापेक्ष में इतना अन्तर नहीं है कि निरपेक्ष की दृष्टि से सापेक्ष का अस्तित्व ही न रहे। बोसेन्कैट ने व्यक्तिता (Individuality) को वास्तविकता का आदर्श माना है। इनका कथन है—"The supreme principle of value and reality is wholeness, completeness, individuality" अर्थात् वास्तविकता और मूल्य का उच्चतम सिद्धान्त पूर्णता और व्यक्तिता है। ये पूर्णता, व्यक्तिता और अवरोध में कोई अन्तर नहीं मानते। इनके मत से व्यक्ति एक ही है; क्योंकि पूर्णतया एक ही

व्यक्ति हो सकता है और सब व्यक्ति अपूर्ण हैं; इसलिये वे व्यक्ति नहीं कहे जा सकते। सब व्यक्ति एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं। उनकी पूर्णता उनसे बाहर समाज, धर्म, साहित्य, काव्य-कला संबंधिनी संस्थाओं में होती है। यह हमको पूर्णता की ओर ले जाती है; किन्तु यह भी पूर्णतया पूर्ण नहीं है। निरपेक्ष में हमारे सब उच्चतम अनुभवों की पूर्णता हो जाती है। निरपेक्ष का अनुभव हम कर्तव्य, प्रेम, सौन्दर्य वैज्ञानिक और दार्शनिक पिपासा के उच्चतम अनुभव के आधार पर कर सकते हैं। निरपेक्ष हमारे जीवन से बाहर नहीं हो सकता। यदि हम अपने अनुभव का सहारा छोड़ दें, तो कोरे अविरोध के तार्किक सिद्धान्त से कुछ नहीं प्राप्त हो सकता।

व्यक्ति, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, एक ही हो सकता है। व्यक्ति के गुण और आदर्श उसके प्रत्येक अंग में वर्तमान रहते हैं। जिनको हम व्यक्ति कहते हैं, वे उसी महान् व्यक्ति के अंश रूप हैं। इनमें निरपेक्ष के महत्त्व का अंश वर्तमान रहता है। कोई जीव वर्तमान मे संकुचित नहीं है। परिमित जीवों में जितना ज्ञान हमको दिखाई पड़ता है, उससे अधिक ज्ञान रहता है। शिक्षा और उपदेश द्वारा इसी की जाग्रति की जाती है। जब हम किसी मनुष्य को समझाते हैं, तब उसके छिपे हुए ज्ञान को बाहर निकालते हैं। हर एक मनुष्य हर बात को हर समय नहीं जानता। यही उसकी परिमितता है। किन्तु यह परिमितता ऐसी नहीं है कि जिसकी सीमा हमेशा बढ़ती न रहती हो। बोसेन्कैट साहब के मत से यह संसार जीवों के निर्माण का स्थान है। यहाँ पर जीव उच्चमता की ओर प्रयत्न करते

रहते हैं। इन जीवों में जो भेद है, उसको बोसेन्कैट साहब आकारिक मानते हैं। यद्यपि बोसेन्कैट साहब जीवों के परस्पर भेद को संसार में वैभिद्य और अनुभव की वृद्धि के लिये आवश्यक मानते हैं, तथापि वे इस भेद को मौलिक और अभेद्य नहीं बतलाते। (Its nature not wholly fundamental nor irreducible.) परिमितता के लिये यह भेद आवश्यक है; क्योंकि यदि यह भेद मिट जाय और पार्थक्य के अनुभव का कोई कारण न रहे, तो संसार में बात चीत करने के लिये दो व्यक्ति ही न रहेंगे। इसी के साथ इनका कहना है कि इन परिमित चेतन केन्द्रों की एकता ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों त्यों हम निरपेक्ष के निकटतर पहुँचते जाते हैं; और जो भेद इस समय पार्थक्य के लिये आवश्यक हैं, वे बदलने लगते हैं अर्थात् घटने लग जाते हैं। पग पग पर हमको उनकी अन्तर्वर्तिनी एकता का अनुभव होने लगता है। बोसेन्कैट साहब के मत से यह भेद व्यक्तियों के अनुभव वैभिद्य और कमी बेशी के कारण हैं।

निरपेक्ष और अन्य जीवों के संबन्ध में बोसेन्कैट साहब का कहना है कि निरपेक्ष में ये अतीत हो जाते हैं। जिस प्रकार एक व्यापक सिद्धान्त मे कम व्यापक सिद्धान्त का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार पूर्ण व्यापक निरपेक्ष में जीवों का समावेश हो जाता है। जिस प्रकार उद्देश्य में विधेय रहता है और विशेष्य में विशेषण रहता है, उसी प्रकार जीव निरपेक्ष में है। जीवों को निरपेक्ष का अंश (Element) कहा है, अंग (Member) नहीं। अंश और अंग में बहुत सूक्ष्म भेद है। अंश पूर्ण में मिलकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो देता है। अंग भी यद्यपि बिलकुल

स्वतंत्र नहीं है, तो भी एक प्रकार से अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। संक्षेपतः बोसेन्कैट साहब के मत से जीवों में परस्पर भेद है, परन्तु यह भेद अन्तिम नहीं है। निरपेक्ष की पूर्णता में भेद, कमी, बुराई सब अतीत होकर एक साम्य रूप पूर्ण बन जाते हैं।

बोसेन्कैट साहब बाहरी संसार को भिन्न जीवों का सम्मिलित अनुभव मानते हैं तथा वस्तुवादियों की भाँति गौण गुणों को वस्तु में ही मानते हैं; और विकासवादियों एवं भूतवादियों की नाईं जीव का उदय भौतिक परिस्थितियों से मानते हैं। निरपेक्ष मानने के कारण ये भूतवाद से बच जाते हैं। इनका कहना है कि नदी अपने स्रोत से हमेशा बढ़ जाती है। यही संसार की उन्नति का नियम है। भौतिक परिस्थितियों से जीव का उदय भी इसी नियम के अनुसार है।

एक और महाशय हैं जिन्होंने हाल में ब्रेडले और बोसेन्कैट साहब से कई बातों में मतभेद प्रकट किया है। उनका थोड़ा सा वर्णन यहाँ पर अनुपयुक्त न होगा। इन महाशय का नाम है ए० सैथ प्रिङ्गिल पैटीसन (A. Seth Pringle Pethison) है। इनके गिफोर्ड लेक्चर्स (Gifford Lectures) The Idea of God in the light of Recent Philosophy, अर्थात् "नवीन तत्व ज्ञान के आलोक में ईश्वर का विचार" के नाम से पुस्तकाकार छपे हैं। इन्होंने अपने ग्रंथ में बतलाया है कि प्रकृतिवाद अपूर्ण को पूर्ण मान लेता है; और यह उसका दोष है। वास्तव में सारा संसार एक विश्व शक्ति का प्रसार है। किन्तु वह शक्ति ऐसी है जिसका अनुमान विकास की प्रारम्भिक अवस्था के आधार पर नहीं हो सकता, वरन् विकास के उच्चतम् आदर्श के

आधार पर होता है। यद्यपि भौतिक पदार्थ भी उसी विश्वशक्ति का विकास है, तथापि यदि कोई उस शक्ति का अन्दाज़ विश्वशक्तियों के आधार पर लगाना चाहे तो भूल करेगा। उस शक्ति का अन्दाज़ हमको मनुष्य से लग सकता है। मनुष्य उसी शक्ति का व्यंजन है। मनुष्य प्रकृति से बाहर नहीं है, वरन् उसका ही विस्तार है। मनुष्य के द्वारा प्रकृति अपने को जान लेती है। मनुष्य प्रकृति का दिमाग़ या विचार शक्ति है। उसी के द्वारा हमको प्रकृति की वास्तविक स्थिति का अनुमान होता है। पूर्ण प्रकृति और विशेष कर उसकी उच्चतम श्रेणियों के द्वारा ही विश्वशक्ति का, जिसका वह विकास है, अनुमान हो सकता है। इनका सर्वेश्वर वाद ऐसा नहीं है जिसमें कपूर और कपास एक भाव बिक सके। ये सत्ता में श्रेणी मानते हैं। अब प्रश्न यह है कि इस विश्व-सत्ता या ब्रह्म और परिमित व्यक्तियों का क्या सम्बन्ध है। इसी प्रश्न पर इनका और बोसेन्कैट तथा ब्रेडले का मतभेद है। बोसेन्कैट के मत से परिमितता वास्तविक नहीं है, केवल एक प्रकार की अशक्तता है। इनके मत से यह परिमितता वास्तविक है। बोसेन्कैट महाशय के मत से व्यक्तिगत भेद विशेषत: आकारिक है। यह आकारिक (Formal) भेद एक व्यक्ति के मन के भीतर रहनेवाली चीजों को दूसरे व्यक्ति के मन के भीतर की चीजों से मिलने नहीं देता। यदि यह आकारिक भेद हट जाय तो भेद या व्यक्तिता न रहे। प्रिङ्गिल पैटिसन के मत से व्यक्तियों का वास्तविक भेद है जो आकार मात्र में नहीं है, वरन् उनके मन के भीतर रहनेवाली बातों की न्यूनाधिकता में है।

खाली आकार कोई चीज नहीं। आकार भेद के अतिरिक्त

यह मन के भीतर रहनेवाली चीजों का भी भेद मानते हैं। यद्यपि मन के भीतर रहनेवाली इन चीजों का आश्रय एक ही है, तथापि प्रत्येक व्यक्ति में वह भिन्न भिन्न परिमाण में है। यह संसार एक प्रकार का सम्मिलित दाय (Common Inheritance) है। व्यक्तिगण अपनी अपनी आवश्यकता और उन्नति क्रम के अनुसार इस दाय के पदार्थों का अनुभव में उपभोग करते रहते हैं। यही भेद का कारण है; और यही सब की एकता का भी कारण है। व्यक्तिता के लिये ज्ञान के अतिरिक्त ये संकल्प को भी मानते हैं। पुरुषता (Personality) संकल्प में ही प्रकट होती है। फिर बोसेन्कैट साहब केवल एक ही ब्रह्म को द्रव्य मानते हैं। और व्यक्तियों को गुण या विशेषण (Adjectives) मानते हैं इनके मत से यद्यपि व्यक्तियों की सत्ता स्वतंत्र और निरपेक्ष नहीं है, तथापि ये गुण रूप नहीं कहे जा सकते। व्यक्तियों के लिये स्पाइनोज़ा के द्रव्य का (जो एक ही हो सकता है) प्रयोग नहीं हो सकता, किन्तु उनके लिये अरस्तू के द्रव्य का प्रयोग हो सकता है। अरस्तू के मत से द्रव्य वह है जो किसी दूसरी वस्तु का विशेषण न हो। इस अर्थ में व्यक्ति द्रव्य है। संक्षेप के बोसेन्कैट साहब केवल एक ही पूर्ण पुरुष व्यक्ति को मानते हैं;और बाकी व्यक्यिों की व्यक्तिता अवास्तविक मानते हैं। किन्तु प्रिङ्गिल पैटीसन व्यक्तियों की व्यक्तिता और परिमितता वास्तविक मानते हैं। व्यक्तियों को वास्तविक मानकर अब यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर या ब्रह्म किस प्रकार का है। ईश्वर संसार में प्रकट या व्यंजित होता रहता है; किन्तु वह संसार में निःशेप नहीं हो जाता। ईश्वर संसार को अतीत करता है। यदि ऐसा न

होता तो हमारे आदर्श कहाँ से आते। हमारे आदर्शों से ही यह प्रकट होता है कि वर्तमान से कुछ अतीत करनेवाला है। यह अतीत करनेवाला संसार में रहकर ही संसार को अतीत करता है; और अतीत करता हुआ संसार को उच्च पथानुगामी बनाए रखता है। वह ईश्वर हमारे साथ रहकर हमारे दुःख सुख में सहानुभूति रखता हुआ हमारे पूर्ण विकास में सहायता दे रहा है। यद्यपि ये विकास को मानते हैं, तथापि विकास में एक दम नवीनता नहीं मानते। हमारा विकास आदर्श के अनुकूल है। ईश्वर हम से बाहर नहीं। हमारे लिये जिस प्रकार ईश्वर आवश्यक है, उसी प्रकार ईश्वर के लिये हम आवश्यक हैं। बिना प्रजा के राजा कैसा? यही संक्षेप से इनके ईश्वर सम्बन्धी विचार हैं। इन का अपने समय के दार्शनिक क्षेत्र में अच्छा प्रभाव है। इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और अमेरिका के अतिरिक्त आजकल इटली भी क्रोची (Croce) के कारण दार्शनिकों का तीर्थस्थान बन रहा है।

क्रोची का जन्म अब्रूजी नगर में सन् १८६६ में हुआ था। इनकी अधिकांश शिक्षा जर्मनी में हुई थी। ये आत्मवादी हैं और संसार को आत्ममय मानते हैं। इन्होंने अपने दर्शन का नाम आत्मा का दर्शन (Philosophy of the Spirit) रक्खा है। ये हैगेल के अनुयायी अवश्य हैं, किन्तु लकीर के फ़कीर नहीं हैं। हैगेल में जो सिद्धान्त माननीय हैं, उनकी इन्होंने भली भाँति व्याख्या की है; और जो बातें हैगेल में ऐसी हैं जिनके कारण स्वयं हैगेल ने धोखा खाया है और उसके अनुयायी धोखे में पड़ सकते हैं, उनको क्रोची ने बड़ी स्पष्टता और निर्भयता से बतलाया है। इन्होंने एक पुस्तक (What is living and what is

dead in Hegel) अर्थात् "हैगेल में क्या जीवित और क्या नाश को प्राप्त हो गया है" लिखी है, जिस में हैगेल के तर्क की अच्छी विवेचना की है ।

हैगेल ने अपने तर्क द्वारा दार्शनिक संसार का जो उपकार किया है, उसको क्रोची ने इस पुस्तक के प्रथम भाग में मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। उसने बतलाया है कि तत्व ज्ञान सम्बन्धी विषयों में पक्षों और प्रतिपक्षों को दार्शनिक लोग प्रतिकूल समझ कर या तो एक वाद का समर्थन करने के लिये उन दो पक्षों में से एक को मिथ्या या आभास मात्र बतला देते हैं, या द्वैत वाद को माननेवाले दोनों ही पक्षों को मान लेते हैं। ऐसा करने में दोनों ही ओर से सत्य का हनन होता है। भौतिक तत्व-वादी लोग आत्मा को आभास मानने लगते हैं और निरपेक्ष ब्रह्म वादी संसार को मिथ्या मानने लगते हैं। द्वैत वाद में एकता की हत्या होती है और उनका सम्बन्ध स्थापित करना कठिन हो जाता है। हैगेल ने बतलाया है कि पक्ष और प्रतिपक्ष अलग अलग दोनों ही असत्य और अर्थशून्य हैं—सत् और असत् दोनों ही अलग अलग कुछ अर्थ नहीं रखते। भाव या होना (Becoming) ही सत्य है। दो प्रतिकूल विचार चाहे एक दूसरे के प्रतिकूल हों, तथापि दोनों मिलकर एक दार्शनिक बोध (Philosophical Concept) में समन्वित हो सकते हैं; और वही पूर्णतया सत्य हैं। यह हैगेल की खोज का सब से मूल्यवान् फल था। इसके द्वारा विचार और जीवन की एकता हो गई। दर्शन और इतिहास का साथ हो गया, विरोध में साम्य पैदा हो गया और परस्पर व्याघातक विचार सत्य के साधक बन गए। इतना सब कुछ होते हुए भी इस

अमूल्य सिद्धान्त का दार्शनिक इतिहास में बहुत कुछ दुरुपयोग हुआ है। जो तर्क प्रतिकूल भावों में लगाना चाहिए था, वही पृथक् और विविक्त (Distinct) भावों से लगाया जाने लगा। इससे सत्य का मूल्य घट गया और असत्य का मूल्य बढ़ गया। अच्छा और बुरा ये दो प्रतिकूल विचार हैं; किन्तु अच्छा और उपयोगी ये पृथक् विविक्त हैं। ये एक दूसरे के प्रतिकूल नहीं हैं। प्रतिकूल विचार एक दूसरे के व्याघातक होते हैं। उनमें से एक अगर सत्य है, तो दूसरा मिथ्या है। पृथक् विविक्त विचारों में ऐसा नहीं होता। उसमें दोनों एक साथ रह सकते हैं। 'उपयोगी' 'अच्छे' या 'श्रेय' का व्याघातक नहीं। पृथक् विविक्त विचारों में विभाग का सिद्धान्त नहीं लगता। उनमें श्रेणी-क्रम होता है। श्रेय में उपयोगी जीवित रहता है। 'श्रेय या अच्छा' 'उपयोगी' से ऊँचा है। 'उपयोगी' में 'श्रेय' नहीं आता; बल्कि 'श्रेय' में उपयोगी का भाव बना रहता है; किन्तु दो प्रतिकूल भावों का कोई अंश एक दूसरे के अन्तर्गत नहीं हो सकता।

हैगेल के तर्क में विकास का नियम इस तरह से है—अ और ब दो प्रतिकूल विचार हैं। ये विचार एक दूसरे के घातक भी हैं और बिना एक दूसरे के अधूरे भी हैं; किन्तु इन दोनों का योग 'स' में हो जाता है। स्पष्ट और विविक्त विचारों में ऐसा तर्क नहीं लगता। अ और ब एक दूसरे के घातक नहीं; इसमें अ और ब का 'स' मे योग करने की आवश्यकता नहीं; अ का योग ब में ही हो जाता है। फिर ब के अतिरिक्त जो तीसरा पदार्थ या विचार माना जायगा, वह अनावश्यक और निरर्थक होगा। हैगेल ने यही भूल की कि प्रतिकूलों का तर्क स्पष्टों में लगाया। 'सत्', 'असत्'

और 'भाव या होना' इस त्रिपुटी के आधार पर उसने बहुत सी गलत त्रिपुटियाँ बना डाली हैं। जैसे—

मनो-विज्ञान में पक्ष, 'विचार प्रधान आत्मा' (Theoretic spirit), प्रतिपक्ष, 'व्यावहार प्रधान आत्मा' (Practical spirit), संयोजन स्वतंत्र आत्मा। समाज के सम्बन्ध में पक्ष 'कुटुम्ब', प्रतिपक्ष नागरिक समाज, संयोजन 'राष्ट्र'। निरपेक्ष आत्मा के सम्बन्ध में पक्ष 'कला', प्रतिपक्ष, 'धर्म', संयोजन 'दर्शन'। तर्क शास्त्र के सम्बन्ध में पक्ष 'बोध' (Concept), प्रतिपक्ष 'निर्णय' (Judgment), संयोजन 'न्याय' (Syllogism)।

परन्तु यदि विचार करके देखा जाय तो इनमें से कोई त्रिपुटी सत्, असत् और भाव के ढाँचे में नहीं आती। क्या व्यवहार-प्रधान आत्मा विचार-प्रधान आत्मा की विरोधिनी है? क्या विचार के आधार पर व्यवहार नहीं होता और व्यवहार के आधार पर विचार नहीं बनते? जब ये दोनों ही एक दूसरे के सहायक और पोषक हैं, तो तीसरे की क्या आवश्यकता? क्या कला धर्म के प्रतिकूल है? क्या कला धार्मिक नहीं होती और क्या धर्म में कला का व्यवहार नहीं होता? इन दोनों की सत्ता स्वतंत्र है; और यदि स्वतंत्र नहीं है तो एक दूसरे के अधीन है। किन्तु ऐसा नहीं है कि दोनों बिना किसी तीसरे पदार्थ के कुछ अर्थ ही न रखते हों। तीसरे की उपस्थिति स्वभाव से मिले हुए भावों में पार्थक्य डालकर अद्वैत का द्वैत बना देती है। आत्मा और प्रकृति को भी अलग अलग और प्रतिकूल मानकर उनका समन्वय Logos या शब्द ब्रह्म में किया है। इन दोनों को प्रतिकूल मानने में समन्वय हो जाने पर भी द्वैतता बनी रहती है; क्योंकि जो शामिल

था, उसको बाहर कर दिया और उसके साथ ही एक नया पद भी उपस्थित कर दिया। यदि वह नया पद ऐसा है जिसमें दोनों का समावेश हो सक्ता है, तो वह किसी प्रतिकूलता या घात प्रति-घात को बचाने के लिये नहीं है। वहाँ पर तर्क (Dialectic) का सिद्धान्त लगेगा ही नहीं। क्रोची के मत से प्रकृति, विचार रूप में, मनुष्य की व्यावहारिक क्रिया का फल है; और जब वह यह भूल जाता है कि वह फल किस रीति से प्राप्त हुआ है, तभी वह उसको अपने से बाहरी मानकर विरोध करने लगता है; और इसी प्रकार उसको वह एक अभेद्य रहस्य समझ कर उससे डरने लग जाता है *। व्यवहारात्मक क्रिया (प्रकृति जिसका फल रूप है) और विचारात्मक क्रिया दोनों पूर्णात्मा के अंग हैं। यह नहीं कहा जाता कि इनमें कौन बड़ा और कौन छोटा है। एक के बिना दूसरे का होना असंभव है। आत्मा भी कोई तीसरा पदार्थ नही है। ये दोनों क्रियाएँ समानान्तर रेखाओं की भाँति नहीं हैं। ये एक वृत्त की अर्ध वृत्त रेखाओं (Hemesphers) की भाँ ति हैं जिनमें कोई यह नहीं कह सकता कि एक अर्ध भाग कहाँ पर खतम होता है और दूसरा कहाँ पर शुरू होता है। विचारात्मक क्रिया द्वारा मनुष्य विश्व को समझने का यत्न करता है; व्यवहारात्मक क्रिया द्वारा उसमें परिवर्तन करता है।

---

* Nature as a concept is the product of the practical activity of man; and it is wholly when he forgets how he has acquired it, that he finds it opposed to him as something external which terifies him with its respect of impenetrable mystry.

क्रोची ने जो ग्रन्थ लिखे हैं, वे ऊपर बतलाए हुए विभागों और श्रेणियों के अनुकूल ही हैं। विचारात्मक क्रिया के अन्तर्गत उसने स्फूर्ति (जिसमें इन्द्रिय जन्य ज्ञान शामिल है और जिसको उसने Intuition कहा है) और बुद्धि (Intelect) मानी हैं। स्फूर्ति नीची श्रेणी में है और बुद्धि ऊँची श्रणी में। स्फूर्ति में बुद्धि शामिल नहीं, किन्तु वह उसके प्रतिकूल नहीं है।

बुद्धि बिना स्फूर्ति के काम नहीं कर सकती; क्योंकि विचार के लिये भाषा की आवश्यकता है। स्फूर्ति की व्याख्या करने के लिये उसने सौन्दर्य्य विज्ञान (Aesthetic) लिखा है। उस ग्रंथ में उसने उसका भाषा विज्ञान (Linguistic) से तादात्म्य किया है। सौन्दर्य्य या कला का मुख्य धर्म व्यंजन (Expression) माना है। बुद्धि की व्याख्या में उसने अपना तर्क शास्त्र लिखा है। स्फूर्ति या उस से सम्बन्ध रखनेवाला सौन्दर्य्य या भाषा विज्ञान व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है और बुद्धि तथा उससे संबंध रखनेवाला तर्क शास्त्र व्यापकता (Universality) से सम्बन्ध रखता है। वे व्यापकता व्यक्तिता से शून्य नहीं है।

इसने अपने तर्क शास्त्र को शुद्ध बोध का विज्ञान (Science of the Pure Concept) कहा है। तार्किक बोध के इन्होंने तीन लक्षण माने हैं—व्यापकता (Universality), व्यंजकता (Expressibility) और सगुणता (Concreteness)। इन्होंने आकार प्रधान तर्क का बहुत विरोध किया है। तार्किक बोध में इनमें से किसी एक अंग की कमी होना भूल का मूल है। दार्शनिक इतिहास में अनुभव वाद, भौतिक तत्व वाद आदि जो भूलें हुई, वे इसी कारण से हुई हैं। भूल को इन्होंने सत्य की

सीढ़ी माना है; किन्तु ये उन आशा-वादियों में नहीं हैं जो इस कारण से भूल को ही सत्य की पदवी देने लग जाते हैं। व्यवहारात्मक क्रिया के भी दो भेद हैं—एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखनेवाली आर्थिक या उपयोगिता सम्बन्धी (Economic) और दूसरी व्यापकता से सम्बन्ध रखनेवाली कर्त्तव्य सम्बन्धी (Ethical)। इन दोनों क्रियाओं का वर्णन क्रोची ने एक ही पुस्तक The Philosophy of the Practical में किया है।

इन्होंने अर्थ शास्त्र और कर्त्तव्य शास्त्र में विरोध नहीं रक्खा है। कर्त्तव्य कर्म में अर्थ की हानि नहीं होती। इस प्रकार इन्होंने आत्मा के दोनों अंगों या आकारों की व्यवस्था करके अपने दर्शन को सर्वाङ्गपूर्ण बनाया है।

ऊपर जिन नवीन प्रत्यय वादियों का वर्णन हो चुका है, वे एकात्मवाद की ओर झुके हुए हैं। यदि वे अनेकता को मानते हैं तो बिलकुल गौण रीति से। कुछ ऐसे भी प्रत्ययवादी हैं जो एकात्मवाद से सन्तुष्ट नहीं हैं। उनके मत से पूर्ण एकात्म वाद में व्यक्ति का ह्रास हो जाता है और उसकी स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है। इनमें मैक्टेगर्ट (Mctaggart) और जेम्स वार्ड प्रधान हैं।

मैक्टेगर्ट—ये महाशय वैसे तो हेगेल के अनुयायियों में से हैं और उनके तर्क को मानते हैं, किन्तु आत्माओं (Selves) को पृथक् पृथक् मानते हैं। मैक्टेगर्ट साहब के मत से आत्मा अपने अधिकार से स्थित पदार्थ है (A substance existing in its own right)। किन्तु इसका यह अभिप्राय न समझा जाय कि कोई एक आत्मा और आत्माओं से अलग होकर सम्बन्ध रहित और स्वतंत्र होकर स्थित रह सकती हैं। आत्माओं का

एक संघ है और वे सब एक दूसरे के सम्बन्ध में रहती हैं। यह उनकी एकता है और यही आत्माओं का संघ या समाज, जिसकी वे कालिज या महाविद्यालय से तुलना करते हैं, ब्रह्म है। यद्यपि आत्माओं के संघ में कालिज के संघटन से अधिक व्यवस्थापूर्ण संघटन है, किन्तु इतना कहने से आत्माओं की अनेकता नहीं जाती रहती। इस अनेकता में जो सम्बन्ध और व्यवस्था है, वही मैकटेगर्ट को अणुवाद (Atomism) में पड़ने से बचाती है।

मैक्टेगर्ट साहब आत्माओं के संघ को ही मानते हैं, किन्तु वे ईश्वर रूपी प्रधानात्मा को नहीं मानते। वैसे ये सत्ता को प्रत्यय वादियों की भाँति ही देखते हैं। संसार में पुरुषों (Person) के सिवा कोई सत् नहीं है; यह पुरुष ज्ञान, संकल्प और भाव से पूर्ण चेतन पदार्थ है (Nothing exists but persons, conscious beings, who know, will and feel)। इस मत में विषयी प्रधान प्रत्यय वाद (Subjective Idealism) का दोष है। अर्थात् सत्ता भिन्न भिन्न आत्माओं के आधार पर है और उसका कोई निश्चित आधार नहीं है। बर्कले साहब ईश्वर को माननेवाले थे और इस दोष से बच गए थे; क्योंकि उन्होंने सब वस्तुओं का निश्चित आधार ईश्वर में माना था। वस्तु हमारे ज्ञान में रहे चाहे न रहे, ईश्वर के ज्ञान में रहने के कारण वास्तविक है।

मैक्टेगर्ट साहब ईश्वर के स्थान में सभी आत्माओं को वास्तविक रूप में पूर्ण और अनादि मानते हैं। काल क्रम में आत्मा की अपूर्णता दिखाई पड़ती है, किन्तु वह हमेशा अपनी नैसर्गिक

पूर्णता प्राप्त करती रहती है। इस अंश में यह मत जैन धर्म से बहुत कुछ मिलता जुलता है।

जेम्स वार्ड

जेम्स वार्ड—इनके मत में आज कल के बहुत से नवीन सिद्धान्तों का समावेश है। ये केवल आत्मवादी हैं और आत्म वादी होने के कारण एक प्रकार से संवितवादी या प्रत्ययवादी भी हैं; किन्तु उसके साथ ही हैगेल या ब्रेडले की भाँति एकात्म वादी नहीं हैं। ये अनेक वादी हैं, किन्तु मैक्टेगर्ट की भाँति कोरे अनेक वादी नहीं हैं। ये अनेक वाद की न्यूनता को पूर्ण करने के लिये ईश्वर वाद को स्थान देते हैं; किन्तु उसी अंश तक कि अनेक वाद की न्यूनता पूर्ण हो जाय और उसके मूल सिद्धान्तों में बाधा न पड़े। इन्होने कई ग्रंथ लिखे हैं—प्रकृति वाद और अज्ञेय वाद (Naturalism and Agnosticism), मनोविज्ञान (Psychology)। इनके मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त अनेक वाद और ईश्वर वाद अथवा लक्ष्यों का संसार (Pluralism and Theism of the Realm of Ends) में दिए हुए हैं। वे संक्षेप से इस प्रकार हैं—हमको अपने अनुभव के दो अंग दिखाई पड़ते हैं; एक विषय या वस्तु सम्बन्धी और एक विषयी या आत्म सम्बन्धी (Objective and Subjective) है। अब प्रश्न यह है कि विषय (Object) कोई आत्मरहित पदार्थ है या सात्म पदार्थ है। इन्होंने विषय को भी किसी न किसी अंश में चेतन आत्म पदार्थ माना है।

इस बात की पुष्टि नवीन विज्ञान से हो रही है। (अध्या-

एक जगदीशचन्द्र वसु ने धातुओं तक में जीव माना है ।) ये सब न्यूनाधिक चेतना प्राप्त व्यक्ति आत्म-रक्षा और उन्नति के लिये प्रयत्नवान् रहते हैं । यह प्रयत्न किसी भिन्न पदार्थ के साथ नहीं होता । एक व्यक्ति के लिये उसके अतिरिक्त अन्य व्यक्ति उसके बहिरावेष्टन (Environment) हैं । इसी बहिरावेष्टन में व्यक्ति प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न में अनियतता (Contingency) के साथ साथ स्थिरता (Conservation) और उन्नति लगी हुई है । इसी से संसार की उन्नति होती रहती है। जो प्राकृतिक नियम हैं, वे आरम्भ में नियम नहीं थे । वे इन्हीं व्यक्तियों की अनियत चेष्टा के फल हैं । इन अनियत चेष्टाओं की औसत (vaerage) नियतता जो कि काल के व्यतीत होने से स्थिरता को प्राप्त है, प्राकृतिक नियम की संज्ञा में आ जाती है । संसार की उन्नति ऐतिहासिक है; अर्थात् जीवित व्यक्तियों की क्रियाओं का फल है । ये व्यक्ति अनेक हैं और इनमें नीची से नीची तथा ऊँची से ऊँची श्रेणियाँ हैं । इन्हीं श्रेणियों के अन्त को अनेकवाद की ऊँची और नीची सीमा (Higher and lower limits of Pluralism) कहा है । यद्यपि मनुष्य को उन सीमाओं का ज्ञान होना कठिन है, किन्तु तारतम्य के सिद्धान्त से उनका अनुमान होता है। नीची सीमा के व्यक्तियों में न्यूनातिन्यून भेद रह जाता है । उस भेद को स्पष्ट करने के लिये एक मुख्य संचालक की आवश्यकता होती है ।

इसके साथ वार्ड साहब ने यह भी स्पष्ट कह दिया है कि यह न समझा जाय कि प्रारम्भिक अवस्था के लिये सर्वज्ञ या अल्पज्ञ किसी प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता है । क्रिया से ज्ञान

की उत्पत्ति है, न कि ज्ञान से क्रिया की। इसमें यह बतलाया गया है कि संसार की उन्नति पहले से किसी निश्चित कार्य्यक्रम के अनुसार नहीं हो रही है। इसी प्रकार ऊपरी सीमा में अनेकता के साथ एकता स्थित रखने के लिये एक प्रधान पुरुषोत्तम की आवश्यकता पड़ती है। वार्ड साहब का कहना है कि यद्यपि अनेकता में कोई वदतोव्याघात नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार एक को हम अनादि मान सकते हैं, वैसे ही अनेक को; तथापि यदि कोई केन्द्र रूप प्रधान व्यक्ति मान लिया जाय, तो उसके द्वारा अनेक व्यक्तियों का एक आदर्श की ओर जाना और साम्य के साथ कार्य्य करना सहज मालूम होता है। अन्यथा अनेक व्यक्तियों के स्वत: एक आदर्श पर चलने के लिये आकस्मिकता की श्रेयता में अधिक विश्वास की आवश्यकता है। इस प्रकार ईश्वर को मानते हुए अन्य ईश्वर वादियों से वार्ड साहब सहमत नहीं हैं। बहुत से लोगों का ईश्वरवाद भी एकवाद में परिणत हो जाता है। इनका ईश्वरवाद अनेकवाद की पुष्टि के लिये है, उसको खा जाने के लिये नहीं है। साधारण ईश्वर वादी ऐसा मानते हैं कि ईश्वर ने समय विशेष में सृष्टि को रचा है। इन्होंने इस मत को ईश्वर की ईश्वरता के विरुद्ध माना है। बिना सृष्टि के ईश्वर कैसा? ईश्वर की सत्ता से हमारी और संसार की सत्ता भली भाँति समझ में आती है। ईश्वर हम में है, किन्तु हम से अधिक होने के कारण हम से पृथक् है। ईश्वर किस प्रकार जगत् का कर्ता है, यह बताना बहुत कठिन है।

ईश्वर कुम्हार का सा कर्त्ता नहीं है। वह कर्त्ताओं का कर्त्ता है, ऐसा मानने में ही उसका गौरव और महत्ता है। इस

महत्ता के साथ उसका संकोच है, किन्तु वह संकोच भौतिक संकोच नहीं है। वह स्वयं अपनी स्वतंत्रता से संकोच को प्राप्त होता है। उसका संकोच इस अर्थ में है कि हमारी स्वतंत्रता और वास्तविकता बनी रहे। यह संकोच का सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के सिद्धान्त से कुछ मिलता है। मनुष्य ने ईश्वर के साथ सृष्टि को वर्तमान रूप में लाने के लिये योग दिया है। संसार का विकास केवल बन्द कली का स्फुटन नहीं है—पहले से रचे हुए नाटक का खेलना नहीं है। इस में पात्र ही नाटककार के साथ नाटक बनाते जाते हैं। इस विकास में नवीनता है।

उसी के साथ ईश्वर की सर्वज्ञता का प्रश्न उठाया गया है। यदि हम वास्तव में स्वतंत्र कर्त्ता हैं, तो ईश्वर की सर्वज्ञता कैसी? और यदि ईश्वर सर्वज्ञ है, तो हमारे कार्य्य पूर्व से ही निर्धारित है; और फिर हम स्वतंत्र नहीं। इस कठिनाई से बचने के लिये यह मध्य पथ निकाला गया है कि ईश्वर सब सम्भावनाओं को जानता है। उन सम्भावनाओं में से चाहे जिसे वास्तविक बनावें, यह हमारे हाथ में है। इस अंश में ईश्वर परिमित है; किन्तु वह परिमितता हमारी स्वतंत्रता के लिये है। इस दृष्टि से बुराई का प्रश्न भी इतना कठिन नहीं रहता। यदि हम वास्तविक कर्त्ता नहीं हैं, तो ईश्वर बुराई का कर्त्ता हुआ, ऐसा मानना वदतोव्याघात है। संसार में बुराई ईश्वर के कारण नहीं है, वरन् हमारे कारण है।

इसी प्रकार आधिभौतिक बुराइयाँ, जिन पर हमारा कोई वश नहीं है, संसार की भलाई के अर्थ हैं। उनसे प्रेरित होकर मनुष्य भलाई की ओर जाता है। संसार मे बुराई या दुःख सत् है, किन्तु वह अन्तिम नहीं है। हम दुःख के अंकुश से प्रेरित होकर इस

भलाई की ओर जाते हैं। संसार का नाटक सुखान्त है। ये सब बातें ठीक हैं; किन्तु इन के मानने के लिये विश्वास की आवश्यकता है। वार्ड साहब ने विश्वास को, उसकी सर्वव्यापकता (अर्थात् विश्वास सब जातियों में रहा है और उसके उठ जाने का कोई लक्षण नहीं है) के आधार पर, ऊँचा स्थान दिया है। ईश्वर की कृपा से विश्वास समय समय पर ज्ञान की वृद्धि के द्वारा प्रमाणित भी होता रहता है। हम अपने ज्ञान से (सांसारिक ज्ञान से) थोड़े ही को सब समझ लेते हैं; और विश्वास द्वारा हम को यह प्रतीत होता है कि जिसको हम सब या पूर्ण कहते हैं, वह पूर्ण नहीं है। उसके आगे भी कुछ है। इसी कारण ज्ञान और विश्वास की बताई हुई बातों मे भेद हो जाता है।

दूसरा अध्याय

क्रिया-प्रधान दर्शन

वर्त्तमान काल के दर्शन में जो मुख्य धाराएँ वह रही हैं, पिछले अध्याय में वर्णित वार्ड साहब के मत में उनका दिग्दर्शन हो गया है। वर्तमान समय के दार्शनिक ध्येय इस प्रकार हैं—

(१) मनुष्य की मुख्यता और स्वतंत्रता,

(२) अनेक वाद,

(३) ईश्वर की परिमितता,

(४) संसार के विकास में व्यक्तियों का हाथ और उसमें नवीनता, तथा

(५) ज्ञान की अपेक्षा क्रिया की मुख्यता।

इन सब बातों को विलियम जेम्स और उनके अनुयायियों ने चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। इसके साथ ही साथ अनुभव वाद को भी प्रधानता दे दी गई है। मनुष्य की मुख्यता इतनी बढ़ाई गई है कि मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति ही को सत्य का परिमाण मान लिया गया है। बर्गसन में तो अनेक वाद इतना स्पष्ट नहीं है, किन्तु उन्होंने ज्ञान का तिरस्कार कर क्रिया और परिवर्तन को ही सत्ता का स्वरूप माना है और वास्तविक सत्ता के परिज्ञान के लिये बुद्धि की अपेक्षा स्फूर्ति या प्रतिभा (Intuition)

को प्रधानता दी है। विकास में नवीनता का जो प्रश्न है, उन्होंने उसको अच्छे ढंग से हाथ में लिया है। नवीन वस्तु वादियों ने भी, जिनमें बर्ट्रेन्ड रसेल प्रधान हैं, अनेक वाद को माना है। उन्होंने प्रत्यय वादियों का पूर्ण विरोध किया है। उन्होंने मनुष्य की स्वतंत्रता को मानते हुए वस्तु की भी स्वतंत्र सत्ता मानी है। हमारा ज्ञान हम पर निर्भर नहीं है, वरन् वस्तु पर निर्भर है। इस अंश में प्रत्यय वादियों के प्रतिपादित ज्ञान को धक्का लगा है।

अब आगे इन दार्शनिकों के मतों का निम्नलिखित क्रम से विशेष रूप से वर्णन किया जायगा—

विलियम जेम्स का व्यावहारिक उपयोगितावाद। (Pragmatism.)

बर्गसन का स्फूर्ति वाद। (Intuionalism.)

बर्ट्रेन्ड रसेल का नवीन वस्तु वाद। (New Realism.)

विलियम जेम्स *

दो प्रतिकूल सिद्धान्तों का भी कभी कभी एक ही परिणाम होता है। हैगेल (Hegal) और हेकल (Heckel) के सिद्धान्तों में बड़ा ही अन्तर है। एक महाशय युरोप में आत्मैक-वादियों के शिरोमणि गिने जाते हैं, तो दूसरे महाशय आधुनिक प्रकृति वादियों में अग्रगण्य हैं; किन्तु दोनों ही की फिलासोफी अन्त में हमको नियत वाद (Determinism) में ले जाती है। दोनों ही के मत में संसार कार्य कारण की शृंखला में बँधा

---

* यह लेख मर्यादा में छप चुका है।

हुआ है। मनुष्य को संसार में किसी नई बात की गुंजाइश नहीं है। यदि हैगेल के मत से व्यक्ति का समष्टि में लोप हो जाता है, तो हैकल के अनुयायियों के लिये मनुष्य बन्दरों का सकुटुम्बी है।

प्रकृति या भूत वाद (Materialism) और आत्म वाद (Spiritualism) दोनों ही मनुष्य का गौरव घटाते हैं। दोनों ही बुद्धि की प्रधानता मानते हुए हमारे भावों को सत्य का निर्णय करने में कोई स्थान नहीं देते। संसार की उन्नति में भावों की प्रधानता एवं मनुष्य की स्वतंत्रता और गौरव स्थापित करने के लिये कार्य्य साधकता वाद (Pragmatism) का उदय हुआ है। जेम्स, शिलर और ड्यूई ये तीन महाशय क्रिया साधनता वाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। जेम्स साहब इस मत के प्रधान आचार्य मान गए हैं। आप अमेरिका के सब से बड़े फिलासोफर समझे जाते हैं। आप ने नीचे लिखे हुए ग्रंथों की रचना की है—

(1) Principles of Psychology; 1891.

(2) Psychology (Text Book; 1892.)

(3) The will to believe; 1892.

(4) Human Immortality; 1898.

(5) Talks to teachers on Psychology and to students on some of Life's Ideals.

(6) The Varieties of Religious Experience; 1902.

(7) Pragmatism; 1907.

(8) The Meaning of Truth; 1909.

(9) Pluralistic Universe; 1909.

(10) Some Problems of Philosophy (Post Humous; 1911.)

(11) Memoirs and Studies; 1911.

(12) Essays in Radical Empericism. (Post humous.)

आप बहुत काल तक हार्वर्ड विश्वविद्यालय में फिलासोफी के प्रधान अध्यापक रहे थे। आपका जन्म सम्वत् १८९९ में और स्वर्गारोहण सम्वत् १९६७ में हुआ था। आप का उदय ऐसे समय में हुआ था जब कि विज्ञान विकास वाद की ओर झुकता जा रहा था।

विलियम जेम्स पर धार्मिक और वैज्ञानिक सभी तरह के प्रभाव पड़े थे। इसी कारण वे विकास वाद का पूरा महत्व समझ सके थे। उनके लिये विकास वाद की उत्पत्ति धर्म का उन्मूलन करने के लिये नहीं है, किन्तु चेतन संसार को यंत्रवत् मानने-वाली कल्पनाओं की अपूर्णता दिखलाने के अर्थ हुई है। विकास वाद द्वारा प्रतिपादित व्यक्ति वैभिद्य (Individual Variation) में उन्होंने व्यक्ति का गौरव और शक्तिमत्ता का प्रमाण पाया है। उनका विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति संसार को एक अनूठी दृष्टि से देखता है और साधारण से साधारण मनुष्य भी इस संसार के विषय में नई बात बतला सकता है। इन महाशय के विषय में संक्षेपतः इतना ही कहकर हम इनके दार्शनिक विचारों का विषयानुसार निरूपण करते हैं।

दार्शनिक रीति

प्रत्येक तत्ववेत्ता के मत से सत्यासत्य की जाँच के लिये पृथक् पृथक् लक्षणों की कल्पना की गई है। जेम्स साहब की राय में वस्तु की उपयोगिता ही सत्य की कसौटी है। किसी विचार की जाँच से पहले हम को यह प्रश्न करना चाहिए कि इस से हमारे किसी हित का साधन होगा या नहीं *। कोई बात तर्क से ठीक हो या न हो, जब तक वह क्रियात्मक जाँच में ठीक न उतरे, तब तक ठीक नहीं कही जा सकती। चाह की तृप्ति अथवा किसी हित का साधन ही सत्य की कसौटी है। केवल अस्तित्व ही सत्य नहीं। जंगल में मोर नाचा, किसने देखा ? ये निरर्थक सत्ता को नहीं मानते। "सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाय"।

जिस विचार से हमारा किसी प्रकार हित सधे, वही सत्य है। उदाहरणतः यदि हमको आस्तिक नास्तिकवाद का झगड़ा ते करना हो तो क्या करना चाहिए ? युक्तियों में दोनों ही पक्ष मज़बूत हैं। पर जेम्स साहब के मत से इस मत का सहज ही में

---

* Pragmatism, on the other hand, asks its usual question.........It says 'what concrete difference will its being true make in any one's actual life ?......what in short is the truth's, cash value, in experimental terms?" अर्थात् व्यावहारिक उपयोगिता वाद का हमेशा यह प्रश्न रहता है कि किसी बात के सत्य होने से किसी के वास्तविक जीवन में क्या अन्तर पड़ेगा; प्रयोग में सत्य का नकद मूल्य क्या है ?

निपटारा हो जाता है। वे पूछते हैं कि मनुष्य जाति का सन्तोष किस कल्पना से हो सकता है ? उत्तर में अवश्य कहना पड़ता है कि आस्तिकवाद आशा और सन्तोष की फिलासोफी है; और नास्तिकता का सूर्य नैराश्य के समुद्र मे अस्त हो जाता है। नास्तिकवाद के हिसाब से यह समस्त संसार निष्प्रयोजन और निराधार है। हम लोग पानी के बुलबुलों की तरह नाश को प्राप्त हो जायँगे और हमारे मरने के बाद दान, तप, क्रिया, जप, योग आदि किसी अर्थ में न आवेगा। सच्चे नास्तिक वादी के लिये तो हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने के सिवा और कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। आस्तिकवाद और नास्तिकवाद मे यही अन्तर है; और इसी कारण आस्तिकवाद की श्रेष्ठता है।

जेम्स साहब अपने को अनुभववादी कहते हैं; किन्तु इनके मत में अनुभव की परिभाषा काण्ट और मिल सरीखे अन्य अनुभव वादियों की भाँति संकुचित नहीं है। इनके मत से अनुभव में धार्मिक पुरुषों का समाधिजन्य आनन्द भी शामिल है। ये लॉक साहब की तरह मन को कागज की भाँति निष्क्रिय भी नहीं मानते। इनका कहना है कि केवल बुद्धि की अनुकूलता ही सत्य का प्रमाण नहीं है। क्या हमारे भाव हमारे अन्तःकरण से बाहर हैं ? फिर बुद्धि ही क्यों प्रधान मानी जाय ? ज्ञान और क्रिया में ये क्रिया को प्रधान मानते हैं। इनका कथन है कि कार्य में कुशलता के लिये ही ज्ञानोपार्जन किया जाता है।

ज्ञान क्रिया के लिये है। ज्ञान हमारा परम पुरुषार्थ नहीं है। ज्ञान जीवन का एक अंश है। पूरे जीवन में ज्ञान, भाव और क्रिया

सभी शामिल हैं। अतः हम को तीनों ही के संतोष का यत्न करना चाहिए। अन्तःकरण की सब वृत्तियों की ओर पूरा पूरा ध्यान देने ही के कारण धर्म और विज्ञान में झगड़ा चला आता है। धर्मवालों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान का तिरस्कार किया है, तो विज्ञान ने हमारे भावों को मूर्खता का लक्षण समझा है। इसी कारण दोनों में युद्ध चला आता है। यदि विज्ञानवाले हमारे संकल्प और भावना वृत्तियों की ओर ध्यान देते, तो संसार में नास्तिकता प्रवेश न करने पाती; क्योंकि ईश्वरवाद ही में हमारी सब वृत्तियों का संतोष होता है। हम को सत्यासत्य के निर्णय में केवल विचार ही का सहारा न लेना चाहिए। यह एकाङ्गी सन्तोष है। हमको विचारों मे अविरोध के अतिरिक्त अपने भावों की अनुकूलता, संकल्पों की सफलता और कार्य साधन की सुविधा की ओर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। संक्षेपतः जेम्स साहब की यही दार्शनिक रीति है। इसी के अनुसार जेम्स साहब ने सब प्रश्नों का उत्तर दिया है। इसको कार्य्य साधकता वाद (Pragmatism) कहेंगे।

मनोविज्ञान

इसमें जेम्स साहब ने बहुत सी नई बातें बतलाई हैं। उनका यहाँ पर उल्लेख करना असम्भव होने पर भी उनकी सामान्य स्थिति का ज्ञान आवश्यक है। ये हमारे संवेदनों की अवस्थाओं (States of Consciousness) के अतिरिक्त और कोई निर्गुण अन्तरात्मा नहीं मानते। ये हमारे संवेदनों को माला की गुरियों की भाँति अलग नहीं मानते, जिससे उन्हें इकट्ठा करने

के लिये एक सूत्र-रूपी आत्मा की आवश्यकता पड़े। ये हमारी संज्ञा को प्रवाह रूप और उस प्रवाह को अटूट मानते हैं। ये शरीर ही को आत्मा माननेवालों में से नहीं हैं। भौतिक शरीर का नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। इन्होंने अपने मनोविज्ञान में शारीरक विज्ञान (Physiology) से बड़ा काम लिया है, किन्तु ये हक्सले, स्पेंसर आदि वैज्ञानिकों की भाँति जीव को शरीर अथवा मस्तिष्क का विकार नहीं मानते। बहुतेरे वैज्ञानिकों का मत है कि हमारे विकास में चेतना शक्ति का कुछ भी हाथ नहीं है। जेम्स साहब ने इस मत का बड़े जोरों से खण्डन किया है। वे कहते हैं कि विकास में चुनाव की बहुत आवश्यकता है। संसार में असंख्य पदार्थ हैं और हमारे प्रारम्भिक शरीरों को उन सब के सम्बन्ध में आना पड़ा होगा। किन्तु उन्होंने उनमे से उन्हीं पदार्थों को चुना है जो उन शरीरों को तत्कालीन अवस्था के उपयुक्त ज्ञात हुए थे। यदि चुनाव की शक्ति उपयोग में न लाई गई होती, तो हर एक पदार्थ हमारे ऊपर प्रभाव डालने लगता। विकास में कोई नियम न रहता। चुनाव किसी उद्देश्य से होता है, और उद्देश्य चेतना से पृथक् नहीं रह सकता; इसलिये मस्तिष्क आदि अंगों की नियम-रहित ग्राहकता की कमी सप्रयोजन चुनाव से पूर्ण कर विकास को यथा-क्रम बनाने के लिये चेतना शक्ति की आवश्यकता माननी पड़ती है। दूसरा प्रमाण यह है कि यदि चर सृष्टि में चेतन-प्रसार पर दृष्टि डाली जाय, तो ज्ञात होगा कि जो जीव नीच कोटि के हैं, उनके शरीर सरल हैं और उनमें चेतना का प्रकाश कम है।

जैसे जैसे हम ऊपर चढ़ते जाते हैं, वैसे वैसे जीवों के शरीरों में रचना-वैचित्र्य गूढ़तर होकर चेतना शक्ति का अधिकाधिक प्रकाश होता आता है। इससे ज्ञात होता है कि ऐसे शरीर केवल भौतिक नियमों से स्वयं काम नहीं चला सकते। इसलिये उनको चलाने के निमित्त चेतना शक्ति की आवश्यकता होती है। दूसरी बात यह है कि जो शक्ति व्यवहार में अधिक लाई जाय, वह बढ़ती है। उच्च कोटि के शरीरों में चेतना शक्ति का होना ही इसका प्रमाण है कि इन जानवरों को उच्च कोटि में आने के लिये चेतना को काम में लाना पड़ा। इसी से उनके शरीरों की क्रमोन्नति होने के साथ ही चेतना शक्ति भी यथा क्रम बढ़ती गई। इसके साथ ही यह कह देना भी असंगत न होगा कि जेम्स साहब भूत प्रेत आवेशादि आत्मा सम्बन्धी अनुसंधान की बातों के बड़े पक्षपाती थे। इन्होंने अपने मनोविज्ञान में संकल्प और विश्वास को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। इनका कथन है कि विश्वासपूर्वक काम करने से ही उसकी सत्यता प्रकट हो सकती है। पानी में घुसे बिना तैरना नहीं आ सकता। ये यद्यपि तत्वज्ञान में संकल्प के बड़े पक्षपाती हैं, तथापि विज्ञान की दृष्टि से मनोविज्ञान में स्वातंत्र्य को स्थान नहीं देते।

प्राकृतिक द्रव्य

इस विषय में जेम्स साहब बर्कले से सहमत हैं। उन्होंने मानसिक द्रव्य की तरह प्राकृतिक द्रव्य को भी नहीं माना है। वे कहते हैं कि खरिया या किसी भौतिक पदार्थ के गुणों के अतिरिक्त हमको और किसी वस्तु से प्रयोजन नहीं। द्रव्य का द्रव्यत्व

उसके गुणों से ही प्रकाशित होता है। यदि गुण है तो हमारे लिये वस्तु प्रस्तुत है। यदि गुण नहीं, तो वस्तु कहाँ! रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द का ज्ञान ही हमारे लिये कुछ अर्थ रखता है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। साथ ही वे वस्तु की प्राकृतिक सत्ता को भ्रमात्मक या हमारे ऊपर निर्भर नहीं मानते। वे अपने को प्रत्ययवादियों की संज्ञा में नहीं रक्खेंगे।

एकानेक वाद

इस विषय में जेम्स साहब का कथन है कि संसार में कई प्रकार की एकता देखी जाती है। उदाहरणतः विश्व का विम्ब ही एक साथ विचार का विषय बन जाता है। संसार भर में हमारे सम्बन्ध के तन्तु फैले हुए हैं। बहुत से लोग यह मानेंगे कि संसार का एक ही कर्ता होने के कारण संसार की एकता है। बहुत से लोग कहेंगे कि संसार एक प्रयोजन की ओर जा रहा है, अतः संसार एक है। इन सब बातों के होते हुए भी अनेकता का अभाव नहीं। यदि हम संसार को उस विशेष रीति से न देखें, तो संसार में हमको अनेकता ही दिखाई देगी। यदि संसार को नियम और व्यवस्था रहित देखें, तो भी हम उसको अस्त व्यस्त अर्थात् बेसिलसिले कहकर एक साथ विचार का विषय बना सकते हैं। इसी प्रकार यदि हम अपने जान पहचानवालों की ओर ध्यान न दें, तो सम्बन्ध का भी तारतम्य भ्रमात्मक दिखाई देने लगेगा। संसार को एक मानने से धार्मिक आनन्द तो अवश्य ही बढ़ जाता है, पर भेद का लेश मात्र होने से पूर्ण एकता जारी रहती है। यदि शुद्ध जल में एक बूँद भी अशुद्ध जल की पड़ जाय, तो

वह अशुद्ध हो जाता है। हम चाहे जितना यत्न करें, भेद को बिलकुल हटा नहीं सकते हैं; इसलिये एक वादियों का मत ठीक नहीं मालूम होता। हमारे आचारों की स्थिति के हेतु अनेकता को मानना ही श्रेयस्कर है; क्योंकि नानात्व के माने बिना न तो भक्ति ही सम्भव है, और न सांसारिक व्यवहार ही चल सकता है। अनेकता अवश्य है, किन्तु संसार में ज्यों ज्यों हमारे सम्बन्ध संघटित होते जाते हैं, त्यों त्यों यह अनेकता घटती जाती है। हिन्दू दार्शनिकों में माध्वाचार्य्य पूर्णतया अनेकवादी थे। उन्होंने जीव और ईश्वर की भिन्नता, जीव और जीव की भिन्नता, जीव और प्रकृति की भिन्नता, ईश्वर और प्रकृति की भिन्नता और प्राकृत पदार्थों में भी आपस का भेद माना है।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य

मिस्टर जेम्स अनियत वाद को पूर्णतया मानते हैं। यहाँ तक कि वे आकस्मिकता (Chance) को भी मानने के लिये तैयार हैं। वे कहते हैं कि जिस संसार में सब बातें पहले ही से निर्धारित हों, उसमें मनुष्य का उद्योग निष्फल है; क्योंकि वह पूर्व निर्धारित बात अन्यथा नहीं हो सकती। यदि संसार में अच्छा और बुरा करने की संभावना न हो, तो किस प्रकार किसी बात के लिये हमारा पश्चात्ताप करना ठीक है, कि हाय! ऐसा करते तो अच्छा होता! किन्तु ऐसे संसार में जहाँ सब बातें पहले ही से निर्धारित हैं, अफसोस करने के लिये मना करना भी वृथा है। जब तक हम मनुष्य की स्वतंत्रता न मानेंगे, तब तक हम उसको किसी काम के लिये उत्तरदायी भी नहीं

ठहरा सकते। संसार न तो जैसा कि सर्व शुभवादी (Optimist) कहते हैं, बिलकुल अच्छा ही है, न विपरीत पक्षवालों के कथनानुसार बिलकुल बुरा ही है। प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि संसार को अच्छा बनाने के लिये यथा शक्ति प्रयत्न करे; क्योंकि संसार का अच्छा और बुरा होना हमारे कामों पर ही निर्भर है। जेम्स साहब के अनुसार सत्ता (Reality) हमेशा बनती रहती है। सत्ता कोई गढ़ी गढ़ाई वस्तु नहीं है। यदि हम बुरे काम करेंगे तो संसार बुरा, और अच्छे काम करेंगे तो अच्छा होता चला जायगा। इस संसार मे हर एक आदमी की बड़ी जिम्मेदारी है। हमारे बनाने से संसार बनता है और हमारे ही बिगाड़ने से वह बिगड़ता है। यदि हम संसार को अच्छा न बनाना चाहेंगे, तो ईश्वर भी हमारी सहायता न करेगा। इसलिये हम सब को संसार की उन्नति में योग देना चाहिए। संसार को भला बनाना ही परम पुरुषार्थ है। संसार का श्रेय किस मे है, इसके विषय में जेम्स का कहना है कि इसके लिये बँधे हुए नियम नहीं बतलाए जा सकते। ज्ञान वृद्धि के साथ ही श्रेय के विचार में भी परिवर्तन होता जाता है। किन्तु प्रत्येक मनुष्य का यह धर्म है कि वह यथा शक्ति संसार के श्रेय के लिये प्रयत्न करे। यद्यपि यह संसार इतना संकुचित है कि इस मे सब का साधन सम्भव नहीं, किन्तु जहाँ तक हो सके, हमको सब का हित साधन करना चाहिए; और सब का नहीं तो अधिक से अधिक लोगों का हित तो अवश्य करना चाहिए।

हर एक आदमी का काम है कि संसार को अच्छा बनावे। पर इसके साथ ही यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य में संसार को अच्छा

बनाने की इच्छा कहाँ से आई। इस विषय में इन का मत यह है कि किसी अंश में तो सहज ज्ञानवादियों का मत ठीक है; क्योंकि हमारे बहुत से सद्विचारों की उत्पत्ति उपयोगिता के आधार पर नहीं हुई है; और किसी अंश में हाब्स (Hobbs) और बेन्थम (Benthem) की बातें ठीक हैं; क्योंकि विचारों की उत्पत्ति नैसर्गिक भी नहीं है।

धर्म का तत्व

धर्म का मूल 'भाव' में है। धार्मिक भाव अनेक प्रकार के हैं; किन्तु वे एक मौलिक सिद्धान्त के आधार पर स्थित हैं। वह आधार यह है कि एकता, साम्य और शान्ति थोड़ी कठिनाई के बाद अवश्य प्राप्त हो सकती है; और इस अवस्था के प्राप्त होने पर कुछ शक्ति बाहर से आती हुई मालूम होती है। वह शक्ति हम को अप्रबुद्ध दशा में प्राप्त होती है। जेम्स साहब धर्म का तत्व जातीय व्यवहारों में नहीं किन्तु व्यक्तिगत अनुभवों में मानते हैं। यह अनुभव व्यक्ति भेद से कई प्रकार का होता है; किन्तु सब भेद मूल दो भेदों के अन्तर्गत हैं। एक तो वे लोग हैं जो पहले से ईश्वर की एकता या सान्निध्य के सुख में मग्न रहते हैं—कभी कभी वे चमत्कार भी दिखला जाते हैं। दूसरे वे जो अपने को सदा नीच, अधम और पापी ही समझकर सदा पश्चात्ताप करते रहते हैं। पश्चात्ताप के बाद वे कभी कभी पहली कोटि में भी आ जाते हैं। कुछ लोगों को पहले ही से योग का आनन्द मिल जाता है, तो कुछ लोगों को वियोग का दुःख भोगने के बाद। धार्मिक अनुभववालों के यही दो मुख्य भेद हैं।

जेम्स साहब सान्निध्य का आनन्द माननेवालों में से हैं और सगुण ईश्वर के उपासक हैं। सगुण होने के कारण वे ईश्वर को एक प्रकार से परिमित मानते हैं। अनन्त दया के साथ अनन्त शक्ति का योग नहीं हो सकता। साथ ही जेम्स साहब का कहना है कि वह सहृदय है। ईश्वर इस विश्व का अंग है; वह हम को हमारी उन्नति में सहारा देता रहता है। यद्यपि इस की वैज्ञानिक सिद्धि नहीं हो सकती, किन्तु जिस की वैज्ञानिक सिद्धि नहीं हो सकती, उसका आधार हमारे विश्वास के संकल्प (Will to believe) में है।

व्यावहारिक उपयोगिता वाद के प्रतिपादकों में जान ड्यूई (John-Dewey) और एफ० सी० एस० शिलर मुख्य हैं। जेम्स की भाँति ड्यूई ने भी पुराने दार्शनिकों का खण्डन किया है। प्राकृतिक विकास क्रम के अतिरिक्त और सत्ताओं की खोज वृथा है। ड्यूई साहब ऐसे विश्व को नहीं मानते जो पहले ही व्यवस्थापूर्ण बन चुका हो। ऐसे विश्व में मनुष्य की आशाओं, अभिलाषाओं तथा विश्वासों के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता। जो संसार पहले ही से पूर्ण है, उसमें मनुष्य के प्रयत्न और पुरुषार्थ का क्या काम ? विकासवादियों की भाँति वह संतत परिवर्तन-शीला सत्ता को मानते हैं। ऐसी ही सत्ता में नवीनता, उन्नति, प्रयत्न और उद्योग के लिये स्थान हैं। इसी चलती हुई जीती जागती सत्ता की ओर हमें ध्यान देना चाहिए; क्योंकि यही हमारा कार्य स्थल है। आदि कारणों और वास्तविक स्थिर सत्ताओं की खोज वृथा है। जो वस्तु चल रही है, उसमें न तो पूर्णत्व रहता है और न उसका अन्तिम लक्ष्य ही मिल सकता है। लक्ष्य

की भी उन्नति सत्ता के विकास के साथ होती रहती है। पुराने तत्व ज्ञान के प्रश्नों से हमारा हित साधन नहीं होता। सत्ता क्या है ? कैसी है ? उसका मूल कारण क्या है ? इत्यादि प्रश्नों से क्या प्रयोजन ! हमको तो यह विचार आवश्यक है कि इस सत्ता को हम अपने अनुकूल किस प्रकार बना सकते हैं; अथच हम इसमें अपना जीवन किस प्रकार चला सकते हैं। व्यवहार, आचार और समाज सम्बन्धी प्रश्न ही वास्तविक प्रश्न हैं। हमारा विचार भी इन प्रश्नों के उत्तर देने एवं हमको हमारे जीवन में सहायता देने के लिये है। इस संसार में हमको पद पद पर कठिनाइयाँ पड़ती हैं। हमारी बुद्धि और विचार शक्ति इन कठिनाइयों और जीवन की समस्याओं के उत्तर खोजने के लिये साधन हैं, न कि सत्ता की प्रतिलिपि करने के लिये। सत्ता का भी जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह केवल जानने के लिये नहीं, वरन् व्यवहार के लिये होता है। बनी बनाई सत्ता को जानकर हम कृतकार्य नहीं हो जाते, वरन् इस विकासोन्मुख संसार में विकास की गति समझ कर उसको श्रेय की ओर ले जाने में अपने विचार और क्रिया द्वारा योग देना हमारा कर्तव्य है। दर्शन शास्त्र का विषय, राजनीतिक और आचार सम्बन्धी अवनति और उन्नति के कारणों की खोज हो जाता है। जब इस दर्शन शास्त्र के अनुसार संसार बन रहा है, तब उसके बनने मे योग देना और उसकी गति का क्रम निश्चित करने में सहायता देना हमारा परम कर्तव्य है।

सत्ता के इस आदर्श के अनुसार हमको अपने ज्ञान शास्त्र में परिवर्तन करना पड़ेगा। हम केवल विचार के अर्थ विचार नहीं करते, वरन् वह जीवन के कार्य क्रम में एक श्रेणी है। बुद्धि बाहर

से आकर हमारे ज्ञान को व्यवस्थित नहीं बनाती, वरन् हमारा ज्ञान और अनुभव कुछ निश्चित अवस्थाओं में व्यवस्था प्राप्त करता है। जब तक जीवन प्रवाह अकुंठित रीति से चलता रहता है या जब तक कोई विघ्न बाधा उपस्थित नहीं होती, तब तक हमको विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। सब कार्य स्वाभाविक रीति से होता चला जाता है। जब हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों में विरोध उपस्थित हो जाता है और उनमें प्रतिद्वन्द्विता होने लगती है, तभी थोड़ी देर के लिये जीवन कार्य स्थगित करके वर्तमान स्थिति में आवश्यक उलट फेर करने तथा कार्य क्रम निश्चित करने के लिये हमें विचार करना पड़ता है। ऐसे समय में हमारे अनुभव के दो भाग हो जाते हैं। एक तरफ हमको वर्तमान स्थिति, जिसमें हमें उलट फेर करने की आवश्यकता है, दिखाई देती है। (यह वर्तमान स्थिति पूर्व क्रियाओं का आभास द्वारा जड़ीभूत रूपान्तर है। यह व्यवहार में स्थित तथा अचल है; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है कि इसमें परिवर्तन न हो सके।) दूसरी ओर विचार या दृढ़ मनसूबा है जिसके अनुसार हम उस स्थिति को बदलना चाहते हैं। यदि वह विचार उस स्थिति को हमारे अनुकूल बनाने में समर्थ हो तो सत्य है, अन्यथा नहीं। वैज्ञानिक लोगों ने जो कुछ आविष्कार किए हैं और ज्ञान का तारतम्य बाँधा है, उसको प्रत्यय वादी लोग अपना लक्ष्य मान लेते हैं; किन्तु वह ज्ञान का साधन मात्र है। वैज्ञानिकों के नए आविष्कार 'सत्य' की पदवी नहीं प्राप्त कर सकते, वरन् जिस भूल भुलैयाँ में सत्य के मिलने की आशा है, उसमें राह पाने के लिये सूत्र मात्र हैं। विचार द्वारा हमारी स्थिति और आशाओं में साम्य स्थापित किया जाता है।

यही साम्य सत्य का लक्ष्य और कसौटी है। जो विचार, विश्वास और कल्पनाएँ हमारे लक्ष्य के साधन में किसी प्रकार सफल होती हैं, वही सत्य हैं। जब तक हमारे विचार कार्य-साधक न बन जायँ, तब तक हम उनको बदलते रहते हैं; अतः वे सत्य की कोटि में नहीं पहुँचते। साम्यपूर्ण स्थिति ही सत्य है। जो विचार इस साम्य को स्थापित करने में सहायक हों, वे सत्य हैं। सत्य के पूर्व की श्रेणियों को हम यद्यपि सत्य का गौरव नहीं दे सकते, तथापि हम उनको असत्य या मिथ्या भी नहीं कह सकते। हमारा संकल्प इस विचार का प्रेरक है; क्योंकि संकल्प विचार से पूर्वतर है। संकल्प हमारी आत्मा का मुख्य रूप है। विचार करना ही हमारे अनुभव का मुख्य रूप नहीं है। वस्तु की सुन्दरता, उसकी उपयोगिता, उसकी धर्मानुकूलता, उसकी बनावट और काट छाँट, सभी बातें हमसे संबंध रखती हैं; अतः उसका सभी संबन्धों से विचार करना चाहिए। एक ही संबंध का विचार करके हम अंतिम सिद्धान्त निश्चित नहीं कर सकते। हम लोग केवल ज्ञाता ही नहीं, वरन् कर्ता और भोक्ता भी हैं। हमको बुद्धि की अनुकूलता के साथ भाव की भी अनुकूलता देखनी चाहिए।

ड्यूई ने अपने दार्शनिक विचारों का समाज और राजनीति में अच्छा उपयोग किया है। जब सत्ता बन रही हो, तब हमें उदासीन नहीं रहना चाहिए। हमें संसार को अच्छा बनाने में योग देना चाहिए। यदि संसार बना बनाया होता, तो हमारे प्रयत्न से कुछ न होता। लेकिन जब संसार बन रहा है, तब हमारे प्रयत्न यथार्थ हैं। हमारा आदर्श भी हमारे प्रयत्न के साथ उन्नत होता जाता है। संसार की बुराई का भार हमारे

ही ऊपर है। शिलर साहब ने अपने मत का नाम मानवता वाद रक्खा है। मानवता वाद (Humanism) का अर्थ यह है कि मनुष्य ही के संबंन्ध में सब वस्तुओं का मूल है। जो मानव हित की बात है, वही ठीक है। प्रोटोगोरस (Protogoras) का कथन है कि Man is the measure of all things अर्थात् मनुष्य ही सब पदार्थों का मापक है। शिलर साहिब इस बात पर जोर देते हैं कि दर्शन शास्त्रों को मनुष्य की बुद्धि का ही सतोष नहीं करना चाहिए, वरन् पूरे मनुष्य का। ऐसा करने में तार्किक सरलता की हानि भले ही हो, पर सत्य का तो रक्षण होगा। कार्य साधनता वाद (Pragmatism) और मानवता वाद का अन्तर बतलाते हुए शिलर साहब कहते हैं कि मानवता वाद कार्य साधनता वाद से अधिक विस्तृत है। कार्य साधनता वाद केवल ज्ञान के सम्बन्ध में इसका एक विशेष रूप है। मानवता वाद तर्क, सौन्दर्य शास्त्र, आचार शास्त्र और तत्व ज्ञान से सम्बन्ध रखता है। तर्क शास्त्र का विषय बुद्धि में संकुचित न रहकर समस्त मानसिक क्रियाओं का तर्क से सम्बन्ध कर देता है। तर्क शास्त्र को देश काल से अनवछिन्न शुद्ध विचार के संसार से हटाकर वास्तविकता के जीते जागते संसार में लाने का यत्न किया गया है। दार्शनिकों द्वारा चलते फिरते संसारका जो वास्तविक तिरस्कार हुआ है, वह इसी शुद्ध विचार में अनुचित श्रद्धा के कारण। शुद्ध विचार ही में परिवर्तन कार्य कारणता को स्थान न मिले, किन्तु वास्तविक संसार में उनकी सत्ता ही उनके अस्तित्व का प्रमाण है। बौद्ध संसार में उड़ते हुए हमको पृथ्वी की ओर से अपनी दृष्टि नहीं हटानी चाहिए। हमारे स्वयंसिद्ध सिद्धांत चाहे कितने ही सत्य हों,

किन्तु जब तक हम उनका विशेष बातों में लगाव न देख लें, तब तक उन विशेष बातों के सम्बन्ध में उन स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों के आधार पर कोई अनुमान नहीं कर सकते । यद्यपि यह ठीक है कि दो और दो चार होते हैं, तथापि जब तक हम यह न जान लें कि किस पदार्थ के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त कहा गया है, तब तक हम इसके आधार पर कोई अनुमान नहीं कर सकते । दो रुपए और दो रुपए चार हो जायँगे । पर दो जल विन्दु और दो जल विन्दु यदि एक ही स्थान में गिरें, तो एक ही जल विन्दु बनेंगे । जिन चीजों का योग नहीं हो सकता, जैसे सुख दुःख, उनके विषय में यह सिद्धान्त प्रयुक्त नहीं हो सकता । अ = अ यह बहुत व्यापक सिद्धान्त है; किन्तु संसार में कोई दो ऐसे पदार्थ नहीं जो एक से हों । इसलिये हमको अपने तर्क में वास्तविकता की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए । जेम्स और ड्यूई की भाँति शिलर साहब बनी बनाई पूर्ण सत्ता नहीं मानते । उनका कथन है कि सत्ता के ज्ञान में ही उन्नति नहीं होती, वरन् ज्ञान में उन्नति के साथ सत्ता में भी उन्नति होती रहती है । हम सत्ता को देखकर केवल उसका नोट नहीं बना लेते, वरन् सत्ता ही को बनाते हैं । इस कथन की पुष्टि मे शिलर साहब ने कई उदाहरण दिए हैं । उनका मत है कि सत्ता से केवल जड़ सत्ता ही का ग्रहण नहीं होता, वरन् चेतन सत्ता का भी । हमारे व्यवहार से हमारे साथियों में अंतर पड़ता है । यदि हम किसी के साथ प्रेम-पूर्ण भाषण करें, तो उसको किसी न किसी अंश में अपनी ओर आकर्षित कर लेंगे तथा उसके भाव में भी मार्दव उत्पन्न कर देंगे । सामाजिक और राजनीतिक संसार में जो परिवर्तन होते

रहते हैं, उनके मुख्य कारण मनुष्य ही हैं। हमारे व्यवहार से जानवरों में भी परिवर्तन होता रहता है। जो जानवर पहले जंगली थे, अब पालतू हो गए हैं। सिंह आदि हिंस्र पशु भी सिखाने से हमारे इच्छानुवर्ती बन जाते हैं। शहर के बैल मोटरकारों से उतना नहीं भड़कते जितना कि गाँव के। मनुष्य जाति ने वनस्पति संसार में जो थोड़ा बहुत परिवर्तन किया है, वह भी अविदित नहीं है। पत्थर आदि पदार्थ इस सिद्धान्त के अपवाद रूप प्रतीत होते हैं; किन्तु वे भी अपनी प्रकृति के अनुकूल हमारे प्रयत्नों को सफलीभूत करने में योग देते हैं। कला कौशल के जितने पदार्थ हैं, वे सब जड़ सत्ता पर मनुष्य का प्रभाव होना प्रमाणित करते हैं। सत्ता कैसी है, अर्थात् वह मानसिक है अथवा मन से स्वतंत्र, इस विषय में शिलर साहब का मत वस्तु वाद तथा प्रत्यय वाद दोनों ही से मिलता जुलता है। वे पदार्थ की स्वतंत्रता अवश्य मानते हैं, किन्तु उसके साथ मनुष्य के प्रभाव से उसमें जो कुछ परिवर्तन हुआ है, उसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। वे यद्यपि काण्ट की भाँति बुद्धि की गढ़ी गढ़ाई संज्ञाओं को नहीं मानते, तथापि काण्ट के इस मुख्य सिद्धांत से सहमत हैं कि सत्ता हमारे मन की स्थिति से प्रभावित होती है। हम प्रारंभिक सत्ता में से अपनी रुचि के अनुसार अपना संसार बनाते हैं। जो वस्तु वादी वस्तु को हमसे इतना स्वतंत्र मानते हैं कि हम चाहे हों या न हों, वस्तु वैसी ही रहेगी, वे हमारी क्रियात्मक ग्राहकता को स्थान नहीं देते। शिलर साहब का उनसे पूर्ण विरोध है। वे ऐसे वस्तु वादियों और निरपेक्ष प्रत्यय वादियों में बहुत कम अंतर मानते हैं। निरपेक्ष प्रत्यय वाद की अपेक्षा वे विषयी-

प्रधान प्रत्यय वाद (Subjective Idealism) को श्रेष्ठतर मानते हैं। इसी के साथ जो लोग बाह्य सत्ता को नहीं मानते, उनसे भी शिलर साहब का विरोध है। उनका कथन है कि जिस प्रकार वस्तु के लिये मन की आवश्यकता है, उसी प्रकार मन के मनन करने के लिये वस्तु की आवश्यकता है। जहाँ तक वस्तु की स्वतंत्रता जाती है, वहाँ तक वे वस्तु वादियों का साथ देते हैं; और जहाँ तक मन की ग्राहकता की बात रहती है, वहाँ तक वे प्रत्यय वादी हैं। यद्यपि एक अंश में वे काण्ट के निकटवर्ती हैं, तथापि वे काण्ट के अज्ञेय वाद में नहीं जाते। जब हम्हीं सत्ता को बनानेवाले हैं, तब सत्ता अज्ञेय कैसी? सत्ता के पूर्व रूप हमसे अज्ञात हों, किन्तु सत्ता अज्ञात नहीं। शिलर साहब के सिद्धान्तों से धर्म को बहुत सहारा मिलता है। वे आत्मा का अमरत्व मानते हैं; और जेम्स की भाँति भूत प्रेतों को सत्ता भी संभव मानते हैं। आवागमन को भी अन्य ईसाइयों की भाँति असहृदयता से नहीं देखते और परलोकों की सत्ता भी एक प्रकार से मानते हैं। स्वप्न में बहुत सी ऐसी घटनाएँ होती हैं जो इस संसार से सम्बन्ध नहीं रखतीं। शिलर साहब के मत से ये अन्य किसी लोक को घटनाओं की प्रतिलिपि हो सकती हैं।

बर्गसन—बर्गसन का जन्म सन् १८५९ में हुआ था। इन्होंने परिवर्तन के पक्ष का समर्थन किया है; इसी लिये ये वर्तमान समय के हेरैक्लाइटस कहे जाते हैं। काल और स्वातंत्र्य (Time and Free will) भौतिक पदार्थ और स्मरण शक्ति (Matter and Memory) और सृजनात्मक विकास (Creative Evolution) ये तीन इनके मुख्य ग्रन्थ हैं।

जैसा कि पिछले अध्याय में बतलाया गया है, आज कल की मुख्य धाराओं में से एक धारा नवीनता की है। यह बात जेम्स साहब के मत मे स्पष्ट रूप से देखने में आई थी। बर्गसन ने इस सूत्र को और भी बढ़ाया है। नवीनता केवल ज्ञान की ही नवीनता नही है, वरन् सत्ता की भी नवीनता है। सत्ता पूर्ण नहीं हो गई है। उसका हमेशा विकास होता रहता है। यह विकास केवल विकास (फूल का सा खिलना) नहीं है; वरन् इस में वास्तविक रूप से नवीन उत्पत्ति भी होती रहती है। इस सिद्धान्त का विशेष वर्णन सृजनात्मक विकास नामक पुस्तक में (जिस का खुलासा इस लेख के अन्त में दिया गया है) मिलेगा।

अब प्रश्न यह होता है कि इस सत्ता का मुख्य स्वरूप क्या है। इस का मुख्य स्वरूप परिवर्तन है। यह परिवर्तन शाश्वत और विश्वव्यापी है।

यह परिवर्तन ही जीवन (Life) है; और जीवन संसार का मूल है। यह आत्मा और भौतिक पदार्थ के बीच की चीज़ है। ज्ञान का भी उदय इसी की आवश्यकताओं की पूर्ति के वास्ते होता है। ज्ञान क्रिया का साधन है। इस जीवन को समझना ही दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। विज्ञान स्थिर और मृत पदार्थ को विवेचना करता है। दर्शन जीवित पदार्थ की विवेचना करता है। हम यह परिवर्तन सभी पदार्थों में देखते हैं। हम अपनी चेतना में परिवर्तन देखते ही रहते हैं; और जो पदार्थ उसकी अपेक्षा स्थिर मालूम होते हैं, उनमें भी अदृश्य रूप से परिवर्तन होता रहता है; और कुछ काल पश्चात् ऐसे परिवर्तनों का संगृहीत फल भी दिखाई देने लग जाता है। सत्ता का अर्थ जीवित रहना है; और जीवन

स्थिर नहीं है; वह प्रवाह रूप है। चलन ही मूल सत्ता है। अब प्रश्न यह होता है कि यदि चलन ही मूल सत्ता है, तो चलता क्या है? चलने के लिये दृढ़ पदार्थ चाहिए। इस के उत्तर में वर्गसन साहब का कहना है कि जिनको हम दृढ़ और स्थिर पदार्थ कहते हैं—जो हम को प्रवाह की अपेक्षा अधिक वास्तविक प्रतीत होते हैं—वे एक प्रकार के दृश्य हैं, जिन्हें हम अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अपने मन से चलती हुई सत्ता के बीच मे से काटकर बना लेते हैं। साधारण लोगों का मत यह है कि संचलन से पूर्व स्थिर पदार्थ चाहिए। लेकिन वर्गसन का मत है कि संचलन में स्थिरता प्रतीत होने लगती है। स्थिरता वास्तिविक नहीं है। साधारण लोगों के इस विपरीत मत का क्या कारण है? यह भ्रम काल का ठीक विचार न होने के कारण है। साधारण लोगों का यह विचार है कि निर्जीव पदार्थों का काल से कोई सम्बन्ध नहीं है। चाहे काल की गति मन्द हो चाहे तीव्र, वस्तु जैसी है, वैसी ही बनी रहती है। काल का विशेष सम्बन्ध जीवित पदार्थों से है। किन्तु जिन को हम मृत या जड़ पदार्थ कहते हैं, उनका भी काल से सम्बन्ध है। वे भी काल से प्रभावित होते रहते हैं; किन्तु वह प्रभाव इकट्ठा होने पर ही प्रतीत होता है।

इसके प्रतिकूल जीवित पदार्थों में काल का प्रभाव विशेष रूप से दिखलाई पड़ता है। काल ही उनका जीवन है। काल को हम दो दृष्टियों से देख सकते हैं। एक दृष्टि से तो काल में हमारी मानसिक वृत्तियों की आनुपूर्वी है; अर्थात् काल उन से बाहर कोई निरपेक्ष पदार्थ है। और दूसरी दृष्टि से काल ही उन वृत्तियों का जीवन है। वृत्तियों का प्रवाह और काल का प्रवाह एक

ही है । वास्तविक सत्ता का वास्तविक स्वरूप वही जीवन प्रवाह है जिसका जीवन सतत परिवर्तन में है । इसी जीवन में सच्चा कालिक परिमाण (Duration) मिलता है । वास्तव में यह काल परिमाण हम लोगों के माने हुए निर्जीव पदार्थों के मूल प्रवाह में भी है । किन्तु जब हम उनको प्रवाह से अलग करके देखने लगते हैं, तब हम को वे क्रम रूप से दिखाई पड़ते हैं । जीवन सत्ता में कोई भाग नहीं है। उसमें पिछला अगले में अभेद्य रूप से मिला रहता है। गति के भाग नहीं हो सकते । गति से बनी हुई रेखा के पीछे से भाग हो सकते हैं । जेनो की यही भूल हुई कि उसने लकीर के भागों के आधारों पर गति के भी भाग मान लिए थे । एकिलीज और कछुए की पहेली को लीजिए । एकिलीज कछुए से एक गज पीछे चलता है; लेकिन उसकी चाल दस गुनी है, तो भी एकिलीज़ कछुए को पकड़ सकता है । ऐसा नहीं हो सकता कि जब तक वह एक गज़ चले, कछुआ $\frac{1}{10}$ गज़ चलेगा; और जब तक वह $\frac{1}{10}$ गज़ चले, तब तक कछुआ $\frac{1}{100}$ गज चल लेगा इत्यादि । गज के तो लाख तक भाग हो सकते हैं; किन्तु गति के नहीं। जब तक गति रुकती नहीं, तब तक गति का कोई भाग नहीं हो सकता । इस जीवित सत्ता का ज्ञान ऐसा नहीं है, जो मन के मृत आकारों में मिल सके । उस का ज्ञान जीवन के प्रवाह में ही प्रविष्ट होकर मिलता है । यह प्रवेश स्फूर्ति (Intuition) द्वारा होता है । स्फूर्ति द्वारा हम को सत्ता के पूर्णतया चलते और जीते जागते दृश्य दिखाई पड़ते हैं ।

बुद्धि अपने सुभीते के लिये उसी जीती जागती प्रवाह रूपी सत्ता के टुकड़े टुकड़े कर डालती है और उन्हीं टुकड़ों को अलग

देखती है; और फिर वे टुकड़े प्रवाह से अलग होकर स्थिर दिखाई पड़ने लगते हैं। यही भौतिक पदार्थ हैं। इनकी स्थिरता वास्तविक नहीं है। बुद्धि या विवेक (Intelect) द्वारा सिनेमेटोग्राफ या बायसकोप के से चित्र बनाए जाते हैं। बायसकोपवाले चलते हुए पदार्थ के बहुत से स्थिर चित्र ले लेते हैं। वे चित्र चलती हुई सत्ता की भिन्न भिन्न स्थितियों के होते हैं। वास्तव में सत्ता की स्थितियाँ नहीं हैं। स्थितियाँ तो स्थित वस्तु की होती हैं। जो वस्तु स्थित ही नहीं, उसकी स्थितियाँ कहाँ से आईं? लेकिन हमारी बुद्धि, केमरा की भाँति, चलती हुई सत्ता को एक साथ ग्रहण नहीं कर सकती; इसलिये वह बायसकोप के चित्रों की भाँति सत्ता के टुकड़े कर लेती है। उन चित्रों में यदि पुनः संचालन उत्पन्न कर दिया जाय, तो वे चलते हुए दिखाई देंगे। लेकिन खाली चित्र ही चित्र वास्तविक सत्ता के स्वरूप नहीं हैं। जिन को हम स्थिर भौतिक पदार्थ कहते हैं, जिनमे हम कार्य्य-कारण श्रृंखला लगाते हैं, जिनमे अवश्यंभाविता लगाते हैं, वे बायसकोप के चित्र-पटल की भाँति सत्ता में से काट काटकर बुद्धि के बनाए हुए चित्रों की भाँति हैं*। वास्तविक सत्ता में अव-

---

* ये चित्र वास्तविक नहीं हैं। जिसको हम भौतिक पदार्थ (Matter) कहते हैं, उसका भी वास्तविक रूप गति है। बर्गसन साहब ने मैटर का रूप इस प्रकार बतलाया है—"Matter thus resolves itself into numberless vibrations, all linked together in uninterrupted continuity all bound up with each other, and travelling in every direction

श्यंभाविता नहीं होती। जहाँ अलग पदार्थ हो, वहाँ उनके शृंखला-बद्ध होने की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु वास्तविक सत्ता, कवि की स्फूर्ति की भाँति नियतिकृत, नियम-रहित और स्वतंत्र है। हम अभेद्य सत्ता के खंड करके उन खण्डों में नियमबद्ध होने की आवश्यकता देखकर भूल से यह अनुमान करने लग जाते हैं कि वास्तविक सत्ता भी स्वतंत्रता-शून्य है। जहाँ पर हम अपने पूर्ण आत्मभाव (Personality) से काम करते हैं, वहीं पर

---

like shivers through an immense body." अर्थात् भौतिक पदार्थ इस प्रकार से एक अनवच्छिन्न धारा में चलते हुए स्फुरण मात्र रह जाते हैं। ये स्फुरण किसी बड़े पिंड से निकले हुए टुकड़ों की भाँति चारों ओर दौड़ते रहते हैं। जब इस अविच्छिन्न धारा का हमसे संपर्क होता है, तब हमारा शारीरिक संस्थान, जो कि क्रिया का एक केंद्र है, इसकी अविच्छिन्नता (Continuity) को भंग कर इनकी गति से और नई गति पैदा कर देता है। यह नई गति उत्पन्न करने में कई सम्भावनाएँ उपस्थित हो जाती हैं। उनमें से हमको चुनाव करना पड़ता है। इस चुनाव की क्रिया में हमको स्मृति (Memory), से, जिसका आत्मा से विशेष सम्बन्ध है, काम लेना पड़ता है। इसी चुनाव के समय गति का जो अवरोध और विच्छेदन होता है, उसी के द्वारा हमको भौतिक पदार्थ का प्रत्यक्ष (Perception) होने लगता है। गति के प्रवाह में हम भी शामिल हैं। जहाँ पर गति में विरोध हुआ और कुछ आपेक्षिक स्थिरता आई, वह मानसिक चित्र (Image) बन गया। यही भौतिक पदार्थ है। इस विचार को समझने के लिये बर्गसन की Matter and Memory नाम की पुस्तक पढ़नी चाहिए।

स्वतंत्रता है। ये स्वतंत्र कार्य्य अकारण नहीं हैं, किन्तु इनका कारण अपने से बाहर नहीं है।

यद्यपि स्वन्त्रता के ऐसे अवसर कम होते हैं, तथापि उनका अभाव नहीं है। जिस स्वतंत्रता और अनिश्चयता को हम अपने आध्यात्मिक जीवन में देखते हैं, वही सारे संसार में वर्तमान है और संसार के विकास में योग दे रही है। सृजनात्मक विकास, जिसका यहाँ थोड़े विस्तार के साथ वर्णन किया जाता है, जीवन-प्रवाह के स्वतन्त्र संचालन का फल है। यद्यपि इस मत के अनुसार भविष्य का आधार भूत में है, तथापि वह ऐसा भविष्य है जिसका रूप पहले से निर्धारित नहीं किया जा सकता यही उस में नवीन सृजन है।

सृजनात्मक विकास *

(Creative Evolution)

वर्तमान सभ्य समाज में विकासवाद की बड़ी चर्चा रहती है। क्या समाज, क्या साहित्य, क्या विज्ञान, क्या कलाकौशल सभी में विकासवाद के सिद्धान्तों की योजना की जाती है। यहाँ तक कि स्वयं विकासवाद संबंधी कल्पनाओं का भी विकास हो रहा है। चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin) के समय से अब तक विकासवाद में बड़े मतभेद हो गए हैं। कोई वैभिन्य (Variation) को क्रमागत भेदों का फल मानते हैं और किसी का

* यह लेख विज्ञान के कुम्भ और मीन सम्वत् १९७२ की संख्याओं में प्रकाशित हो चुका है।

यह कहना है कि ये भेद एकाएक (आकस्मिक) हो गए। किसी का यह मत है कि संसार के विकास में प्रयोजन विद्यमान है और उसका अन्तिम स्वरूप पहले से ही निर्धारित है। संसार उसी लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है। इस कल्पना को सुभीते के लिये हम प्रयोजनवाद (Finalism) कहेंगे। इसके विपरीत कुछ लोगों का विचार है कि विकास में कोई मुख्य लक्ष्य नहीं है। संसार के मूल तत्त्वों का उलट फेर तथा प्राकृतिक चुनाव (Natural selection) और बहिरावेष्टन (Environment) के प्रभाव से विकास का क्रम निश्चित होता रहता है। इन लोगों के मत से प्राकृतिक कारणों द्वारा ही सब कुछ यंत्रवत् होता रहता है। अच्छा शब्द न मिलने के कारण हम इस कल्पना को यंत्र-प्रकार-वाद (Mechanism) कहेंगे। इस मतभेद में बर्गसन की अपूर्व स्थिति है। इन्होंने अपनी कल्पना का नाम सृजनात्मक विकास (Creative Evolution) रक्खा है। इनके विकास-वाद सम्बन्धी विचार नीचे दिए जाते हैं।

बर्गसन के मत से यंत्र-प्रकार-वाद (Mechanism) और प्रयोजन वाद (Finalism) दोनों ही दूषित हैं। पहले यंत्र प्रकारिक कल्पनाओं पर विचार कीजिए। इस कल्पनानुसार इन्द्रि-याँ ही अपने धर्म को बना लेती हैं; जैसे आँख का धर्म दृष्टि है। बर्गसन आँख का उदाहरण लेते हुए पूछते हैं कि भिन्न भिन्न कोटि के जीवों की आँखें एक सी क्यों होती हैं ? इसके साथ यह भी बतलाया है कि आँख का धर्म तो केवल देखना ही है और उसकी रचना का तारतम्य बड़ा विचित्र है। यह क्यों ?

इन प्रश्नों का उत्तर यंत्र-प्रकार-वादी लोग यह देते हैं

कि पहले (बिना किसी विशेष कारण के) थोड़ा भेद आरंभ हुआ। फिर ये भेद संचित होते रहे; और जब भेद बढ़ गए, तब नई जातियाँ उत्पन्न हो गईं। इस कल्पना में बर्गसन दो कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं। पहली तो यह कि जब अंगों में नियम-रहित असयोगिक (Accidental) परिवर्तन होता रहा, तो यह समझ मे नहीं आता कि आँख ऐसी पेचीली इन्द्रिय के अंगों का ऐसा सुव्यवस्थित परिवर्तन होता रहा कि सब अंगों ने एक ही धर्म के साधन में योग दिया।

भेद अथवा परिवर्तन क्रमागत बतला देने से कुछ काम नहीं चलता। माना कि धीरे धीरे परिवर्तन होने के कारण आँख के धर्म में कोई रुकावट न पड़ी। पर यह कैसे माना जाय कि हमारी आँख का मस्तिष्क एवं समस्त स्नायु संस्थान मे ऐसा योग आ पड़ा कि सब के सब देखने के धर्म को बढ़ावें ? जो बातें आकस्मिक रीति से होती हैं, उनमें ऐसी सुव्यवस्था नहीं दिखाई पड़ती। यह तो एक व्यक्ति की आँख की बात हुई। अब दो भिन्न कोटि के जीवों में एक सी ही आँख के होने की अकारण संयोगवाद से क्या व्याख्या दी जायगी ? क्या दो भिन्न जातियों में भी ऐसा आकस्मिक योग आ पड़ा कि उन दोनों में जितने परिवर्तन हुए, उनका फल एक ही प्रकार की आँख हुई ? आँख कोई स्वतंत्र अंग नहीं। उसका सम्बन्ध सारे शरीर से है। सारे शरीर और आँख में परस्परानुकूल परिवर्तन आकस्मिक रीति से कैसे हो सकते हैं ? यदि सब परिवर्तन आकस्मिक हुए, तो क्या दो भिन्न कोटि के जीवों में लगातार एक से परिवर्तन होते रहे कि दोनों में एक सी आँख बन गई ? यह आकस्मिकता कैसी ?

यदि हम यन्त्र सम्बन्धिनी दूसरी कल्पना की ओर ध्यान दें, तो हम को थोड़ा सा सहारा मिलता हुआ दिखाई देता है। किन्तु इसके साथ हम को ऐसी ही दूसरी कठिनाइयों मे पड़ जाना पड़ता है। दोनों ही कल्पनाएँ आकस्मिकता के आधार पर हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि पहली के अनुसार जो कार्य्य धीरे धीरे हुआ था, वह दूसरी में एक साथ हो जाता है। पहली में दूसरी से अधिक कठिनाई है।

पहली कल्पना में तो 'आकस्मिक परिवर्तनों का एक ही धर्म के साधन में योग देना' ऐसी करामात को प्रतिक्षण मानना पड़ता है। दूसरी कल्पना के अनुसार यह करामात कभी कभी हो जाती है; इसी से इस कल्पना में हम को कम कठिनाई पड़ती है। सम्भव है कि दो भिन्न कोटि के जीवों में एक साथ ऐसे परिवर्तन हुए हों कि दोनों मे एक ही सी आँखें बन जायँ। किन्तु इस के साथ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जब बड़े बड़े परिवर्तन होते हों और किसी एक अंग के परिवर्तन में न्यूनता या प्रतिकूलता हो जाय, तो देखने में ऐसी सूक्ष्म क्रिया में तुरन्त बाधा पड़ जायगी। छोटे छोटे परिवर्तनों में सम्भव है कि किसी एक भाग में यथोचित परिवर्तन होने के कारण देखने में विशेष बाधा न पड़े; पर भारी भारी परिवर्तनों में अवश्य ही बाधा पड़ेगी। और फिर यह भी समझ में नहीं आता कि सभी अंगों में ऐसी सलाह से परिवर्तन हुआ कि सब ने मिलकर देखने के धर्म में योग दिया। अतः दोनों कल्पनाओं में लगभग एक ही कठिनाई है।

अब सम्बन्ध की तीसरी कल्पना पर विचार करना चाहिए और देखना चाहिए कि इस से हमारी उलझन कुछ कम होती है

या नहीं। इस के माननेवाले यह कहेंगे कि भिन्न भिन्न कोटि के जीवों की आँखों के निर्माण का कारण तो एक तेज है। फिर इसमें क्या आश्चर्य्य है कि भिन्न भिन्न कोटि के जीवों की एक ही सी आँख होती है?

यह बात अवश्यमेव माननी पड़ेगी कि हमारे शरीर को वाह्य कारणों के अनुकूल बनना पड़ता है। किन्तु क्या इस अनुकूलता के सिद्धान्त (Principle of adaptation) से आँख की बनावट और उसके धर्म की पूरी पूरी व्याख्या हो जाती है? माना कि तेज ने आदि जीवों के जीवन फेन (Protoplasm) में अपने प्रभाव से कुछ परिवर्तन करके एक छोटी सी रंगीन बूँद बना दी; और वही आँख का प्रारम्भिक रूप बन गई। पर क्या यह रंगीन बिन्दु हमारी आँख बनाने में समर्थ है? क्या चित्र से केमरा (Camera) बन सकता है? क्या तेज से तेज का द्रष्टा बन सकता है? कदापि नहीं। इन सब विचारों से ज्ञात हुआ कि वाह्य कारणों के द्वारा पूर्ण व्याख्या नहीं हो सकती। वास्तविक व्याख्या के लिये आन्तरिक कारणों का अन्वेषण करना चाहिए।

यंत्र सम्बन्धिनी कल्पनाओं से तो हमारा मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ। उनसे तो हम और भी उलझन में पड़ गए। अब देखना चाहिए कि प्रयोजन सम्बन्धिनी (Finalistic) कल्पनाओं से हम को कुछ संतोष होता है या नहीं। प्रयोजन वाद के भी दो भेद हैं। कुछ लोग तो यह मानते हैं कि सारे संसार में एक ही प्रयोजन वर्तमान है और सब कार्य्य उसी के अर्थ होते हैं। संसार में जो कुछ भिन्नता और प्रतिकूलता दिखाई देती है, वह केवल एक दूसरे की कमी पूरी करने के लिये है।

फिर कुछ लोग यह मानते हैं कि एक व्यक्ति के शरीर में एक ही प्रयोजन है; जैसे हमारे शरीर के भिन्न भिन्न प्रकार के अवयव हमारे पूर्ण शरीर की रक्षा के लिये उद्योग करते रहते हैं। यदि हमारे शरीर में किसी तरह की खराबी आ जाय तो वह अपने आप ठीक होने लग जाती है। इस से मालूम होता है कि हमारा शरीर किसी एक आदर्श पर बन रहा है।

बर्गसन साहब प्रयोजन वाद को किसी अंश में मानते हैं। वे कहते हैं कि जहाँ यंत्र सम्बन्धिनी कल्पनाओं से हटे, वहीं प्रयोजन वाद में आ जाना पड़ता है। किन्तु वे प्रयोजनवाद के सोलहो आना माननेवाले नहीं हैं। वे कहते हैं कि यदि सब बातें पहले से ही निश्चित हैं, तो किसी नई बात की गुंजाइश नहीं है। फिर यह भी बात है कि संसार में जितनी एक-प्रयोजनता पाई जाती है, उतनी भिन्न प्रयोजनता भी पाई जाती है। और यह भी समझ में नहीं आता कि शेर खाने के लिये बनाया गया और बकरी ने खाए जाने के अर्थ जन्म ग्रहण किया। ऐसी सुव्यवस्था को नमस्कार है।

यदि हम व्यक्तिगत प्रयोजन की ओर दृष्टि डालें, तो भी बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। पहली कठिनाई तो यही है कि हम व्यक्ति किसे कहेंगे? क्या हमारा व्यक्तित्व हमारे पिता के व्यक्तित्व से भिन्न है? क्या हम उनके शरीर के अंश नहीं हैं? एक हिसाब से हमारे शरीर का एक एक अंग व्यक्तित्व रखता है और उसका प्रयोजन भी हमारे शरीर के प्रयोजन से भिन्न है। उस अंग के प्रत्यंग उसके प्रयोजन के साधन में योग देते रहते हैं। यदि हमारे शरीर में अनेक व्यक्ति-

वर्तमान हैं, तो उनका एक प्रयोजन किस प्रकार हो सकता है? प्रयोजनवाद की पुष्टि में जो युक्ति शरीर के बिगड़े हुए भागों के स्वाभाविक सुधार के आधार पर दी गई थी, वह भी कट जाती है। यदि शरीर में रक्षा की सामग्री विद्यमान है, तो क्या शरीर में क्षति के कारणों का अभाव है? क्या परोपजीवी कीट (Parasites) नहीं होते? अतः प्रयोजन वाद भी कठिनाइयों से ख़ाली नहीं है।

यंत्र-प्रकार-वाद और प्रयोजन वाद दोनों में ही एक से दोष हैं। दोनों के ही अनुसार काल कुछ नहीं रहता। जब तक परिवर्तन में कोई नई बात पैदा न हो, तब तक वह सच्चा परिवर्तन ही नहीं। और जब परिवर्तन ही नहीं, तब काल हा क्या? उस काल से क्या लाभ जो वस्तु पर अपना चिह्न नहीं छोड़ता? इन दोनों ही कल्पनाओं के अनुसार भूत और वर्तमान में कुछ भेद नहीं रहता। एक कल्पना के अनुसार वर्तमान भूत का रूपान्तर है; और दूसरी के हिसाब से वर्तमान भविष्य का रूपान्तर। इस अंश में एक कल्पना दूसरी का ठीक विपर्यय है। दोनों के ही अनुसार कोई नई बात नहीं होती। यंत्र-वाद के हिसाब से सब बातों के पर्याप्त कारण भूत काल में मौजूद हैं; और प्रयोजनवाद के अनुसार सब कारणों की ईश्वर में स्थिति है। कूकी हुई घड़ी की कूक के क्रमशः खुलते रहने को विकास नहीं कहते। जो वस्तु पहले से ही वर्तमान है, उसके दुहराने से ही क्या लाभ?

उपर्युक्त समालोचना केवल अभावात्मक न समझी जाय। पाठकों को इससे यह अवश्य पता चल गया होगा कि बर्गसन

के मत से सच्चे विकास के लिये किन किन बातों की आवश्यकता है। यंत्र सम्बन्धिनी कल्पनाओं पर विचार करते हुए यह दिखाया गया था कि तेज अथवा अन्य प्राकृतिक वाह्य कारणों को विकास का प्रेरक नहीं मान सकते। प्रेरणा भीतर से ही होनी चाहिए। उसी के साथ आकस्मिकता की खराबी दिखाई गई थी। फिर विकास मे किन कारणों को मानना चहिए? ये कारण आन्तरिक प्रेरक के स्वार्थ और आवश्यकताओ पर निर्भर हैं। समालोचना के अन्त में यह भी बताया गया था कि विकास में ऐसे काल के मानने की आवश्यकता है जो पिछले को साथ लिए हुए सदा आगे बढ़ता रहे और वस्तुओं पर अपने चिह्न छोड़ता रहे। इन सब बातों का अभिप्राय यह है कि पिछले के उलट फेर को ही परिवर्तन नहीं कहते, किन्तु सच्चे परिवर्तन या विकास में कुछ नई उत्पत्ति अवश्य होनी चाहिए। यही सृजनात्मक विकास है।

इस नवीन उत्पत्ति का सम्बन्ध भूत से अवश्य होगा; किन्तु उसके होने के पूर्व भूत के आधार पर उसका अनुमान नहीं हो सकता। बर्गसन साहब एक प्रकार की लगातार स्वतः सृष्टि मानते हैं। पर यह न समझना चाहिए कि वे किसी जड़ पदार्थ की स्वतः सृष्टि मानते हैं, जैसा कि आगे देखने से मालूम होगा। उनके मत से स्वतः सृष्टि का विषय जीवन प्रवाह है।

हमारी चेतना के विकास में ऊपर के सब विचार घट जाते हैं। हमारा मानसिक विकास हमारी आत्मा की आन्तरिक प्रेरणा से ही होता है। हमारी चेतना में काल का भी प्रभाव पूरा पूरा

दिखाई पड़ता है। हम कल के विचारों को आज के विचार नहीं कह सकते। उन पर से समय की रेखाएँ मिट नहीं सकतीं। हमारे कल के विचार आज स्मृति रूप में ही लौटेंगे। प्राकृतिक पदार्थों में समय का भेद इतनी स्पष्टता से नहीं दिखाई पड़ता, पर हमारी चेतना में सच्चे परिवर्तन होते रहते हैं। हम जो कल थे, वह आज नहीं; और जो आज हैं सो कल नहीं होंगे। सच्ची स्वतः सृष्टि हमारे मानसिक संसार में ही होती रहती है। हमारे आज के विचारों की व्याख्या कल के विचारों से हो सकती है। कल और आज के विचारों में पूर्वापर सम्बन्ध है; किन्तु कल के विचारों से यह अनुमान नहीं हो सकता था कि हमारे आज के विचार क्या होंगे। इसी को नवीनता कहते हैं।

बर्गसन के मत से सारे संसार का विकास चेतना के विकास की भाँति हो रहा है। अब यह प्रश्न उठता है कि विकास का आधार क्या है? अर्थात् किस चीज़ का विकास हो सकता है? बर्गसन जीवन (Life) को ही संसार में मूल वस्तु मानते हैं। जीवन कोई सांकेतिक (Symbolised) पदार्थ नहीं है। सारा स्थावर जंगमात्मक संसार जीवन का ही प्रसाद है। चेतना भी जीवन का ही रूपान्तर है। जड़ भी जीवन का ही परिणाम है। जड़ तमोगुणात्मक है। जड़ का धर्म गति का अवरोध है। जब कोई जीवन नष्ट हो जाता है, तब उस की गति स्थिरता को प्राप्त हो जाती है। फिर वही गति का अवरोधक बन जाता है। जैसे अग्नि से धूआँ अथवा राख उत्पन्न होकर अग्नि के तेज को रोकनेवाली बन जाते हैं, वैसे ही जीवन से उत्पन्न हुई जड़ सामग्री जीवन की गति को रोकनेवाली बन जाती है।

इसी प्रकार सदा जीवन तरंग उठती रहती है और शान्त हो होकर जड़ सामग्री बनाती रहती है। जैसे बारूद की बनी हुई छछूँदर ऊपर जाते हुए धूआँ भी बनाती जाती है, वैसे ही जीवन तरङ्गें ऊपर जाती हुई तमोगुणी सृष्टि भी उत्पन्न करती रहती हैं। इन तरङ्गों के केन्द्र को ही बर्गसन के मत से ईश्वर समझना चाहिए। कोई इस मत की वेदान्त से समानता न करने लग जाय; क्योंकि बर्गसन के मत से ईश्वर परिवर्तनशील और विकारी है *। बर्गसन अभी जीवित हैं। शायद वे अपना मत बदल दें और पूर्णता को मानने लग जायँ। कुछ भी हो; वे संसार में चेतनता को तो मानते हैं।

बर्गसन के मत से जीवन-प्रवाह संकल्पात्मक है। इसकी वास्तविक अवस्था बुद्धि द्वारा नहीं जानी जा सकती; क्योंकि बुद्धि तो जीवन का एक अंश ही है। हम अपने ज्ञान द्वारा सत्ता की केवल तसवीर ले सकते हैं; और तसवीर और असल में बहुत अन्तर होता है। जीवन की वास्तविक अवस्था को हम प्रतिभा (Intuition) द्वारा जान सकते हैं।

इस बात में बर्गसन साहब का मत वेदान्त से मिलता है। वेदान्ती लोग भी अनुभवात्मक ज्ञान पर जोर देते हैं। वेदान्त के हिसाब से हमारा विशेष ज्ञान केवल सांकेतिक है। हम उसके द्वारा सत्ता का यथार्थ रूप नहीं जान सकते। ज्ञान विद्या (Epistomology) में इनका मत वेदान्त से समानता रखता है। किन्तु सत्ता शास्त्र (Ontology) में वेदान्त और बर्गसन

* God thus defined, has nothing of the already made; it is the unceasing life, action and freedom.

के मत में बड़ा भेद है। वेदान्ती परिवर्तनों को भ्रमात्मक समझते हैं; और बर्गसन के मत में सत्ता का यही वास्तविक स्वरूप है। बर्गसन साहब के जीवन प्रवाह के मुख्य लक्षण निरन्तर संकल्प, निरन्तर क्रिया, निरन्तर उद्योग और निरन्तर उत्पादन हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है कि जड़ीभूत जीवन तरंग नई तरंगों के आगे बढ़ने में रुकावट डालती है, वैसे ही नई तरंगें नवीन उत्पत्ति का उद्योग तो करती रहती हैं, पर उनको इस कार्य्य में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होता। इस रुकावट के कारण इन तरंगों में विभाग हो जाता है; और जिस प्रकार रेत के आ जाने से जल का प्रवाह कई ओर विभक्त हो जाता है, इसी प्रकार जड़ की स्थिति से जीवन प्रवाह भी भिन्न भिन्न दिशाओं में होने लगता है। इस प्रवाह की तीन मुख्य दिशाएँ हैं। एक प्रवाह तो वनस्पति की ओर झुका; दूसरा पशु सृष्टि की ओर गया और तीसरे का अन्त मनुष्यों में हो गया। ऐसे और भी प्रवाहों का होना या भविष्यत् मे हो जाना संभव है। इन तीनों सृष्टियों के भिन्न भिन्न गुण हैं। वनस्पतियों में केवल बढ़ना और शक्ति का संग्रह करना है। उनमें गति नहीं है; इसी से उनमें चेतना (Conciousness) भी नही है; क्योंकि बर्गसन के मत से चेतनता का धर्म केवल गति का क्रम निश्चित करना है।

वनस्पति संसार में जीवन प्रवाह जड़ के वश में रहता है। पहले जीवन प्रवाह जड़ के साथ ही रहकर काम करना चाहता है; फिर उससे ऊँचा उठ जाता है और जड़ को भी अपने गुण दे देता है। जब तक वह जड़ के वश रहता है, तब तक स्वतंत्रता का अभाव रहता है। जैसे जैसे जीवन प्रवाह जड़ पर अपना आधि-

पत्य जमाता जाता है, वैसे ही वैसे स्वतंत्रता भी प्राप्त करता जाता है। बर्गसन कहते हैं कि व्याख्यानदाता लोग पहले तो अपने भाव श्रोताओं के भावों में मिला देते हैं; फिर श्रोताओं को वक्तृता द्वारा अपने वश मे करके उनके भावों को अपने में मिला लेते हैं। इसी प्रकार पहले तो जीवन प्रवाह जड़ के वश में हो जाता है; और अन्त में विजय प्राप्त कर जड़ को अपने वश में कर उसको अपने गुण दे देता है।

पहली अवस्था में केवल शक्ति का संग्रह होता है। वनस्पतियों में चारों ओर से शक्ति संग्रह करने की ताक़त है; पर अचल होने के कारण वह शक्ति खर्च नहीं करती। वनस्पति-संसार शक्ति को केवल इकट्ठा ही नहीं करता, वरन् उसको अपने में जमा भी रखता है। पशु और मनुष्य वनस्पतियों द्वारा इकट्ठी की हुई शक्ति पर निर्भर रहते हैं। वनस्पतियों को ऐसी रसायन विद्या मालूम है कि जिसके द्वारा वे निर्जीव पदार्थों मे से जीवन सामग्री बना सकती हैं। समस्त चर जगत को अपनी खूराक के लिये वनस्पतियों पर निर्भर रहना पड़ता है। पशु और मनुष्य शक्ति का व्यय करना जानते हैं; किन्तु पशुओ और मनुष्यों के शक्ति-व्यय के प्रकार में भेद है। पशुओं में एक प्रकार की सहज क्रिया शक्ति (Instinct) होती है। उसके द्वारा बिना विचार के ही वे अपनी शक्ति का उचित व्यवहार कर लेते हैं। उनके लिये केवल एक ही रास्ता है और वे उस पर बिना संकोच के चले जाते हैं। इसी कारण पशुओं का नाड़ी-संस्थान (Nervous system) मनुष्यों का सा पेचीदा नहीं होता। मनुष्य के लिये बहुत से रास्ते हैं। उसको यह सोचना पड़ता है कि किस रास्ते से चलूँ और

किस प्रकार अपनी शक्ति खर्च करूँ। यहीं पर बुद्धि का काम आ जाता है। ये जीवन प्रवाह की तीनों पृथक् पृथक् दिशाएँ हैं। ये प्रवृत्तियाँ एक दूसरी के फल-रूप नहीं हैं। पुराने लोगों की यह भूल थी कि वे इन प्रवृत्तियों में कार्य्य कारण सम्बन्ध मानते थे। ये प्रवृत्तियाँ कभी कभी एक दूसरी के अन्तर्गत तो हो जाती हैं, किन्तु एक दूसरी का परिणाम नहीं हैं। जीवन प्रवाह में ये सब प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं; पर रुकावट मिलने के कारण ये इन्द्रधनुष के रंगों की भाँति अलग अलग हो जाती हैं। जैसे बालक में भी प्रवृत्तियाँ होती हैं, लेकिन कोई बालक किसी ओर झुक जाता है और कोई किसी ओर, वैसे ही कोई जीवन तरङ्ग वनस्पति संसार में ही खतम हो जाती है, कोई मनुष्य तक पहुँच जाती है; और संभव है कि कोई और भी आगे चली जाय।

बर्गसन के मत से यह सिद्ध होता है कि जीवन का मुख्य उद्देश्य क्रिया और उद्योग है। अतः हम सब लोगों को स्वतंत्रता-पूर्वक जीवन का लक्ष्य पूरा करने का यत्न करना चाहिए।

तीसरा अध्याय

नवीन वस्तुवाद

(New Realism)

कुछ काल से इंगलिस्तान और अमेरिका में प्रत्यय वाद के विरुद्ध एक प्रवाह चला है। उसके नेताओं में से बर्ट्रेंड रसैल (Bertrand Russeel), जी. ई. मूर (G. E. Moore), और एस. एलेकजैन्डर (S. Alexander) इङ्गलैण्ड निवासी हैं; और बाकी छ. ई. बी. होल्ट (E. B. Holt), डबल्यू. टी. मार्विन (W. T. Marvin), डब्ल्यू. पी. मोन्टेग्यू (W. P. Montague), आर. बी. पेरी (R. B. Perry), डब्ल्यू. बी. पिटकिन (W. B. Pitkin) और ई. जी. स्पौलडिङ्ग (E. G. Spaulding) अमेरिका के हैं। इन छओं ने सम्मिलित होकर नवीन वस्तुवाद पर दो ग्रंथ * भी लिखे हैं। ये लोग विज्ञान (Science) को दर्शन शास्त्र (Philosophy) से अलग करना बुरा समझते हैं। रीड आदि पुराने वस्तुवादी लोगों ने विज्ञान का तिरस्कार कर अपने मत को साधारण लोगों के मत से मिलाया था। नवीन आचार्य्यों ने अपने मत को विज्ञान के अनुकूल बनाना चाहा है। ये लोग बर्गसन या विलियम जेम्स की

---

* New Realism और The Programme and First Platform of Six Realists.

भाँति बुद्धि ज्ञान का तिरस्कार नहीं करते, वरन् उसको प्रधानता देते हैं। ये प्रत्यय वादियों से इस बात में सहमत नहीं हैं कि सम्बन्ध हमारी बुद्धि का फल है। सम्बन्धों को भी ये लोग उतना ही वास्तविक मानते हैं जितना कि वस्तुओं को। वास्तविक सत्ता में सीधापन या गोलाई एक खास सम्बन्ध है; और जिस प्रकार हमको मेज या कुर्सी का अनुभव होता है, उसी प्रकार हम को गोलाई, लम्बाई, छोटाई आदि का भी अनुभव होता है।

यह बात विलियम जेम्स ने भी मानी है। उन्होंने अगर-पन (Ifness) तक का पृथक् अनुभव माना है। इस बात का दिग्दर्शन प्रत्यय वादियों में ग्रीन साहब के दर्शन में हुआ है। न्याय और वैशेषिकवालों ने भी दिक् काल को स्वतंत्र पदार्थ माना है। अब इस मत का विशेष वर्णन बर्ट्रेण्ड रसैल के लेखों से दिया जाता है।

बर्ट्रेण्ड रसैल (Bertrand Russeel)—आज कल के लेखकों में ये अच्छे लेखक गिने जाते हैं। दार्शनिक ग्रंथों के अतिरिक्त इन्होंने कई राजनीतिक ग्रंथ भी लिखे हैं। ये शान्ति वादी हैं। गत युरोपीय युद्ध से इन महाशय ने अपना मतभेद अच्छी तरह प्रकट किया था। ये व्यक्तिगत स्वतंत्रता के पक्षपाती हैं। इनके मुख्य दार्शनिक ग्रंथ ये हैं—

Philosophical Essays, Our Knowledge of the External world, Problems of Philosophy" और Mysticism and Logic.

इन्होंने अपनी ज्ञान सम्बन्धी कल्पनाओं में गणित शास्त्र के सिद्धान्तों का बहुत कुछ समावेश किया है। ये तर्क-शास्त्र को

बहुत ऊँचा स्थान देते हुए दर्शन शास्त्र और विज्ञान की एक ही पद्धति निश्चित करते हैं। इनका कथन है कि जिस प्रकार विज्ञान में हमारी इच्छाओं, अभिलाषाओं और रुचि को स्थान नहीं, उसी प्रकार दर्शन शास्त्र में भी ये वास्तविक सत्ता की निर्णायक नहीं हो सकतीं। इस बात में इनका विलियम जेम्स (William James) से पूरा विरोध है। इनका कहना है कि कभी कभी झूठी बात भी कार्य्य साधन में सफल हो जाती है; किन्तु वह सत्य नहीं हो सकती।

उदाहरण लीजिए। अगर कोई हारती हुई फौज से कह दे कि डटे रहो, पीछे से मदद के लिये और फौज आ रही है; और इस विश्वास से हारती हुई फौज जीत जाय। इस विश्वास से सफलता अवश्य हुई, लेकिन सफलता के कारण झूठ बात सच नहीं होगी। इसी प्रकार ये प्रतिभा स्फूर्ति आदि की अपेक्षा बुद्धि को ही ऊँचा स्थान देते हैं। इन्होंने अपने Logic and Mysticism नामक ग्रंथ में बर्गसन साहब से मत भेद प्रकट करते हुए कहा है कि यद्यपि स्फूर्ति द्वारा हमको कोई नई बात सूझ जाय (स्फूर्ति का काम दर्शन और विज्ञान दोनों में पड़ता है) लेकिन केवल इस कारण कि उसका ज्ञान स्फूर्ति या किसी प्रकार की समाधि द्वारा हुआ है, वह बात ठीक नहीं हो सकती। ये इतना जरूर मानते हैं कि जो बात बुद्धि द्वारा नहीं जानी जाती या देर में जानी जाती है, वह प्रायः स्फूर्ति द्वारा प्रकट हो जाती है। लेकिन इसके साथ इनका यह भी कहना है कि उसकी जाँच बुद्धि की ही कसौटी पर हो सकती है। ये अनुभव वादी हैं, किन्तु कुछ बातों का ज्ञान अनुभव-पूर्व मानते हैं।

यह ज्ञान प्रायः सामान्य (Universal) सम्बन्धी होता है। ये सामान्यों एवं सम्बन्धों की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं। यह घर उस घर के उत्तर तरफ है अथवा यह दीवार उस दीवार से ऊँची है, इत्यादि ज्ञान में उत्तर की तरफ होने या ऊँचा होने का ज्ञान हमारे ऊपर निर्भर नहीं है। यह सम्बन्ध वास्तविक है। हम हों या न हों, यह सम्बन्ध बना रहेगा। जब ये दोनों मकान हमारे मन से स्वतंत्र हैं, तो इनका सम्बन्ध भी हमारे मन से स्वतंत्र है। जिस प्रकार इन्होंने सम्बन्धों को स्वतंत्र माना है, उसी प्रकार सामान्यों को भा स्वतंत्र माना है। सफेदी, लाली वगैरह की इन्होंने स्वतंत्र स्थिति मानी है।

इन महानुभाव का यह कहना है कि यदि सफेदी, लाली आदि गुणों की मन में स्थिति होती, तो किसी व्यक्ति के ही मन में होती; और व्यक्ति के मन में होने के कारण उनकी सामान्यता जाती रहती। जब कि इस से छोटा, उससे बड़ा, इसके उत्तर में, उसके पूर्व में आदि सामान्य मन से स्वतंत्र हैं, तो लाली और सफेदी तो और भी ज्यादा स्वतंत्र हैं। इनकी सत्ता किसी देश विशेष या काल विशेष में नहीं है।

इनका बतलाया हुआ सत्य का भी आदर्श सम्बन्धों की स्वतंत्रता पर निर्भर है। इनके मत से सत्य वास्तविक सम्बन्धों के क्रम का अनुकरण करता है; अर्थात् जैसे सम्बन्धों का क्रम वास्तविक सत्ता में है, उस क्रम के अनुकूल जो ज्ञान हो, वही सत्य हैं। दवात मेज पर है; इसमें दवात और मेज दो पदार्थ हैं। ऊपर होना एक सम्बन्ध है। इसमें वास्तविक सम्बन्ध का यह क्रम है कि दवात का सम्बन्ध मेज से ऊपर का है। यह सम्बन्ध का

क्रम उलटा नहीं जा सकता। अगर कोई इस सम्बन्ध को उलट कर कोई वाक्य कहे, तो वह झूठा होगा।

इतना जानने के बाद शायद अब इनके वस्तु-वाद सम्बन्धी विचारों को समझने में आसानी होगी। वे इस प्रकार हैं—

यद्यपि भिन्न भिन्न पुरुषों को एक ही वस्तु व्यक्तिगत रुचि, अवस्था, स्थिति, दृष्टिकोण आदि के भेद से एक सी नहीं दिखाई देती, तथापि यह सिद्ध नहीं होता कि यह दृश्य केवल व्यक्ति के मन पर निर्भर है *। इनका आधार हमारे संवेदनों अर्थात् इन दृश्यों से भिन्न है। भेद के जो कारण हैं, वे हमारे मन में नहीं हैं (काण्ट ने इनको हमारे मन में ही माना है); वे भौतिक संसार से सम्बन्ध रखते हैं।

हमको संवेदन (Sensation) और संवेदन का आधार (Sense Data) में भेद करना चाहिए। संवेदन हमारे मन में हैं, किन्तु उनका आधार हमारे मन से स्वतंत्र है।

प्रत्ययवादी बर्कले भी हमारे संवेदनों का आधार मानते हैं। उनका कहना यह है कि यह आधार मन से बाहर नहीं हो सकता और सब प्रत्ययों का आधार रूप वह मन ईश्वर का है। ईश्वर के मन के प्रत्यय हम को दिखाई पड़ते हैं। वास्तविक

---

* शीतलता रसवास की, घटै न महिमा मूर।
पीनसवारे ज्यों तजैं, सोरा जानि कपूर॥
—बिहारी।

नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्य्यस्य किं दूषणं।
—भर्तृहरि।

सत्ता को प्रत्यय वादी भी मानते हैं; किन्तु उनका कहना यह है कि यद्यपि वह हमारे या व्यक्तियों के 'मन' से स्वतंत्र हो, किन्तु किसी (अर्थात् ईश्वर के) मन के अधीन है, उससे बाहर नहीं। बर्ट्रेण्ड रसैल साहब प्रत्यय वादियों की स्वीकृति के अतिरिक्त वास्तविक सत्ता (जिसको वे बाहरी मानते हैं) की स्थिति के प्रमाण देते हैं। यदि हम किसी मेज़ को कपड़े से बिलकुल ढक दें, तो मेज़ नहीं दिखाई देगी, कपड़ा ही दिखाई देगा। किन्तु कपड़े के भीतर की मेज–यद्यपि वह हमारी दृष्टि में नहीं आती–अवश्य हमारे मन से स्वतंत्र स्थिति रखती है; क्योंकि कपड़ा बिना आधार के अन्तरिक्ष में तो ठहर ही नहीं सकता।

दूसरा उदाहरण लीजिए। मैं एक मेज़ खरीदता हूँ। मैं बेचनेवाले के सवेदन को तो नहीं खरीदता। मैं उस संवेदन के आधार को खरीदता हूँ जिससे मुझको तथा अन्य सब लोगों को उसका संवेदन होता है। एक ही मेज़ पर जो आदमी बैठते है, वे सब जानते हैं कि हम सब मेज़ पर बैठे हैं। उन सब लोगों के संवेदनों का कोई एक आधार होना चाहिए। बर्कले ने उस आधार को ईश्वर के मन में माना है।

वस्तु वादी लोग इस आधार को मन से स्वतंत्र मानते हैं। यद्यपि इस बात की सम्भावना है कि और लोग जो मेज़ की सत्ता की गवाही देते हैं, मेरी ही कल्पना का फल हों (जैसा कि स्वप्न में होता है) तथापि हमको और लोगों की गवाही का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। ऊपर की बातों से यह सिद्ध हुआ कि हमारे निजी मन की मेज के अतिरिक्त कोई सार्वजनिक मेज़ भी है जिससे प्रत्येक व्यक्ति के मन की मेज बनती है। अब

प्रश्न यह है कि वह वास्तविक मेज़ हमारे मन से स्वतंत्र है या प्रत्यय वादियों के कथन के अनुसार 'मन' में है। बर्ट्रेंड रसेल ने "मन में होने" शब्द पर आपत्ति की है। उनका कहना है कि वृक्ष मन में नहीं है। वृक्ष का विचार मन में है, न कि वृक्ष। इनके मत से यही प्रत्यय वादियों की भूल है। प्रत्यय वादी इसके उत्तर में यह कहेंगे कि जब हम वृक्ष देखते हैं, तब हमको दो चीजें नहीं दिखाई देतीं (एक वृक्ष और दूसरा उसका विचार)। अस्तु; यह बात बतला कर कि बाहरी पदार्थ हमारे मन से बाहर हैं, वे इस बात का निर्णय करने को प्रस्तुत होते हैं कि इस बाहरी पदार्थ की वास्तविक अवस्था क्या है।

रसेल साहब का कहना है कि यद्यपि मेरा और अन्य किसी पुरुष का लाल का विचार एक सा नहीं है (और न इसका निश्चय करने का कोई साधन ही है) तथापि जिसको मैं लाल कहता हूँ, उसको दूसरा भी लाल कहता है; और जिसको मैं हरा कहता हूँ, उसको दूसरा भी हरा कहता है। इससे मालूम होता है कि व्यक्तिगत भेदों के होते हुए भी कोई स्वतंत्र ललाई और हरापन है। किन्तु यह जानना कठिन है कि उस स्वतंत्र ललाई और हरेपन का वास्तविक रंग क्या है।

बर्ट्रेन्ड रसेल साहब एक यह कल्पना करते हैं कि वास्तविक हरा या लाल रंग व्यक्तियों के हरे या लाल रंग के बीच का रंग होगा। इसको वे स्वाभाविक मानते हैं; किन्तु इसकी सिद्धि कठिन मानते हैं, जैसा कि इनके लेख से प्रकट होता है।

पदार्थ (Thing) सब दृश्यों का समूह रूप है। यदि इनसे पूछा जाय कि एक ही पदार्थ में भिन्न भिन्न दृश्यों का समावेश

किस प्रकार हो सकता है, तो इसके उत्तर में उन्होंने कहा है कि कोई दो मनुष्य एक ही चीज को एक साथ तो देख नहीं सकते; और फिर हर एक मनुष्य का अलग अलग देश (Space) है। यद्यपि वे वस्तु का सार्वजनिक देश मानते हैं, तथापि इन व्यक्तियों के देशों के भेद से वस्तु में भी भेद हो जाता है। वस्तु में यदि स्थिरता (Permanance) मानी जाय तो इस मत के मानने में कठिनाई मालूम पड़ती है; लेकिन वस्तुओं की मानी हुई स्थिरता को व्यावहारिक मानते हैं, वास्तविक नहीं। यदि कोई पूछे कि इन दृश्यों के तारतम्य के भीतर कोई द्रव्य है, तो उसके लिये इनकार करते हैं। पदार्थ के दृश्य प्राकृतिक नियमों की कार्य्य कारण श्रृंखला में बँधे हुए हैं। नियमों द्वारा कार्य्य कारण श्रृंखला में पीछे हटने से हमको वस्तु का प्रारम्भिक स्वरूप मालूम हो सकता है। इस प्रारम्भिक स्वरूप को वे वस्तु का मैटर कहते हैं। यही मैटर एक प्रकार से स्थिर है और इसी में पदार्थ के भिन्न भिन्न दृश्यों की एकता का मूल है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार प्राकृतिक कारणों के बीच में आ जाने से एक वस्तु के पृथक् पृथक् दृश्य दिखाई पड़ते हैं। ये दृश्य कुछ विशेष रीति से प्राकृतिक नियमों का पालन करते हैं; अर्थात् एक रीति से ये चलते हैं और दृश्य नहीं चलते; इसी लिये हम इनको एक पदार्थ के दृश्य कहते हैं। जो लोग अङ्गरेजी जानते हैं, उन पर बर्ट्रेन्ड रसेल के नीचे के वाक्यों से उनका अभिप्राय भली भाँति प्रकट हो जायगा।

"Now Physics has found it emperically possible to collect Sense data into series being regarded as

belonging to one thing and behaving, with regard to the laws of nature of Physics, in a way in which series not belonging to one thing would not generally behave. If it is to be an ambigous whether two appearances belong to the same thing or not, there must be only one way of grouping appearances so that the resulting things obey the laws of Physics. It would be very different to prove that this is the case; but for our present purpose we may let this point pass and assume that there is only one way. Thus we may lay down the following defination. Physical things are those series of appearances whose matter obeys the laws of Physics."

आज कल के अन्य दार्शनिकों की भाँति बर्ट्रेंड रसैल ने भी मनुष्य की प्रधानता पर जोर दिया है। मनुष्य की स्वतंत्रता के विषय में उनका विचार है कि मनुष्य कार्य्य कारण की शृंखला में बँधा हुआ होने पर भी स्वतंत्र हो सकता है। उनका यह कहना है कि यह कोई असम्भव बात नहीं है कि मनुष्य अपनी स्वतंत्रता से वही काम करे जो कार्य्य कारण की शृंखला में बँधकर करे। यह विचार उन लोगों के विचार से मिलता है जो मनुष्य के कार्यों को ईश्वर के अधीन मानते हुए मनुष्य को स्वतंत्र मानते हैं।

रसैल साहब ने स्वतंत्र मनुष्य की पूजा (Freeman's worship) नामक लेख में दिखलाया है कि यद्यपि मनुष्य जड़ और असहृदय प्रकृति के बीच में पड़ा हुआ असहाय होकर नाना प्रकार

के कष्ट उठाता है, किन्तु वह अपने ज्ञान में सब से ऊँचा चढ़ जाता है और दुःख सहते हुए भी विजयी होता है। पहले जमाने मे लोग शक्ति (Power) की उपासना करते थे; क्योंकि उनको अपनी शक्ति और भलाई का स्पष्ट विचार न था। अब शक्ति के बदले मनुष्य अपने आदर्श की उपासना करते हैं। यह स्वतन्त्र मनुष्य के लिये उचित उपासना है। इस आदर्श की उपासना में मनुष्य प्रकृति से स्वतंत्र हो जाता है। हम अपने कामों में प्रकृति से बँधे हों, किन्तु अपने विचार में स्वतंत्र हैं। अपने विचार में हम मृत्यु को भी जीत सकते हैं। असहृदय विश्व की शक्ति का तिरस्कार करना, उसकी सख्तियों को सहना और उसकी बुराई की ओर ध्यान रखना हमारा धर्म है; किन्तु उसके साथ हम को यह नहीं करना चाहिए कि हम संसार के विरुद्ध अपने सात्विक क्रोध या अपनी इच्छाओं को स्थान दें। हमारी स्वतंत्रता इच्छाओं के त्याग और विचार को प्रधानता देने में है। जो अपनी इच्छाओं को नहीं दबा सकता, वह सच्चा स्वतंत्र नहीं है। वही विचार हम को ऊँचा ले जाता है जिसके पीछे इच्छाओं का बोझ न बँधा हो। हमको प्रतिकूल स्थितियों में भी आनन्द देखना चाहिए। संसार की आशाओं और इच्छाओं के संन्यास मे ही हमारा महत्व है। हमको दुःख सहते हुए भी अपने आदर्श, अपने मन के देवता की उपासना करते रहना चाहिए। यदि इस मत में निरेश्वरवाद की झलक न होती, तो यह मत भारतवासियों के बहुत अनुकूल होता। इसमें मनुष्य की मुख्यता पूरे तौर से दिखाई गई है; और मनुष्य के अधिकार की नहीं, वरन् इच्छा-रहित विचार से मनुष्य को जो स्वतंत्रता प्राप्त होती, उसकी महत्ता प्रकट की गई है।

एस. एलेक्जेन्डर (S. Alexandar)—ये भी इंगलिस्तान के वस्तुवादी दार्शनिक हैं। हाल में इन की एक पुस्तक निकली है। उसका नाम है देश, काल और ईश्वर (Space, Time and Diety)। इन्होंने सब का मूल देश विशिष्ट काल माना है। यद्यपि इन्होंने बर्गसन की भाँति काल को प्रधान माना है, पर काल से देश की उत्पत्ति नहीं मानी है। काल के बिना देश नहीं हो सकता, देश के बिना काल नहीं हो सकता। जो कुछ है, वह देश काल से ही है।

इस दिक्कालात्मिका सत्ता का गति के अतिरिक्त और कोई गुण नहीं है। गति-सम्पन्न दिक्काल के शब्दों में ही एलेक्जेन्डर साहब ने सब द्रव्य कार्य्य कारणादि संज्ञाओं की व्याख्या की है। सत्ता विशिष्ट दिक्काल की स्थिति को कहते हैं। द्रव्य देश का वह भाग है जिसमे आनुपूर्वी का क्रम चल रहा हो। वस्तु या पदार्थ एक सर्वव्यापी गति संस्थान के बीच के छोटे छोटे गति के संस्थान हैं। इन्हीं छोटे छोटे संस्थानों के पारस्परिक सम्बन्ध को सम्बन्ध कहते हैं। कार्य्य कारणता गति के दो भेदों को एक सिलसिले में रखना है; अर्थात् एक गति के भेद का दूसरे गति-भेद में परिणत हो जाना है। इसी प्रकार सामान्यों या सामान्या बोधों (Universals) की भी गति के शब्दों में व्याख्या की जा सकती है। प्रत्येक गति भेद में एक प्रकार का व्यापक गुण लगा हुआ है; वही उसके संचालन का नियम है। यह व्यापक गुण देश काल से परे है। देश काल से परे होने का यह अर्थ नहीं है कि इनका देश काल से कुछ सम्बन्ध ही नहीं। यदि ऐसा होता तो इनकी सत्ता में ही सन्देह होने लगता। इनका सम्बन्ध किसी

विशेष देश काल से नहीं है; बस यही इनकी व्यापकता है ❀।

मन जो कि जानने के कार्यों का समूह रूप है, न तो हमारे स्नायु संस्थान से तादात्म्य रखता है और न कोई ऐसा पदार्थ है जो कहीं बाहर से प्राप्त हो गया है; वरन् वह स्नायु संस्थान में से एक नए गुण का विकास है। और सब पदार्थों में भी गुण उन पदार्थों के मन या आत्मा माने गए हैं। इसी प्रकार मन भी स्नायु से संस्थान का एक गुण होने के कारण उसकी आत्मा है। एलेक्-जेन्डर साहब भी गुणों में मुख्य और गौण का भेद मानते हैं। गुणों में एक प्रकार की परम्परा लगी हुई है। नीचे में ऊपर का आधार है और ऊपर से नीचे की व्याख्या होती है। ऊपरवाले नीचे के सार या आत्मा हैं। गति का सार भौतिकता है। भौतिकता का सार या आत्मा रंग रूप है। शरीर का सार मन है। इसी प्रकार मन या आत्माओं के सार देवता हैं। एलेकजेन्डर साहब देवताओं की अनेकता मानते हैं। ये देवता संसार के फल पुष्प कहे जा सकते हैं, किन्तु ये आदि कारण नहीं माने जा सकते।

यह मत एक दृष्टि से तो भूतवाद में जाता है और दूसरी दृष्टि से सर्वचेतनवाद (Pan-Psychism) की ओर जाता

❀ यह सब वर्णन एक प्रकार से कारण का स्मरण कराता है। कांट ने भी काल और देश को हमारे अनुभव के भीतरी और बाहरी द्वार माना है। एलेक्जेन्डर ने देश काल को अनुभव का आधार माना है। देश काल के शब्दों में संज्ञाओं की व्याख्या करना भी एक प्रकार से काण्ट का अनुकरण है। काल को एलेक्जेन्डर साहब देश की आत्मा मानते हैं। इस बात में भी एलेकजेन्डर साहब का काण्ट से मत-साम्य है।

है। गुण जब पदार्थ की आत्मा है, तब सभी पदार्थ किसी न किसी अंश में सजीव हुए। इस दृष्टि से वस्तु का ज्ञान दो चेतन पदार्थों की सहस्थिति हो जाती है। इन दो पदार्थों में एक अधिक चेतनावाला पदार्थ कम चेतनावाले पदार्थ को अवगत करता है। इस प्रकार वस्तु की स्वतन्त्रता रखते हुए एलेक्जेन्डर साहब ने द्वैत वाद की कठिनाइयों से बचने का प्रयत्न किया है।

अमेरिका का नवीन वस्तुवाद

पीरी और होल्ट

अमेरिकावाले वस्तुवादी पण्डित बर्ट्रेन्ड रसैल के तार्किक सिद्धान्तों से बहुत कुछ प्रभावित हुए हैं। वे इंगलिस्तान के वस्तु-वादियों से बहुत सी बातों में सहमत हैं; किन्तु उन्होंने ज्ञान को हमारे शरीर के व्यवहार का एक प्रकार माना है। इन लोगों के मत से ज्ञात मन में रहनेवाली कोई चीज नहीं है। ज्ञान की व्यवहारात्मक व्याख्या पीरी साहब के लेखों में स्पष्टता के साथ पाई जाती है। हमारा शरीर और बाहरी संसार एक ही संस्थान के भाग हैं। हमारा शरीर इस बाहरी संसार के कुछ भागों की क्रिया के उत्तर में प्रतिक्रिया करता है। यही प्रतिक्रिया उन भागों या पदार्थों को हमारे ज्ञान में ले आती है। बाहरी पदार्थों के प्रति शरीर की प्रतिक्रिया ही उनका ज्ञान है।

होल्ट साहब ने सत्ता को तार्किक सिद्धान्तों में घटाने का यत्न किया है। वस्तु के व्यावर्तक गुण को ही वस्तु बनाने की कोशिश की है। अन्य वस्तुवादियों ने सामान्य बोधों को वास्त-

विक सत्ता देने का यत्न किया है। होल्ट साहब इन सामान्य बोधों को ही वस्तु का स्थान देना चाहते हैं।

परीक्षात्मक वस्तुवाद

(Critical Realism)

जिस प्रकार नवीन वस्तुवाद पर छः लेखकों के निबन्ध निकले हैं, उसी प्रकार परीक्षात्मक वस्तुवाद पर भी सात लेखकों के निबन्ध Essays in Critical Realism के नाम से छपे हैं। इन सात लेखकों के नाम इस प्रकार हैं—डुरेन्ट ड्रेक (Durant Drake), आर्थर ओ लव जॉय (Arthur O Love Joy) जेम्स. बी. प्रेट (James B. Pratt), आर्थर के रोजर्स (Arthur K. Rogers), जार्ज सान्टायन (George Santayana), रॉयवुड सेलर्स (Roywood Sellers) और जी. ए. स्ट्रांग (G. A. Strong)। साधारण वस्तुवाद से प्रतिकूलता दिखलाते हुए इन लेखकों ने अपने सिद्धान्त का नाम परीक्षात्मक वस्तुवाद रक्खा है। इस प्रकार के वस्तुवाद में जानने की क्रिया एवं उसकी परिस्थितियों की आलोचना द्वारा ज्ञान की परीक्षा कर उसका उचित मूल्य निर्धारित किया जाता है। यद्यपि इन सातों लेखकों ने अपने लेखों को एक ही संग्रह में छपाया है, तथापि ये सब बातों में एक दूसरे से सहमत नहीं हैं। यह मत-भेद आगे बतलाया जायगा।

ड्रेक—नवीन वस्तु वादियों (विशेषकर बर्ट्रेन्ड रसैल) के मत से हमारे संवेदन वस्तु के दृश्य (aspects) हैं। इस मत

का ड्रूक महाशय ने विरोध किया है। बर्ट्रेन्ड रसैल प्रभृति दार्शनिकों के मत से संवेदन वस्तु की प्रतिलिपि नहीं, वरन् साक्षात् वस्तु ही है। वस्तु के भिन्न भिन्न गुण और दृश्य ही हमारे संवेदन होते हैं। इस मत में ड्रेक साहब ने यह आपत्ति उठाई है कि हमारे संवेदन हमारी अवस्था, शक्ति और मानसिक परिस्थिति पर निर्भर हैं; और ये सब संवेदन वस्तु में रहते हुए नहीं कहे जा सकते; अर्थात् दृश्यों में का भेद वस्तु की परिस्थिति पर निर्भर है, न कि वस्तु पर। हमारे सुख, दुःख, आशा, निराशा आदि के कारण वस्तु के देखने में बहुत कुछ भेद मालूम होते हैं। ये सब भेद वस्तु के मत्थे नहीं मढ़े जा सकते। इसी बात को ये दूसरी रीति से भी बतलाते हैं। भिन्न परिस्थितियों में भिन्न व्यक्तियों के भिन्न संवेदनों को एक ही वस्तु मे स्थान देने में दो पदार्थों की एक ही देश काल में सहस्थिति माननी पड़ेगी; किन्तु यह बात असम्भव है। इस विरोध और असंभावना से बचने के लिये वस्तु के सार का सहारा लिया गया है। "सार" (Essence) का सिद्धान्त इस प्रकार के वस्तुवाद का मूल आधार है। ड्रेक साहब के मत से किसी वस्तु के प्रत्यक्ष में तीन बातें होती हैं—वस्तु, उसका सार और उसका मानसिक ज्ञान। यह सार हमेशा एक सा रहता है; किन्तु उसका मानसिक परिज्ञान भिन्न भिन्न व्यक्तियों के लिये पृथक् है। मानसिक ज्ञान व्यक्तिगत है और 'सार' सब के लिये एक सा है। हमारे सामने वस्तु नहीं रहती, वरन् उसका सार रहता है। यही संवेदन का मूल आधार है। जब इसी सार के साथ स्थिति या सत्ता का ज्ञान लगा होता है, तब वही वस्तु कहलाता है। इसी सार के सम्बन्ध मे मत भेद है। ड्रेक, रोजर्स, सान्टायन और

स्ट्रांग तो एक ओर हैं और लवजॉय, प्रैट तथा सेलर दूसरी ओर। ड्रेक प्रभृति महाशयों का कहना है कि संसार मानसिक अवस्था से भिन्न है। वह एक दिया हुआ पदार्थ है जिसको मन ग्रहण करता है। यह स्थिति वास्तविक और मानसिक के बीच की है। लवजॉय प्रभृति महाशयों के मत से यह सार तत्कालिक मानसिक अवस्था ही का रूप है। इन लोगों के मत से यह सार मानसिक अवस्था एवं वस्तु दोनों का ही रूप है। बहुमत में यह सार वस्तु से सम्बन्ध रखता है तथा लवजॉय प्रभृति के मतानुसार मन से इसका विशेष सम्बन्ध है। लवजॉय ने ड्यूई के व्यवहार वाद के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया है कि वस्तु तथा उसका ज्ञान व्यवहित (Mediate) है अथवा अव्यवहित (Immediate) है ? इसके सम्बन्ध में उन्होंने यह बतलाया है कि द्वैतवाद से बचने के लिये ड्यूई साहब प्रत्यक्ष ज्ञान में तो इस सम्बन्ध को अव्यवहित मानेंगे; किन्तु भूत और भविष्य के ज्ञान में (जब कि वस्तु परोक्ष होती है), इस सम्बन्ध को उन्हें व्यवहित मानना पड़ेगा। लवजॉय साहब प्रत्यक्ष में भी इस ज्ञान को व्यवहित मानते हैं।

प्रैट महाशय ने अपने निबन्ध में यह बतलाया है कि प्रत्येक प्रत्यक्ष में तीन बातें होती हैं—(१) वस्तु, (२) वस्तु का मानसिक चित्र और (३) उसका अर्थ। इनका कहना है कि अन्तिम दोनों का सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ है, यहाँ तक कि उनको अलग करना कठिन है। साधारणतया वस्तु के अर्थ में सब संवेदनात्मक चित्र वर्तमान होते हैं। अर्थ और संवेदन चित्र दोनों को मिलाकर इन्होंने एक गुण समूह माना है। यही वस्तु का

वाहन अर्थात् ज्ञान करानेवाला है। रोजर्स साहब ने अपने निबन्ध में "भूल" की व्याख्या की है। उन्होंने नवीन वस्तुवादियों के मत पर यह आपत्ति उठाई है कि इन लोगों के मत से (क्योंकि ये वस्तु और उसके ज्ञान में कोई अंतर नहीं मानते) भूल की व्याख्या नही हो सकती। जब हमारे प्रत्यक्ष मे वस्तु ही मौजूद रहती है, तब भूल कहाँ से आई? वस्तु में जो गुण नहीं है, उसको बतलाना भूल है।

सान्टायन साहब ने अपने निबन्ध में वस्तुवाद को तीन प्रकार से सिद्ध किया है। पहली सिद्धि जीवन शास्त्र से सम्बन्ध रखती है। वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया करनेवाला शरीर अपने लिये तथा अन्य लोगों के लिये वस्तु का अपने से भेद करता है। क्रिया और प्रतिक्रिया दो पृथक् पदार्थों में ही हो सकती हैं। दूसरी युक्ति मनो-विज्ञान से सम्बन्ध रखती है। यदि वे लोग, जो विषय को न मानकर केवल विषयी को मानते हैं, अपने मत पर दृढ़ रहें, तो उनको आत्महत्या कर लेनी चाहिए। उनके मत से न तो संसार में और कोई मनुष्य ही रहेगा और न कोई पदार्थ। तीसरी युक्ति तार्किक है। इसके द्वारा 'सार' (जो विचार में आता है और जो कभी बदलता नही) और वस्तु (जो ज्ञान से सम्बन्ध नहीं रखती और जो शक्तिमती तथा परिवर्त्तनशीला है) में भेद करने की आवश्यकता बतलाई गई है; अर्थात् वस्तु, उसका सार और ज्ञान में आनेवाले गुण एक नहीं हो सकते। इनके मतानुसार वस्तुवाद वस्तु और उसके दृश्यों में सत्ता के सम्बन्ध से भेद करता है और सार के सम्बन्ध से उसकी एकता करता है। एसेन्स या सार से इनका मतलब ऐसे सामान्य बोध से है जो

विचार या संवेदन को अव्यवहित रूप से प्राप्त हो सके। यह शुद्ध विचार या संवेदन का विषय है। इसमें न तो श्रेय, प्रेय आदि के भीतरी सम्बन्ध लगे होते हैं और न इसको बाहरी सत्ता की ही स्थिति दी जाती है।

छठे निबन्ध Knowledge and its Catagories में सेलर महाशय ने यह बतलाया है कि ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध नहीं है, वरन् एक प्रकार की क्रिया (function) है, विज्ञान विषय के प्रति विषयी के व्यवहार का फल है। स्ट्रांग साहब वस्तु, सार और दत्त (Datum) में भेद करते हैं। इनके मत से भौतिक वस्तु कभी दत्त नहीं होती; उसका अनुमान ही करना पड़ता है। सार हमको प्राप्त हो सकता है, किन्तु हमेशा नहीं मिलता। 'दत्त' मन में दिया हुआ सार है। स्ट्रांग साहब ने इस बात पर जोर दिया है कि सार मानसिक नहीं है; वह मन को प्राप्त होता है। नवीन वस्तुवाद की भाँति हमारे संवेदन वस्तु नहीं हैं, वरन् वे वस्तु के वाहन हैं। मानसिक स्थिति को दत्त कहने से स्ट्रांग साहब का यह मतलब नहीं है कि वह मन में आकर भौतिक वस्तुओं की भाँति प्राप्त हो जाती हो। सेलर साहब की भाँति ये भी ज्ञान को व्यवहारात्मक मानते हैं। मानसिक स्थितियाँ मन की ऐसी ही स्थितियाँ हैं जैसा कि उबलना अथवा ठंढक से जम जाना पानी की स्थिति है। "A psychic state is the psyche in certain state" अर्थात् मानसिक स्थिति मन ही की स्थिति है—मन में बाहर से आई हुई वस्तु नही है। स्ट्रांग साहब ज्ञेय और ज्ञाता दोनों का आधार चेतन में मानते हैं। इनका तत्व ज्ञान एक प्रकार का सर्वात्म वाद या सर्व मनोवाद (Pan-psychism) है।

संक्षेप से थोड़े बहुत मत भेद को छोड़कर परीक्षात्मक वस्तुवाद वस्तु का अव्यवहित ज्ञान नहीं मानता। यह ज्ञान सार द्वारा होता है। सार वस्तु से अलग है। जब सार में सत्ता, स्थिति या दैशिकता का ज्ञान लग जाता है, तब वही वस्तु हो जाती है। वस्तु एक प्रकार का अनुमान है।

चौथा अध्याय

युरोपीय दर्शन की वर्तमान स्थिति और उसका भविष्य

युरोपीय दर्शन में जो स्रोत चल रहे हैं, उनका थोड़ा बहुत निरूपण पिछले अध्यायों में हो चुका है। वर्तमान समय में, और विशेषकर युरोपीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात्, लोगों का ध्यान आध्यात्मिक विषयों की ओर झुका है। भौतिक विज्ञान की शक्तियों का चमत्कार युद्ध के समय में पूरे तौर से प्रकट हो चुका है; लेकिन उसके साथ ही उसकी अमानुषिकता भी प्रकट हो गई है। यद्यपि मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियाँ बड़ी बलवती होती हैं, तथापि युद्ध और शक्ति की उपासना से लोगों का जी ऊबता जाता है। मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों का नए सिरे से पाठ पढ़ा जा रहा है। यद्यपि इसके कारण संसार में अशान्ति है, तथापि इस अशान्ति के बादलों में भविष्य के लिये शुभ सूचनाओं की रजत-मयी शुभ्र रेखाएँ झलक रही हैं। यद्यपि लोगों की विलास-प्रियता बढ़ी हुई है, तथापि लोग उनकी निस्सारता की बात सुनने को तैयार हैं।

आज कल की परिस्थिति वैज्ञानिक भूतवाद (Materialism) की पुनरावृत्ति के अनुकूल नहीं मालूम होती। यद्यपि मैक-कैब (Maccab) आदि दो एक महाशय भूतवाद के गीत गाते हैं, लेकिन उनका प्रभाव वर्तमान समाज पर कम है। भौतिक

विज्ञान की भित्तियाँ, जो अभी तक निश्चल समझी जाती थीं, अब जर्मन तत्ववेत्ता आईस्टाइन (Einstein) के सिद्धान्तों के आघात से डॉवाडोल हो गई हैं ❀। गुरुत्वाकर्षण और शक्ति स्थिति आदि पुराने प्रामाणिक नियमों में शंका होने लगी है। फिर उनके आधार पर रचा हुआ तत्व ज्ञान किस प्रकार निश्चल रह सकता है! आजकल का भूतवाद, विशेषतः परीक्षात्मक भूतवाद,

---

❀ आईस्टान (Einstein) ने अपनी कल्पनाओं से वैज्ञानिक संसार में हलचल मचा दी है। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी सिद्धान्त में बहुत रद्-बदल होने की सम्भावना है। न्यूटन ने तेज की गति को सरल रेखाकार माना था; ये उसको टेढ़ी रेखाओं में मानते हैं। इन्होंने काल और देश का निरपेक्ष नहीं माना है। यदि सब सौर मण्डल की गति वर्तमान गति से चौगुनी हो जाय, तो भी दिन उतना ही बड़ा होगा। यदि कोई मनुष्य तेज की गति से तीव्र चल सके, तो वह पिछले काल को देख सकता है। उसके लिये भूत वर्तमान हो जायगा। फिर काल की गणना में जो मानसिक परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है, उसके कारण भी ये काल को सापेक्ष मानते हैं। ये बोझ को भी स्थिति के सापेक्ष मानते हैं। इस सापेक्षता के सिद्धान्त ने भूतवाद और वस्तुवाद प्रतिपादित देश, काल और बाह्य वस्तु की स्वतन्त्रता को बहुत धक्का पहुँचाया है। प्रोफेसर कार का कथन है कि carried to its logical conclusion in the principle of Relativity leaves us without the image of concept of a pure objectivity. अर्थात् यदि सापेक्षता के सिद्धान्त के आधार पर निकाले हुए तार्किक निगमन उचित सीमा तक पहुँचाए जायँ, तो शुद्ध विषमत्व के लिये स्थान नहीं रहता। इस प्रकार विज्ञान की ओर से भी प्रत्ययवाद को सहारा मिलता है।

(Critical Realism) पुराने वस्तुवाद से हटकर करीब करीब कांट की स्थिति पर आ गया है और प्रत्ययवाद के बहुत निकट पहुँच गया है।

सर रवीन्द्रनाथ की पुस्तकों का पाश्चात्य देशों में जो आदर हुआ है, वह भी समय के झुकाव की सूचना दे रहा है। प्रत्यय वाद के समर्थन (Defence of Idealism) की लेखिका मिस सिनक्लेयर (Miss Sinclair) ने भी रवीन्द्र बाबू के गीतों में आश्रय लिया है। मेकेन्जी साहब (J. S. Mackenzie) ने अपनी तत्व-ज्ञान सम्बन्धी नई पुस्तक में ब्रह्मवाद का समर्थन करते हुए शांकर दर्शन को सहृदय दृष्टि से देखा है। अध्यापक राधा कृष्णान ने अपने Reign of Religion in Contemporary Philosophy (सामयिक दर्शन में धर्म का राज्य) में दिखलाया है कि आज कल के दर्शनों पर धर्म का कितना प्रभाव पड़ा है। यद्यपि उन्होंने धर्म के प्रभाव को एक प्रकार का दोष माना है, तथापि यह समय का झुकाव भली भाँति प्रकट करता है। आज कल लोग धार्मिक अनुभव को भी अन्य अनुभवों की भाँति अनुभव में स्थान देते हैं।

इस समय की समस्या भूत वाद और प्रत्यय वाद में नहीं है, वरन् वस्तु वाद और प्रत्यय वाद के बीच में है। मनोविज्ञान का विस्तार भी लोगों को आध्यात्मिकता की ओर ले जा रहा है। मनोविज्ञान सम्बन्धी अनेक क्रियात्मक विज्ञान (Psychopathology, Psycho-Analysis, Psychical Research) बन गए हैं। ये सब मानसिक शक्ति और उसकी स्वतंत्रता के सिद्ध करने के सहायक हैं। लड़ाई के दिनों में

Psycho analysis (मनो-विश्लेषण) ❀ का बहुत प्रयोग हुआ है। नजदीक में तोप के गोलों के पड़ने से लोगों को जो आघात पहुँचता है, उसके इलाज में इस विज्ञान के द्वारा लोगों की अनुद्बुद्ध (Sub-concious) अवस्था पर विचार कर उनके साधारण चाल चलन का भी पता लगा लेते हैं। Psychical research (मनो-वैज्ञानिक गवेषणा) भी खूब उन्नति कर रही है और वह आत्मा के अमरत्व में विश्वास को निश्चयता की ओर ले जा रही है। इस विषय में सर ओलिवर लॉज (Sir Oliver Lodge) की रेमन्ड (Raymond) नामक पुस्तक में उनके लड़के ने अपने मरने के बाद की सत्ता के जो प्रमाण दिए हैं, वे पढ़ने योग्य हैं, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उसका सात्विक किस अंश में प्रमाण कोटि तक पहुँचता है। ये सब बातें युरोप का वर्तमान झुकाव बता रही हैं। भावी दर्शन अध्यात्मवाद के आधार पर चलेंगे; लेकिन उनका विशेष रूप क्या होगा, यह कहना कठिन है। वर्तमान समय में चार मुख्य समस्याएँ हैं। भावी स्थिति के सम्बन्ध में अन्दाज लगाने के लिये इनके विषय में थोड़ा विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा। समस्याएँ ये हैं—

(१) प्रत्ययवाद और वस्तुवाद (Idealism Vs Realism)।

(२) एकवाद और अनेकवाद (Monism Vs Pluralism)।

❀ इस विषय पर मेरा एक लेख "श्री शारदा" के जनवरी और फरवरी १९२३ के अंकों में निकल चुका है।

(३) कृति-स्वातंत्र्य और नियतवाद (Freewill Vs Determinism)।

(४) विकास में नवीनता वास्तविक है अथवा प्रातिभासिक।

(५) बुद्धि और प्रतिभा (Intelect Vs Intuition)

आज कल भूतवाद (Materialism) का स्थान वस्तुवाद ने ले लिया है। भूतवाद की अपेक्षा वस्तुवाद ही प्रत्ययवाद के निकट-तर है। भूतवाद के अनुसार हमारी आत्मा, हमारा ज्ञान, हमारे आदर्श सभी पंच भूतों का कार्य्य होने के कारण, उन भूतों की अपेक्षा गौण हो जाते हैं। संसार के उच्चतम पदार्थ धूल में मिल जाते हैं। वस्तुवाद ने यद्यपि मन के अधिकार को कुछ कम कर दिया है, तथापि उसको अपने स्थान से नहीं गिराया है। वस्तुवाद के हिसाब से यद्यपि वस्तु अपना स्वातन्त्र्य स्थापित कर लेती है, तथापि वह मन से किसी प्रकार का विजातीय भाव नहीं रखती। एक प्रकार से बाहर के पदार्थ हमारे संवेदनों का स्थान ले लेते हैं। पहले मनोविज्ञान के अनुसार जो संवेदन हमारे मन में स्थान पाते थे, अब वे हमारे मन से बाहर स्वतंत्र स्थान रखते हैं। हमारा मन उनको जान लेता है; किन्तु उनके जानने या न जानने से वस्तु में अन्तर नहीं पड़ता। "नोलूकोऽप्यवलोकतेदिवा सूर्य्यस्यकिंदूषणं। धारानैव पतन्तिचातकमुखे मेघस्यकिंदूषणं॥" यह वाक्य यद्यपि भाग्य के सम्बन्ध में कहे गए हैं, तथापि ये वस्तुवाद के पक्ष को भली भाँति प्रदर्शित करते हैं। वस्तु और मन का सान्निध्य ही ज्ञान का कारण है। केवल संवेदन ही हमारे मन से निकलकर बाहर स्थान नहीं पाते, वरन् सम्बन्ध और सामान्य भी हमसे स्वतन्त्र होकर बाहरी संसार

में स्थान पाते हैं। परीक्षात्मक वस्तुवादी (Critical Realists) यद्यपि मन और वस्तु का सम्बन्ध अव्यवहित रूप से नहीं मानते हैं, तथापि ये लोग वस्तु को स्वतन्त्र ही मानते हैं। वस्तु की स्वतन्त्रता के विषय में वस्तुवादियों ने जो कहा है, उसका प्रत्यय-वाद पर स्थायी प्रभाव रहेगा। वस्तु की स्वतन्त्रता ही वस्तुवाद का मुख्य ध्येय है। वस्तु की प्रकृति के सम्बन्ध में वस्तुवाद और प्रत्ययवाद में बहुत थोड़ा अन्तर रह जाता है। जो लोग वस्तु और मन का सम्बन्ध 'सार' (Essence) के माध्यम द्वारा मानते हैं, वे भी अन्य द्वैतवादियों की भाँति वस्तु और मन को बिलकुल विजातीय नहीं ठहराते। स्वतन्त्रता के लिये जो कुछ युक्तियाँ दी जाती हैं, वे सम्बन्धों की स्थिरता या नियमितता के ऊपर जोर देती हैं। जिस चीज को हम घटा बढ़ा न सकें, हमारे रहने न रहने से जिसकी उत्पत्ति या नाश न हो, वही स्वतन्त्र है। यदि यह स्थायित्व और किसी प्रकार से निश्चित हो जाय, तो मन और वस्तु का मन-माना भेद न करना पड़े। वस्तुवाद का कहना है कि मन केवल स्थिति को अवगत कर लेता है; लेकिन यह कहना बहुत कठिन है कि मन केवल अवगत करने का ही कार्य्य करता है। बिना ध्यान दिए कोई बात अवगत नहीं होती। फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि वस्तु का प्रभाव कहाँ शेष होता है और मन का प्रभाव कहाँ से आरम्भ होता है। इस सिलसिले के न तोड़ने के कारण ही वस्तुवादियों ने सम्बन्ध एवं सामान्य बोधों को मन से स्वतन्त्र माना है। इतने पर भी मन का थोड़ा बहुत कार्य्य बना ही रहता है। सामान्य बोध बाहर ही सही, किन्तु तर्क और अनुमान तो मन ही का कार्य्य है। इस कार्य्य में मन को कुछ

अपना भी लगाना पड़ता है। केवल अवगत करने में भी सम्बन्ध स्थापित किए जाते हैं; और यदि बहुत से सम्बन्ध बाहर ही मान लिए जायँ, तो कुछ सम्बन्ध ऐसे अवश्य हैं जो केवल मन से ही हैं। अपना, पराया, हेय, उपादेय आदि के सम्बन्ध मन से ही लगे हुए हैं। यदि तारतम्य में एक सिरे का सम्बन्ध मन से है, तो और बाकी को मन से स्वतन्त्र नहीं कह सकते। इसी प्रकार गुणों में भी सौन्दर्य्यादि गुणों को वस्तुवादियों ने मन के आश्रित माना है। रसेल और मूर (Russell and Moore) ने सौन्दर्य्य को भी वस्तु में ही माना है; किन्तु सौन्दर्य्य में व्यक्तिगत रुचि का न मानना वस्तु वाद को सीमा से बाहर ले जाना है। कहा भी है—समय समय सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोय। जाकी रुचि जेती जितै तेती तित तित होय॥ सौन्दर्य रूप रंग आकार प्रकार पर निर्भर है। यद्यपि सौन्दर्य्य को रूप रंग से अलग नहीं मान सकते, पर उसको मन से भी स्वतन्त्र नहीं कह सकते। एक अंश में भी मन का कार्य्य मानते ही वस्तुवाद के पक्ष से गिरना पड़ता है। यदि मन को बिलकुल निष्क्रिय माना जाय तो भूल की सम्भावना ही न रहेगी। किन्तु भूल अवश्य होती है। भूल तभी होती है जब कि मानसिक क्रिया सीमा से बाहर हो जाती है; लेकिन जब तक सीमा के भीतर रहती है, तब तक भी हम उसको क्रियाशून्य नहीं कह सकते। जब ज्ञान में विषय और विषयी का योग होता है (विशेष कर जब कि यह योग अव्यवहित माना जाता है) तब विषय और विषयी विजातीय नहीं हो सकते। ऐसा मानने में योग होना और ज्ञान का अस्तित्व असम्भव हो जायगा।

परीक्षात्मक वस्तुवाद (Critical Realism) ने मन के प्रभाव को नवीन वस्तुवाद की अपेक्षा अधिक माना है। उनके मत से सार का सम्बन्ध मन और वस्तु दोनों से है (इस विषय में थोड़ा मत भेद है)। सार दोनों के बीच का माध्यम है। परीक्षात्मक वस्तुवाद यद्यपि मन का प्रभाव स्वीकार करके नवीन वस्तुवाद की त्रुटि को पूरा करता है, तथापि उसी के साथ मन और वस्तु का सम्बन्ध व्यवहित मानकर हम को काण्ट के अज्ञेयवाद में ले जाता है। अज्ञेयवाद वस्तुवाद के मूल सिद्धान्त से विरोध रखता है। वस्तु केवल अनुमान रूप हो जाती है। जब तक पूर्णतया प्रत्ययवाद न स्वीकार किया जाय, तब तक अज्ञेयवाद की निराशा से बचना कठिन है। सार के बोध में बहुत सी कठिनाइयाँ हैं जो बिना प्रत्ययवाद में आए दूर नहीं हो सकती हैं। सार वस्तु में है या उससे अलग? यदि वस्तु में है तो उसमें से स्वयं निकलता है अथवा मन उसको निकालता है? यदि उसको मन निकालता है, तो उसकी सत्ता मन पर निर्भर है। यदि स्वयं निकलता है, तो वस्तु में भी एक प्रकार से चुनाव की क्रिया माननी पड़ेगी। यदि सार वस्तु से अलग है, तो उसकी स्थिति कहाँ है? यदि उसकी स्थिति मन और वस्तु दोनों में है, तो वस्तु मन से पृथक् और स्वतन्त्र नहीं हो सकती। यदि मन की थोड़ी बहुत क्रिया मानी जाय, तो वस्तु को स्वतन्त्र नहीं मान सकते। यदि वस्तु को स्वतन्त्र ही माना जाय तो अज्ञेयवाद में आना पड़ेगा; और यदि अज्ञेयवाद से बचना और वस्तु का यथार्थ स्वरूप स्थिर रखना चाहें, तो नवीन वस्तुवादियों की भाँति मन की क्रिया को शून्यप्राय मानना पड़ेगा।

यहाँ वस्तु का स्वरूप तो बच जाता है; किन्तु इस लाभ के साथ और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जैसा कि ऊपर कह आए हैं, मन केवल निष्क्रिय रूप से संवेदनों को स्वीकार नहीं करता, वरन् उसको सक्रिय रूप से चुनाव के साथ ग्रहण करता है। यदि ऐसा न हो तो हमारा संज्ञा-क्षेत्र एक बे सिलसिले भरा हुआ गोदाम बन जायगा। वस्तुवादियों को मन की क्रिया मानते ही वस्तुवाद से हटकर अज्ञेयवाद में आना पड़ता है; और अज्ञेय-वाद से प्रत्ययवाद में आए बिना चित्त स्थिर नहीं होता। हमारी अन्य मानसिक क्रियाओं का हमारे संवेदनों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उनको अलग नहीं कर सकते। फिर कल्पना से अथवा स्वप्न में जो मानस चित्र प्राप्त होते हैं, उनको हम मन के भीतर कहें और उनसे मिलते जुलते वस्तु के संवेदनों को मन से बाहर कहें, यह किस प्रकार सम्भव है! उन दोनों के विषमत्व में भेद नहीं। भेद इतना ही है कि कल्पना और स्वप्न के मानस चित्रों को व्यक्ति ही अवगत करता है, किन्तु वस्तु के संवेदनों को वह औरों के साथ अवगत करता है। जिसको हम वस्तु कहते हैं, वह सम्मिलित परिवार की पैतृक सम्पत्ति की भाँति सब के उपभोग का विषय है; और स्वप्न तथा कल्पना के पदार्थ व्यक्ति की स्वार्जित सम्पत्ति की भाँति उसी के उपभोग का विषय है। वस्तु की स्वतन्त्रता इसी बात में है कि उसका अस्तित्व किसी व्यक्ति विशेष की रुचि पर निर्भर नहीं है। इसके लिये हमको कोई ऐसा सम्मिलित ज्ञान-क्षेत्र मानना होगा जिसमें हम सब सम्मिलित हो जाते हैं। वास्तव में वस्तुवाद और प्रत्ययवाद में वस्तु की प्रकृति के सम्बन्ध में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। अन्तर इतना ही है कि वस्तुवाद

बीच में से एक रेखा खींचकर यह कह देता है कि यहाँ तक मन है और यहाँ से वस्तु है। प्रत्ययवाद कोई रेखा नहीं खींचता; और रेखा खींची भी नहीं जा सकती। वस्तु और हमारे बीच का आकाश मन के बाहर है या भीतर? वस्तुवादी कहेंगे कि मन के बाहर है। फिर हमारा शरीर और स्नायु-संस्थान एवं उसकी क्रियाएँ कहाँ जायँगी? यह तो भौतिक संसार की बात हुई। इसी प्रकार मानसिक तारतम्य में भी पार्थक्य नहीं हो सकता। हमको इस तारतम्य का पूरा क्षेत्र मानसिक ही मानना पड़ेगा। तभी हम इस मनमाने विभाग से बच सकते हैं और वस्तु का भी वास्तविक स्वरूप स्थित रख सकते हैं। वस्तु की स्थिति के साथ उसके उद्देश्य या लक्ष्य का भी विचार लगा हुआ है। जहाँ पर हम यह विचार करते हैं कि कोई वस्तु है, उसी के साथ यह विचार भी स्वाभाविक रीति से उत्पन्न होता है कि उसका क्या प्रयोजन या अर्थ है। प्रयोजन-शून्य सत्ता निरर्थक है। यह प्रयोजन किसी मन में ही रह सकता है। सब वस्तुओं के प्रयोजन हमारे मन में नहीं हैं; इसलिये उनके प्रयोजन किसी विश्व-व्यापक मन में रहेंगे। अब प्रश्न यह है कि इस मन और बाह्य पदार्थों में, जिनको हम वास्तविक कहते हैं, क्या सम्बन्ध है। एक प्रकार से तो सम्बन्ध का भी प्रश्न निरर्थक है; क्योंकि उनको पृथक् मान कर ही सम्बन्ध मानने की आवश्यकता पड़ती है। भौतिक पदार्थ और हमारे शरीर दोनों ही हमारे 'मन' में रहते हैं। यद्यपि कहने के लिये हमारा 'मन' हमारे शरीर में है, तथापि हम उतनी ही सत्यता के साथ कह सकते हैं कि हमारा शरीर मन में है। चूँकि हमारा शरीर भिन्न भिन्न दृश्यों में हमारे साथ रहता है, इसलिये

हम उसको अपना कहते हैं; और उससे जो कुछ बाहर है, उसको बाहर कहते हैं। और पदार्थ भी हमारे मन के उतने ही भीतर हैं जितना कि शरीर; और हमारा शरीर भी उतना ही बाहर है जितने और पदार्थ। हमारा शरीर यद्यपि हमारे मन के भीतर है, पर वह बाहरवालों के लिये हमारे आन्तरिक भावों और लक्ष्यों का द्योतक है। दूसरे लोग हमारे और हम दूसरे लोगों के मन के अस्तित्व के विषय में शारीरिक क्रिया या चेष्टा द्वारा ही अनुमान कर लेते हैं। जब हम दृश्य पदार्थों की ओर देखते हैं, तब वे हमारी शारीरिक चेष्टाओं की भाँति अपने मानसिक आधार की सूचना देते हैं। जब हम संसार की बनावट को अपनी कल्पनाओं के अनुसार पाते हैं, तब हमारा विचार और भी दृढ़ हो जाता है कि हमारी मानसिक बनावट का और संसार की बनावट का एक ही मूल आधार है। जब कभी किसी नवीन तत्व या नवीन तारा-गण अथवा किसी नवीन प्राकृतिक घटना के विषय में हमारा अनुभव ठीक बैठता है, तब हम संसार का आधार मानसिक मानने की ओर एक सीढ़ी और चढ़ जाते हैं। हम अपने ही शरीर से विश्व का और पिण्ड से ब्रह्माण्ड का अनुमान करते हैं। संसार की नियमित घटनाओं को देखकर हम उनके पीछे एक मानसिक आधार का अनुमान करते हैं। सारे संसार का उद्देश्य या लक्ष्य उसी मानसिक आधार में मानना पड़ता है। जिस प्रकार हम अपने ज्ञान के स्थायी क्षेत्र को अपना शरीर कहते हैं, उसी प्रकार संसार और उसके मानसिक आधार में हम शरीर और शरीरी का सम्बन्ध लगाते हैं; क्योंकि उसके अनन्त ज्ञान के लिये सब क्षेत्र स्थायी है। इसी आधार पर सारे विश्व को हम विश्वात्मा

का शरीर कहेंगे। यद्यपि हम विश्व को विश्वात्मा का शरीर कहते हैं, तथापि शरीर और शरीरी में भेद नहीं है। भेद इतना ही है कि शरीर शरीरी को अतीत करता है। हम शरीर से भिन्न नहीं हैं, किन्तु शरीर में संकुचित भी नहीं हैं। इसी प्रकार विश्वात्मा भी विश्व में संकुचित नहीं है। वह विश्व के भीतर भी है और बाहर भी है। "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु-सर्वस्यास्य बाह्यतः"। (ईशोपनिषद्)

हम अपने मुख्य विषय से थोड़ा हट आए हैं। प्रत्ययवाद और वस्तुवाद की विवेचना करते हुए यह बतलाया गया था कि नवीन वस्तुवाद के अनुसार वस्तु संवेदनात्मक है, किन्तु हम से स्वतन्त्र है। साथ ही यह भी बतलाया गया था कि वस्तु संवेदनात्मक होकर मन से बाहर नहीं हो सकती; उसका कोई मानसिक आधार अवश्य होना चाहिए। इसी सम्बन्ध में हम विश्व से विश्वात्मा पर आ गए थे। किन्तु बीच में यह प्रश्न रह गया कि हमारा और बाहरी संसार का सम्बन्ध व्यवहित है अथवा अव्यवहित। विज्ञान कहता है कि यह सम्बन्ध गति के स्फुरणों द्वारा है। गति के स्फुरण वायु या ईथर के माध्यम द्वारा हमारी ज्ञानेन्द्रियों एवं मस्तिष्क और सारे स्नायु संस्थान में गति उत्पन्न कर देते हैं। हमारे संवेदन इसी गति का फल हैं। विज्ञान के अनुभव को हम झूठ नहीं कहते; किन्तु यह हम को वस्तु से दूर पहुँचाकर अज्ञेयवाद में ले जाता है। वस्तु का वास्तविक स्वरूप गति है अथवा जैसा हम देखते हैं, वैसा है? यदि वस्तु का वास्तविक स्वरूप गति है, तो यह प्रश्न होता है कि गति संवेदन और ज्ञान में किस प्रकार से परिवर्तित हो जाती है। जब तक

ज्ञान और गति में कोई नित्य सम्बन्ध न माना जाय, तब तक हम ज्ञान की व्याख्या गति से नहीं कर सकते। गति भी तो एक प्रकार का ज्ञान है। ज्ञान से अतिरिक्त और मन से स्वतन्त्र गति और स्फुरणों का ही क्या स्वरूप होगा, यह बतलाना विज्ञान के लिये बड़ा कठिन है। जिस प्रकार गति से ज्ञान की व्याख्या करना कठिन है, उसी प्रकार यह भी बतलाना कठिन है कि ज्ञान से गति किस प्रकार उत्पन्न होती है। दोनों का नित्य सम्बन्ध मानकर ही एक का दूसरे में परिवर्तन होना सम्भव है। हमारे संविद् में ज्ञान और क्रिया लगी हुई है। गति भी एक प्रकार का ज्ञान है *। विज्ञान जिस गति को मानता है, वह ज्ञान का कारण नहीं है, वरन् उसके साथ लगी हुई है। हमारा बाहरी संसार केवल गतिमय नहीं है, वरन् गति ज्ञानमय है। गति और ज्ञान का भेद संविद् के भीतर ही है। गति द्वारा हमारे जो संवेदन उत्पन्न होते हैं, वे एक प्रकार से गति और ज्ञान का पूर्व सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं। हमारा वस्तुवाद इस बात में है कि जैसा ज्ञान और गति का सम्बन्ध संसार के आधारभूत संवित में है, वैसा सम्बन्ध हमारे संवित में हो जाता है; अर्थात् वस्तु का जो स्वरूप विश्वात्मा के संवित में है, वही स्वरूप हमारी चेतना में आता है। यदि संसार का आधार केवल गति में होता, तो गति से ज्ञान या संवेदन होने में वस्तु का रूपान्तर हो जाता। किन्तु वस्तु का

---

* देवी भागवत निम्नोल्लिखित श्लोक हमारे सिद्धान्त को किसी अंश में पुष्ट करता है—

मूलप्रकृतिरूपिण्याः संविदो जगदुद्भवे।
प्रादुर्भूत शक्तियुग्म प्राणबुद्ध्यादिदेवचत् ॥

रूप गति ज्ञानमय है। यह गति माध्यम रूप से हमारे मन में वे ज्ञान उत्पन्न कर देती है। इसी गति या शक्ति को दार्शनिक भाषा में प्रकृति अथवा माया कहा है और पौराणिक भाषा में पार्वती, दुर्गा, राधा आदि के नाम से कहा है। शक्ति और शाक्त मत का नित्य सम्बन्ध है। "वागार्थाविव सम्प्रक्तौ, वागार्थ प्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।" शिव और पार्वती में वाणी और अर्थ का सा सम्बन्ध कहा है। इस ज्ञान और गति का भी ऐसा ही सम्बन्ध है। जिस प्रकार भाषा द्वारा एक मनुष्य दूसरे के मन में अपने भाव उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार गति के सम्बन्ध से हमारे और विश्वात्मा के भाव एक से हो जाते हैं। इतना भेद अवश्य है कि हमारे मन की परिमितता के कारण हमारे मन में सब सम्बन्ध न प्रकट हो सकेंगे; किन्तु जो सम्बन्ध हम देखते हैं, वे मिथ्या नहीं हैं। यदि पूर्णता के प्रभाव को मिथ्यात्व कहें, तो दूसरी बात है। वेदान्ती लोग जो हमारे ज्ञान को मिथ्या कहते हैं, उसका यही कारण है कि उनके मत से पूर्णता ही सत् है। वे लोग सत्य में दरजे नहीं मानते; इसलिये पूर्ण के अतिरिक्त और जो कुछ है, उसे वे असत् कहते हैं।

ऊपर की विवेचना का निष्कर्ष यह निकला कि बाहरी संसार और हम एक ही चेतना के तारतम्य में हैं। उस चेतना में ज्ञान और जाति दोनों ही लगे हुए हैं। उस चेतना के भीतर हम लोग ज्ञान के विशेष केन्द्र हैं। उस विश्व-चेतना का विषय मनुष्य अथवा अन्य चेतन केन्द्रों का विषय हो जाता है। इन केन्द्रों के संकुचित दृष्टि-कोणों के कारण यद्यपि विषय की पूर्ण प्राप्ति नहीं

होती, तथापि उसका रूपान्तर नहीं होता। इस ज्ञान के साथ क्रिया भी लगी रहती है। कहीं पर ज्ञान की प्रधानता दिखाई पड़ती है और कहीं पर क्रिया की। जब हम विज्ञान की दृष्टि से देखते हैं, तब हम को क्रिया की प्रधानता दिखाई पड़ती हैं; और जब प्रत्ययवाद की दृष्टि से देखते हैं, तब ज्ञान ही ज्ञान दिखाई पड़ता है। क्रिया भी हमारे संवित से बाहर नहीं हैं; इसलिये प्रत्ययवाद की ही प्रधानता है। विज्ञान भी झूठा नहीं; पर उसकी दृष्टि संकुचित है। वह ज्ञान के एक आकार को ज्ञान से भिन्न मानता है। प्रत्ययवाद स्फुरणादि की क्रिया को झूठा नहीं मानता, किन्तु वह उसको भी चेतना के तारतम्य में मिला हुआ मानता है। हम को बिना क्रिया के ज्ञान प्राप्त होता है; किन्तु ज्ञान क्रिया में परिणत हुआ करता है; इसलिये ज्ञान के साथ क्रिया का लगा रहना परम आवश्यक है। यदि इस ज्ञान और क्रिया के योग का उदाहरण चाहिए तो तो वह हमारी संकल्प शक्ति में मिल जाता है। संकल्प भी हमारी चेतना या संवित का ही अंग है, इसलिये हम संसार का मूल आधार चेतनात्मा ही मानते हैं। "प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म"।

दूसरी समस्या पर विचार करने से पूर्व ही हम एक प्रकार से उसके विषय में अपना मत प्रकाशित कर चुके। वस्तु की व्याख्या करते हुए हम एक विश्वात्मा को मान चुके हैं। यद्यपि व्याख्या की पूर्ति के लिये ही हमको विश्वात्मा में विश्वास करना पड़ा, तथापि जब तक हम अनेकवाद के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत विचार न कर लें, तब तक हम उसको सहज में नहीं हटा सकते। अनेकवादी दार्शनिकों का कहना है कि मनुष्य की स्वतन्त्रता तथा

संसार की उन्नति और विकास के लिये अनेकवाद आवश्यक है। हमारे यहाँ भी भक्त लोग अनेकवाद को ही पसन्द करते हैं। अनेकवाद के पक्ष में और भी युक्तियाँ दी गई हैं जो प्रायः मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं। यदि पुरुष एक ही है, तो सब लोग एक दूसरे के दिल की बात क्यों नहीं जान लेते ? एकवाद के विरोध में यह भी कहा गया है कि बहुत से मन एक मन के अन्तर्गत किस प्रकार हो सकते हैं ? पहले हम इन आपत्तियों की विवेचना कर लें। कर्तव्य-सम्बन्धिनी आपत्तियों का विचार करने में हम अपनी तीसरी समस्या पर पहुँच जायँगे। एक सा ज्ञान न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बहुत सी बातों में हम दूसरे लोगों के ज्ञान में शामिल हो जाते हैं। जिन वस्तुओं को हम सब लोग देखते हैं, उनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान प्रायः एक सा होता है। यद्यपि हम उस ज्ञान को अपना कहते हैं, लेकिन वही सब का ज्ञान है। कुछ विशेषताएँ हमको अन्य व्यक्तियों से पृथक् करती हैं, किन्तु वह पार्थक्य इतना भारी नहीं है कि हमको बिलकुल अलग कर दे। जब हम अनेकवाद का विरोध करते हैं, तब हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि भेद बिलकुल होना ही नहीं चाहिए। यदि भेद बिलकुल ही न रहे, तो नीरस एकता रह जायगी। अनेकवाद का यह दोष नहीं कि वह जीवों का अनेकत्व मानता है, वरन् यह कि वह अनेकत्व के आगे नहीं देखता। अनेकवादी भी एकता को किसी न किसी अंश में मानते हैं। वे लोग आधार में एकता नहीं मानते, वरन् अन्त में साम्य की एकता को मानते हैं। किन्तु यदि हम आधार में एकता नहीं मानते हैं, तो अन्त में भी एकता की आशा कठिनाई से ही कर सकते हैं। यदि हम

केवल भेदों के कारण अनेकवाद पर ठहर जायँ तो हम एकता को छोड़ देते हैं। संसार में व्यक्तिता अवश्य है, किन्तु वह अन्तिम नहीं। हमारी व्यक्तिता बहुत अंशों में हमारे संकुचित विचारों के कारण हमको तीव्र रूप से दिखाई पड़ती है। यदि हम विचार करके देखें तो हमारे लिये अपनी व्यक्तिता की सीमा खींचना कठिन हो जायगा। क्या मेरी व्यक्तिता का कोई अंश मेरे माता पिता की व्यक्तिता में शामिल नहीं है? क्या मेरी जाति और मेरी सामाजिक स्थिति ने मेरी व्यक्तिता पर अपना प्रभाव नहीं डाला? क्या मेरा बहुत सा ज्ञान सार्वजनिक नहीं है? क्या प्रेम में व्यक्तिता की सीमाएँ उल्लंघित होती हुई नहीं दिखाई देतीं? क्या अत्यन्त प्रेम और विचार-साम्य के कारण दो मनुष्य एक ही समय में एकत्र विचार नहीं करते? यदि हम अपनी व्यक्तिता को बढ़ाना चाहे, तो हमारा कुटुम्ब, हमारा देश एवं सारा संसार भी हमारी व्यक्तिता में आ जाता है। जो लोग सच्चे देशसेवक हैं, उनको देशवासियों के सुख दुःख, मानापमान से वही भाव उत्पन्न होते हैं जो अपने सुख दुःख या मानापमान से होते हैं। बहुत से लोग अपने व्यक्तित्व को दूसरे में इतना मिला देते हैं कि उनके सभी कार्य दूसरे व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर हो जाते हैं। यह तो हुई व्यक्तित्व घटाने बढ़ाने की बात। हमारे लिये यह भी बतलाना कठिन है कि हमारे व्यक्तित्व में कितना अंश आत्म-सम्बन्धी है और कितना अनात्म-सम्बन्धी। हम अपने शरीर को अपने व्यक्तित्व मे शामिल करते हैं; लेकिन वास्तव में वह हमारे लिये उतना ही विषयरूप है जितना कि घटपटादि। शरीर की बात तो जाने दीजिए, कभी कभी ऐसा होता है कि हम अपने मानसिक भावों को भी

अपना नहीं कहते। यदि वे हमारे उच्च उद्देश्यों के विरुद्ध होते हैं, तो हम उनको अपना कहने में लज्जित होते हैं। जब हम अपने सम्बन्ध में विवेचना करते हैं, तब हम्हीं विषय बन जाते हैं। फिर हमारी व्यक्तिता किस बात की? हमारी व्यक्तिता केवल इसी बात की है कि हम अपने अनुभव को अपना कहते हैं। इसी को अहंकार कहते हैं। यही अहंकार या अहं-पन सब अनुभवों को एक सूत्र में बाँधे रहता है। यही भिन्न अहंकार अनेकता का कारण है। हमारी व्यक्तिता का विषय और उसकी सीमाएँ तो ऐसी अनिश्चित हैं कि वे सदा एक दूसरी में मिली हुई रहती हैं। ऐसी अवस्था में कोरा अनेकवाद नहीं ठहर सकता। इस अनेकता का आधार एकता मे होना चाहिए। अनेकवादी लोग कहते हैं कि यह एकता आदर्श मात्र है; और वह आरम्भ मे नहीं, अन्त में है। पर यदि इस आदर्श-रूप एकता का आधार आरम्भ में नहीं, तो फिर अन्त में इसका प्राप्त होना सन्दिग्ध हो जाता है। जब वास्तविक भिन्नता है, तो इसका क्या प्रमाण है कि वह भिन्नता एकता में परिणत हो जायगी? विकास के सिद्धान्त के अनुसार भी एकता से भेद की उत्पत्ति और भेद से एकता की उत्पत्ति होती है। अनेकवादियों के दो मत हो सकते हैं; एक तो वे लोग जो सब चराचर सृष्टि को ईश्वर द्वारा सृजित मानते हैं; और एक वे लोग जो जीवों को अनादि मानते हैं। इनमें से भी कुछ ईश्वरवादी हैं और कुछ अनीश्वर-वादी। ईश्वरवादी जैसे युरोप के दार्शनिकों में जेम्स वार्ड और हमारे यहाँ मान्य वैशेषिकवाले; और अनीश्वरवादियों में सांख्यवाले और जैन लोग हैं। जो लोग जीव को ईश्वर की सृष्टि मानते हैं, वे

तो एक प्रकार से एकवादी ही हैं; क्योंकि उनके लिये जीवों की एकता का आधार ईश्वर में है। सृष्टि स्रष्टा से बिलकुल भिन्न नहीं हो सकती। जेम्स वार्ड प्रभृति की फिलासोफी इस बात की साक्षिणी है कि कोरे अनेकवाद से काम नहीं चल सकता। चाहे सांख्यवाले हों, चाहे जैन हों, चाहे जेम्स वार्ड के मत के हों, यदि वे सृष्टि को ईश्वर के साथ अनादि मानते हैं, तो उनके लिये इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन हो जाता है कि क्यों इस अनन्त काल में ईश्वर या पूर्ण और अपूर्ण जीव इस संसार में यथेष्ट साम्य स्थापित नहीं कर सके। यदि अभी तक साम्य स्थापित नहीं हुआ, तो भविष्य में भी साम्य स्थापित होने की आशा नहीं है। संसार में जो कुछ साम्य और एकता है, पूर्ण अनेकवाद के आधार पर उसकी भी व्याख्या करना कठिन हो जाता है। सामाजिक संघटन के लिये थोड़ी बहुत एकता की आवश्यकता है। यदि विलियम जेम्स प्रभृति और विषयों में हमारी इच्छाओं तथा भावों के आधार पर सत्ता का निर्माण निश्चित करना चाहते हैं, तो हमारे भाव जितना अनेकता को चाहते हैं, उतना ही एकता को भी। फिर एकता से इतना क्यों डरना चाहिए?

अनेकवाद पर तो विचार हो चुका। अब प्रश्न यह है कि यदि अनेकवाद सन्तोषजनक नहीं है, तो क्या एकवाद की सब कठिनाइयाँ दूर हो गईं? और यह एकता किस प्रकार की है; अर्थात् विश्व के जीवों और उनके आधारभूत विश्वात्मा का क्या सम्बन्ध है?

हमने मुख्य दो कठिनाइयाँ बतलाई थीं। एक यह कि यदि सब जीवों की एकता है, तो ज्ञान की एकता क्यों नहीं है? और

दूसरी यह कि एक मन के भीतर और मन किस प्रकार रह सकते हैं ? क्या ब्रह्म का मन गोरखधन्धे के डब्बे की भाँति है ? पहली कठिनाई के विषय में हमने कहा था कि किसी अंश में हम को एक सा ज्ञान होता है। कभी कभी विचार की तार बरकी भी हो जाती है। एक ही चीज के ज्ञान में व्यक्तिगत भेद अवश्य रहता है। यह व्यक्तिगत भेद एक अंश में आवश्यक भी है; क्योंकि विश्व में भेद-रहित एक-रस एकता नहीं है। भेद में अभेद लगा हुआ है। किन्तु यह व्यक्तिता अन्तिम और अभेद्य नहीं है। सहानुभूति के विस्तार से व्यक्तिता की सीमाएँ मिटती सी दिखाई पड़ती हैं।

अब रहा दूसरा प्रश्न। उसे अब फेक्नर आदि मनोवैज्ञानिकों ने किसी अंश में सम्भव सिद्ध किया है। फेक्नर साहब का कहना है कि बहुत से अनुभव एक अनुभव में शामिल होकर भी अलग रह सकते हैं ❀। यदि हम किसी एक कुटुम्ब, समाज या समूह की सम्मिलित मानसिक क्रिया पर ध्यान दें, तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। हम कुटुम्ब, बिरादरी या राज्य की साधारण मति (Policy) में शामिल होते हुए उसके सुख दुःख, मानापमान को अपना सा मानते हुए, भी अपना व्यक्तित्व अलग रख सकते हैं। समूह केवल समूह नहीं होता, वरन् कुछ अधिक होता है। जो बात हर एक व्यक्ति की विचार शक्ति से बाहर होती है, वह सम्मिलित विचार के फल से प्राप्त होती

❀ देखिए प्रोफेसर राधाकृष्णन की पुस्तक Reign of Religion in Contenporary Philosophy पृष्ठ २६४–६५.

है। हमारे ही मन में परस्पर विरोधी विचार उत्पन्न होते हैं और उनका एक निश्चित फल होता है। यदि हमारे विचारों में किसी प्रकार से व्यक्तित्व या अहंकार आ जाय, तो हमारा मन भी समूह की भाँति विचार करे। हम अपने मन को एक टकसाल के रुपए की व्यक्तिता दे देते हैं; और फिर 'दो मनों का मेल' अथवा 'एक मन में दूसरे मन का रहना' आदि समस्याएँ जटिल मालूम होती हैं। यदि हम अपने मन की ओर विचारपूर्वक देखें, तो हमें मालूम होगा कि हमारा मन वैसा अमिश्रित पदार्थ नहीं है, जैसा कि हम समझते हैं। बहुत से विचारों को हम अपने अहंकार से बाहर रखते हैं। बहुत से विचारों के लिये हम यह नहीं कह सकते कि ये हम में कहाँ से आए। अपने स्वप्न मे हम दो या तीन व्यक्ति हो जाते हैं और फिर भी अपना व्यक्तित्व स्थिर रखते हैं; क्योंकि स्वप्न में हम को अपनी बातों पर स्वयं आश्चर्य होने लगता है। आवेशादि में एक व्यक्ति पर दूसरा व्यक्ति सवार हो जाता है। इन सब बातों से प्रकट होता है कि मनों का मिलकर भी एक रहना असम्भव नहीं है। मन जल राशि की भाँति नहीं है। जब बहुत से लोग एक साथ सुर मिलाकर गाते हैं, तब वे सब लोगों के स्वर से भिन्न एक स्वर उत्पन्न करते हैं; किन्तु उसमें भी व्यक्तिगत स्वर बने रहते हैं। बहुत सी दीप-शिखाओं का एक आलोक होता है; किन्तु आलोक की एकता होते हुए भी उनकी व्यक्तिता रह सकती है। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि व्यक्ति दीप शिखा की भाँति स्वरूपवान् है, वरन् यह कि वह अपना अहंकार रखता हुआ एक चेतन केन्द्र है। ये सब उदाहरण मात्र हैं; किन्तु उदाहरणों से सम्भावनाओं और असम्भा-

वनाओं का थोड़ा वहुत पता चल जाता है। एक विश्वात्मा के अन्तर्गत वहुत से जीवों का होना असम्भव नहीं है।

अव रहा यह प्रश्न कि इस विश्वात्मा के साथ और जीवों का क्या सम्बन्ध है? यह सम्बन्ध वतलाना वहुत कठिन है। वहुतों ने विशेष्य विशेषण का सम्बन्ध वतलाया है; वहुतों ने उपाधि-कृत भेद वताकर व्यक्तिता को मिथ्या ही वतलाया है; वहुतों ने कुटुम्ब या समाज या विद्यालय आदि संस्थाओं का सम्बन्ध वतलाया है। चाहे कोई सम्बन्ध मान लिया जाय, किन्तु उसके साथ इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि समूह केवल समूह नहीं है। व्यष्टि के समूह को समष्टि अतीत करती है। जिस प्रकार एक रासायनिक योग अपने तत्वों से ज्यादा है, शरीर अपने अव-यवों और उनके रासायनिक योगों से अधिक है, हमारी आत्मा मानसिक क्रियाओं से अधिक है, समाज व्यक्तियों के समूह से वड़ा और जोरदार है, उसी प्रकार विश्वात्मा विश्व को अतीत करती है। पर यह भी ध्यान रहे कि विश्वात्मा में व्यक्तियों का नाश नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त यह भी समझ रखना चाहिए कि यह सम्बन्ध और सम्बन्धों की अपेक्षा घनिष्ट तथा विलक्षण है।

अव हम तीसरे प्रश्न पर आते हैं। एकवाद के विरुद्ध सव से वड़ी युक्ति कृति-स्वातन्त्र्य की है। कहा जाता है कि यदि ब्रह्म ही सव कुछ है, तो मनुष्य कहाँ रहा? यदि सव वातें पहले से ही निर्धारित हैं, तो उद्योग और पुरुषार्थ के लिये कहाँ स्थान है? और फिर मनुष्य पुण्य पाप का भागी भी नहीं। पहले तो सव एकवादी लोग व्यक्ति का विलकुल नाश नहीं कर देते; और जो

लोग ब्रह्म ही ब्रह्म को मानते हैं, वे लोग पाप पुण्य को तभी तक मानते हैं, जब तक कि अहंकार लगा हुआ है। उन लोगों के मत से यद्यपि सब बातें पहले से निर्धारित ही हैं, तथापि जब जीव अपने को कर्ता समझता है, तब वह पुण्य पाप का भी भागी है। जब तक किसी काम को हम अपना किया हुआ कहते हैं, तब तक हम उसके जिम्मेदार हैं। अस्तु। यह तो उन लोगों की बात हुई जो व्यक्तिता को उपाधिकृत मानते हैं। हम यह बतला चुके हैं कि व्यक्तिता को वास्तविक मानकर भी एकवाद हो सकता है। ऐसे मत के अनुसार स्वातन्त्र्य किस प्रकार का होगा ? जिस प्रकार से हमने भेद और अभेद दोनों माने हैं, उसी प्रकार से हम स्वातन्त्र्य और नियतवाद दोनों ही को मानते हैं। सब बातों में हम स्वतन्त्र नहीं हो सकते। जिन बातों में हमारा और लोगों के साथ एक सा जीवन है, उन बातों में हम स्वतन्त्र नहीं हो सकते। यदि हम धूप में खड़े हैं, तो हम उसको छाया कहने की स्वतन्त्रता नहीं रखते। हम ऊपर से कूदने पर न गिरने की स्वतन्त्रता नहीं रखते। हम अपने कर्तव्याकर्तव्य के विषय में ही, जो हमारे व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है, स्वतन्त्र हैं। इस विषय में भी हम बहुधा अपने पूर्व कर्मों के अभ्यास से बँधे रहते हैं। तथापि यदि हम उस श्रृंखला को तोड़ना चाहें तो तोड़ सकते हैं। ऐसा न हो तो फिर उन्नति का कोई साधन ही नहीं *। हमारी स्वतन्त्रता इस बात में है कि जो काम हम करते हैं, वह जान बूझ कर करते हैं, पशु की भाँति नहीं करते।

---

* देखिए कर्ता शास्त्रार्थवत्वात् ब्रह्मसूत्र २-३-३३.

ज्ञान मे उत्तरदायित्व लगा हुआ है। अच्छे बुरे के ज्ञान के साथ शक्ति भी लगी हुई है। हम ब्रह्म के जीवन में रहकर भी अपनी स्वतन्त्रता रख सकते हैं। साधारण बातों में विश्व के जो नियम चल रहे हैं, यद्यपि उनके विरुद्ध हम नहीं जा सकते, तथापि बहुत अंशों में हम अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार काम करने में स्वतन्त्र हैं। जिस प्रकार सम्मिलित कुटुम्ब की साधारण नीति कर्ता के विचार और सिद्धान्तों से प्रभावित होती है, किन्तु उसका पूरे तौर से पालन करना कुटुम्ब के अन्य व्यक्तियों पर निर्भर है, उसी प्रकार संसार की साधारण नीति ईश्वर की इच्छा से प्रभावित होती है, पर हम उसके पालन करने या न करने में स्वतन्त्र हैं। जैसे जैसे हम अपनी रुचि, मति और विचारों को उस साधारण नीति के अनुसार बनाते जायँगे, वैसे ही वैसे संसार में शान्ति फैलती जायगी। ईश्वर अपनी इच्छा का पालन कराने में हमारे ऊपर किसी प्रकार का दबाव नहीं डालता। हमको बुद्धि दी गई है। जो कार्य हम करें, अपना समझ कर करें, सोच विचार कर करें—इसी में हमारा उत्तरदायित्व है। जो सत् मार्ग है, वह दुष्परिणामी नहीं है। बुरे कार्य्य का दुष्परिमाण ईश्वर की इच्छा उल्लंघन-जन्य क्रोध का फल नहीं है, वरन् वह कर्म का ही फल है। जिस प्रकार प्राकृतिक नियम हैं, उसी प्रकार कर्तव्य संसार के भी नियम हैं। वे भी एक प्रकार से प्राकृतिक हैं। जिस प्रकार प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन का बुरा फल होता है, उसी प्रकार कर्तव्य सम्बन्धी नियमों के तोड़ने का भी बुरा फल होता है।

संसार में बिलकुल आकस्मिकता नहीं है। यदि ऐसा होता तो संसार में चलना फिरना कठिन हो जाता। संसार में नियम

और सिद्धान्त हैं; उन्हीं के अनुसार संसार चल रहा है। यदि हम उनको ठीक प्रकार से समझकर उनके अनुकूल चलते हैं, तो हम अपनी और संसार दोनों की शक्ति बढ़ाते हैं; और यदि प्रतिकूल चलते हैं, तो अपना और संसार दोनों का बल घटाते हैं। किन्तु प्रतिकूल जाने की भी एक हद है; उससे आगे जाना हमारे लिये असम्भव है।

मनुष्य की स्वतन्त्रता के साथ ईश्वर के भविष्य-सम्बन्धी ज्ञान का प्रश्न लगा हुआ है। इतना ही नहीं, अनेकवादी लोगों का कहना है कि मनुष्य की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये ईश्वर को परिमित होना चाहिए; क्योंकि यदि ईश्वर का ज्ञान और क्रियाएँ अपरिमित हैं, तो न तो मनुष्य उसके ज्ञान के ही विरुद्ध कुछ कर सकता है और न उसके लिये कुछ करने को ही शेष रह जायगा। यह प्रश्न देखने में जितना कठिन है, वास्तव में उतना कठिन नहीं। ईश्वर का ज्ञान और क्रियाएँ अनन्त होते हुए भी मनुष्य स्वतन्त्र हो सकता है। ईश्वर का ज्ञान होने से यही अभिप्राय है कि वह हमारा अन्तर्यामी है; वह हमारे उद्देश्यों और लक्ष्यों को भली भाँति जानता है; वह हमारी क्रियाओं के सम्भावित फल भी जानता है। वह हमारी भाँति धोखा नहीं खा सकता और न हम उसको धोखा दे सकते हैं। उसके लिये हमारा अंदर बाहर एक सा है। ईश्वर को भविष्य का ज्ञान सम्भावना रूप से है और उनमें से कोई एक सम्भावना हम पूरी कर देते हैं। इसी प्रकार ईश्वर की अनन्त क्रिया भी शक्ति रूप से है। उसमें सब कुछ करने की शक्ति है; किन्तु वह उस शक्ति को उसी प्रकार से व्यवहार में लाता है जिससे संसार का उपकार हो। संसार में जो दुःख और अपूर्णता है, वह

ईश्वर की अशक्तता के कारण नहीं, वरन् संसार की उन्नति और विकास के लिये है। संसार में दुःख का अस्तित्व उन्नति का प्रेरक और साधक है। दुःख का अर्थ कमी है। कमी में ही उद्योग का मूल है। दुःख का अभाव ऐसे ही संसार में हो सकता है जिसमें कुछ करने को न हो। ऐसी पूर्णता नाश का पर्य्याय है।

इसी प्रश्न के साथ नवीनता का प्रश्न लगा हुआ है। जिस अंश में हम स्वतन्त्र हैं, उसी अंश में संसार में नवीनता है। संसार का लक्ष्य यद्यपि ईश्वर के मन में पूर्व से निर्धारित है, तथापि उसे पूरा करने में अनेक नए नए साधन व्यवहार में लाए जाते हैं। यद्यपि संसार-नाटक की रचना ईश्वर के मन में है, तथापि हम ऐसे पात्र नहीं हैं, जो बिना समझे बूझे अपना पार्ट करते हों। हम अपना पार्ट सोच समझकर, अपना कर के खेलते हैं और स्थिति के अनुसार स्वयं ही अपना संवाद कहते जाते हैं। हम केवल नाटक के पात्र ही नहीं, वरन् किसी अंश में नाटककार भी हैं। जहाँ हम स्थिति को न समझकर नाटक खेलने में भूल जाते हैं, वहीं सुधार भी किया जाता है। यही नवीनता है। बिलकुल नवीनता संसार में असम्भव है, किन्तु उसका अभाव नहीं है।

अन्त में हम बुद्धि और प्रतिभा के सम्बन्ध में थोड़ा विचार कर यह पुस्तक समाप्त करते हैं। आज कल लोग बुद्धि का बहुत कुछ अविश्वास करने लगे हैं; यहाँ तक कि बुद्धि को ज्ञान के साधनों में ही नहीं रखते। बर्गसन का कहना है कि बुद्धि द्वारा मृतक सत्ता का ही ज्ञान हो सकता है, जीवित सत्ता का नहीं। जेम्स प्रभृति व्यवहारवादी दार्शनिकों ने क्रियाओं और भावों को इतनी प्रधानता दी है कि बेचारी बुद्धि को बड़ी कठिनता से

स्थान मिलता है। हमारा जो कुछ ज्ञान है, वह बुद्धि द्वारा ही प्राप्त है। बुद्धि की न्यूनता और अशक्तता का यह ज्ञान भी उसी अशक्त बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है। यदि हम बुद्धि को अशक्त कहते हैं, तो बुद्धि अपनी अशक्तता का भी निश्चय कराने में शक्तिमती नहीं हो सकती। हम यह भी मानते हैं कि भावों का तिरस्कार नहीं करना चाहिए; किन्तु इसके साथ ही हमारा यह भी कहना है कि भावों के आदर के लिये यह आवश्यक नहीं है कि बुद्धि का तिरस्कार किया जाय। जिस आधार पर हम भावों को प्रधानता देते हैं, उसी आधार पर हम बुद्धि को भी प्रधानता दे सकते हैं। हम यह बात मानने के लिये अवश्य तैयार हैं कि बुद्धि का कार्य्य धीरे धीरे होता है और प्रतिभा का कार्य्य शीघ्रता से होता है। कभी कभी बुद्धि पीछे रह जाती है और स्फूर्ति एक दम गहरे पैठ जाती है; किन्तु उस गहरी पैठ का फल बुद्धि द्वारा ही जाँचा जा सकता है। लोग यह कहेंगे कि जहाँ बुद्धि की पहुँच ही नहीं, वहाँ की बात को बुद्धि क्या जाँच सकती है! यदि वह बात साधारण भाषा में आ सकती है, तो वह अवश्य बुद्धि का विषय बन जाती है। हम को संसार और विशेष कर मानसिक संस्थान की एकता में विश्वास रखना पड़ता है। यदि हम ऐसा विश्वास न रक्खें, तो सारा विज्ञान निराधार हो जाय और संसार में कार्य्य करना कठिन हो जाय। जो नियम बुद्धि के हैं, वही प्रतिभा के भी होंगे। बुद्धि और प्रतिभा एक दूसरी की प्रतिकूल नहीं हो सकतीं और न भाव तथा बुद्धि में ही ऐसा भेद हो सकता है। बुद्धि और भावों का सहयोग सम्भव है। इसी सहयोग में संसार के चलने की आशा है। बुद्धि बिना भाव के

शक्तिहीन है और भाव बिना बुद्धि के अनियमित और लक्ष्यहीन है। अंधे और पंगुल के न्याय से दोनों का काम चलता है। भाव सत्ता के अंश होने के कारण सत्ता की गति के द्योतक हैं; किन्तु उनमें शक्ति के आधिक्य के कारण उनके नायकत्व और शासन में चलने से सीमा उल्लंघन होने का भय रहता है; इससे उनके बतलाए हुए मार्ग को बुद्धि द्वारा परिमार्जित कर लेना आवश्यक है। ऊपर की विवेचना दिग्दर्शन मात्र है। आशा है कि हमारे देश के पंडितगण पाश्चात्य दार्शनिकों की समस्याओं पर विचार करके देखेंगे कि हम अपनी सभ्यता और प्राचीन विचारों से युरोपवालों की कहाँ तक सहायता कर सकते हैं और किस अंश में हमको उनके विचारो से लाभ उठाने की आवश्यकता है। यद्यपि हमारे यहाँ के दर्शनों में वर्तमान काल की बहुत सी समस्याओं की विवेचना पाई जाती है, तथापि हमको यह बात देखने की आवश्यकता है कि नवजात विज्ञान के विस्तृत अनुभव से पुराने सिद्धान्तों की कहाँ तक पुष्टि हो सकती है और किन अंशों में हमको रद्द बदल करना पड़ेगा। इस परिश्रम द्वारा हमारा स्थगित विचार-स्रोत फिर से हरा भरा होकर बहने लगेगा; और वह स्रोत पश्चिमी सिद्धान्तों के प्रवाह से मिल जुलकर सरस्वती देवी के प्राचीन क्रीड़ास्थल मे एक पुनीत मानसिक त्रिवेणी बहावेगा और भारतवर्ष को संसार का प्रज्ञातीर्थ बना देगा।

विषयानुक्रमणिका

[जहाँ पृष्ठ संख्याओं के आगे कोष्ठक में "प०" दिया है, वहाँ यह समझना चाहिए कि विवरण उस पृष्ठ में और उसके पश्चात् के पृष्ठों में दिया गया है।]

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		भूमिका	
२	१७	करने	करना
		साहाय्य-स्वीकृति	
१	११	philosaphers	Philosophers
		विषय-प्रवेश	
४	५	वुभुत्ता	बुभुत्ता
९	८	वर्त्तमाम	वर्त्तमान
१०	३	भीमांसा	मीमांसा
		प्राचीन दर्शन, पहला खंड	
३५	९	विभक्त	अविभक्त
३६	१७	में	से
३९	२	काई	कोई
४७	५४	णी	श्रणी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५७	१३	उद्दश्य	उद्देश्य
६१	२	लचकर	चलकर
७०	११	धार्गिक	धार्मिक
७१	६	मूलक्र	मूलक

तीसरा खंड

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११७	२	अवसार	अवसर
१२३	१	चरन	चरम
१२७	६	किसा	किसी
”	१८	मनकर	मानकर
१३३	२१	सम्बन्वी	सम्बन्धी
१३८	२०	Exept	Except
१३९	९	पूव	पूर्व
१४६	१०	चेतनता	चेतना
”	”	भैटर	मैटर
”	१३	डकार्ट	डेकार्ट
१५२	१५	मनमादकों	मनमोदकों
१५५	५	वड़ी	बड़ी
१६५	१७	क्री	की

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६९	९	अवस्थां	अवस्था
१७८	२	अमिश्रता	अमिश्रितता
"	३	अमिश्रत	अमिश्रित
१९२	५	Seathesis	Synthesis
"	११	अनहं अहं नहीं	अनहं नहीं = अहं
"	१२	अनहं = अहं	अहं = अनहं
१९३	२१	ज्ञय	ज्ञेय
१९४	८	वैद्युत्	विद्युत्
१९५	६	वैद्यत्	विद्युत्
१९९	८	उत्तार्ण	उत्तीर्ण
२०४	११	कारअ	कारण
"	१६	आनन्तर	आन्तर
२०६	१२	वैद्युत्	विद्युत्
२१० फुटनोट ४		पुद्ध	युद्ध
२२५	१४	वि	कि
२२६	७	का	को
"	२३	स्पार्थ	स्वार्थ
२५७	९	हा	हो
२६६	२४	सकती	सकता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६७	१२	लगाई	लगाया
२६९	९	हमारे	हमारी
३०२	१६	नाम है	नाम
३०३	२१	व्यक्ति	व्यक्तिता
३१३	१	पूणता	पूर्णता
३१४	१०	vaerage	average
३२६	१२	आवेशदि	आवेशादि
३६५	१२	defination	definition
३७१	१	ड्रूक	ड्रेक
३८८	२	नही	नहीं
३९५	४	बरकी	बारीक
"	फुटनोट २	contenporay	contemporary
४०२	२	का	की
४०३	४	नायवत्त्व	नायकत्त्व

सूर्यकुमारी पुस्तकमाला

शाहपुरा के श्रीमान् महाराज कुमार उम्मेदसिंह जी की स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती महाराज कुँवरानी श्री सूर्य्यकुमारी के स्मारक में यह पुस्तकमाला निकाली गई है। हिंदी में अपने ढंग की एक ही पुस्तकमाला है। इस माला की सभी पुस्तकें बहुत बढ़िया मोटे एंटीक कागज पर बहुत सुंदर अक्षरों में छपती हैं और ऊपर बहुत बढ़िया जिल्द बँधी रहती है। पुस्तकमाला की सभी पुस्तकें बहुत ही उत्तम और उच्च कोटि की होती हैं और प्रतिष्ठित तथा सुयोग्य लेखकों से लिखाई जाती हैं। यह पुस्तकमाला विशेष रूप से हिंदी का प्रचार करने तथा उसके भांडार को उत्तमोत्तम ग्रंथ-रत्नों से भरने के उद्देश्य और विचार से निकाली गई है; और पुस्तकों का अधिक से अधिक प्रचार करने के उद्देश्य से दाता महाशय ने यह नियम कर दिया है कि किसी पुस्तक का मूल्य उसकी लागत से दूने से अधिक न रखा जाय; इस कारण इस माला की सभी पुस्तकें अपेक्षाकृत बहुत अधिक सस्ती होती हैं। हिंदी के प्रेमियों, सहायकों और सच्चे शुभचिंतकों को इस माला के ग्राहकों में नाम लिखा लेना चाहिए। इस पुस्तकमाला में अब तक जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उनकी सूची यहाँ दी जाती है।

---

[१] ज्ञान-योग

पहला खंड

अनुवादक—श्रीयुक्त बाबू जगन्मोहन वर्मा

जिन श्रीमती महाराज कुँअरानी श्री सूर्य्यकुमारी की स्मृति में सूर्य्यकुमारी पुस्तकमाला निकाली जा रही है, उनकी बड़ी अभिलाषा थी कि सुप्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्द जी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों आदि का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद प्रकाशित हो। इसी लिये इस ग्रंथ माला का पहला ग्रंथ स्वामी विवेकानन्द जी के ज्ञानयोग संबंधी व्याख्यानों का संग्रह है। इसका मूल पाठ मायावती स्मारक संस्करण से लिया गया है। इसमें स्वामी जी के ज्ञान-योग सम्बन्धी १६ व्याख्यान हैं। पृष्ठ-संख्या ३७१, सुंदर रेशमी जिल्द, मूल्य २॥)

---

[२] करुणा

अनुवादक—श्रीयुक्त बाबू रामचंद्र वर्मा

यह परम प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्रीयुक्त राखालदास बंद्योपाध्याय के इसी नाम के ऐतिहासिक उपन्यास का अनुवाद है। इस पुस्तक में आपको गुप्त कालीन भारत का बहुत अच्छा सामाजिक तथा राजनीतिक चित्र मिलेगा और आप समझ सकेंगे कि उन दिनों यहाँ का वैभव कितना बढ़ा

चढ़ा था और वह किस प्रकार एक ओर बर्बर हूणों के बाहरी आक्रमण तथा दूसरी ओर वैदिक धर्म्म से द्वेष रखनेवाले बौद्धों के आन्तरिक आक्रमण के कारण नष्ट हुआ। इसके मूल लेखक इतिहास के बहुत बड़े ज्ञाता और पंडित हैं; इसी लिये वे गुप्त-कालीन भारत का यथा तथ्य चित्र खींचने में बहुत अधिक सफल हुए हैं। यह उपन्यास जितना ही ऐतिहासिक घटनाओं से पूर्ण है, उतना ही मनोरंजक भी है। पृष्ठ संख्या सवा छः सौ के लगभग; मूल्य ३॥)

---

[३] शशांक

अनुवादक—श्रीयुक्त पं० रामचंद्र शुक्ल

यह भी श्री राखालदास बंद्योपाध्याय का लिखा हुआ और करुणा की ही तरह का परम मनोहर ऐतिहासिक उपन्यास है। यह भी गुप्त साम्राज्य के ह्रास-काल से ही संबंध रखता है और इसमें सातवीं शताब्दी के आरंभ के भारत का जीता जागता सामाजिक और ऐतिहासिक चित्र दिया गया है। जिन लोगों ने करुणा को पढ़ा है, उनसे इस संबंध में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। पर जिन लोगों ने उसे नहीं देखा है, उनसे हम यही कहना चाहते हैं कि इन दोनों उपन्यासों के जोड़ के ऐतिहासिक उपन्यास आपको और कहीं न मिलेंगे। मूल्य ३)

---

[४] बुद्ध-चरित

लेखक—श्रीयुक्त पं० रामचंद्र शुक्ल

यह अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि सर एडविन आर्नल्ड के "लाइट आफ एशिया" के आधार पर स्वतंत्र लिखित काव्य है। यद्यपि इसका ढंग ऐसा रखा गया है कि एक स्वतंत्र हिंदी काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो, पर साथ ही मूल पुस्तक के भावों को रक्षित रखने का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया है। कविता बहुत ही मनोहर, मधुर, सरस और प्रसाद-गुणमयी है जिसे पढ़ते ही चित्त प्रसन्न हो जाता है। छप्पन पृष्ठों की भूमिका में काव्य-भाषा (ब्रज और अवधी) पर बड़ी मार्मिकता से विचार किया गया है, जिसकी बड़े बड़े विद्वानों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। दो रंगीन और चार सादे चित्र भी दिए गए हैं जिनमें दो सहस्र वर्ष पहले के दृश्य दिखलाए गए हैं। पृष्ठ संख्या प्रायः तीन सौ। मू० केवल २॥)

---

[५] ज्ञान-योग

दूसरा खंड

अनुवादक—श्रीयुक्त बा० जगन्मोहन वर्मा

यह स्वामी विवेकानंद जी के ज्ञान-योग संबंधी व्याख्यानों का, जो स्वामी जी ने समय समय पर युरोप और अमेरिका में दिए थे, संग्रह है। सूर्य्यकुमारी पुस्तकमाला की पहली

पुस्तक का यह दूसरा खंड है। स्वामी विवेकानन्द जी वेदांत दर्शन के पारदर्शी विद्वान् थे, अतः इस संबंध में उनके व्याख्यानों में जो विवेचन हुआ है, वह बहुत ही मार्मिक और मनोरंजक है। पृष्ठ-संख्या ३२६ के लगभग; मू० २॥)

---

[६] मुद्रा-शास्त्र

लेखक—श्रीयुक्त प्राणनाथ विद्यालंकार

हिंदी में मुद्रा-शास्त्र संबंधी यह पहला और अपूर्व ग्रंथ है। मुद्रा शास्त्र के अनेक अँग्रेज और अमेरिकन विद्वानों के अच्छे अच्छे ग्रंथों का अध्ययन करके इसका प्रणयन किया गया है। इसमें बतलाया गया है कि मुद्रा का स्वरूप क्या है, उसका विकास किस प्रकार हुआ है, उसके प्रचार के क्या सिद्धांत हैं, उत्तम मुद्रा के क्या कार्य्य हैं, मुद्रा के लक्षण और गुण क्या हैं, राशि-सिद्धांत क्या है, उसका विकास किस प्रकार हुआ है, उसका क्रय-शक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है, मूल्य संबंधी सिद्धांत क्या हैं, मूल्य-सूची किसे कहते हैं और उसका क्या उपयोग होता है, द्विधातवीय मुद्राविधि का स्वरूप क्या है, उसके गुण और दोष क्या हैं, अपरिवर्त्तनशील और परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के क्या क्या सिद्धांत और गुण दोष हैं, आदि आदि। पृष्ठ-संख्या ३२५ के लगभग; मूल्य २॥)

[७] अकबरी दरबार

पहला भाग

अनुवादक—श्रीयुक्त बाबू रामचंद्र वर्मा

उर्दू, फारसी आदि के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय शम्सुल उल्मा मौलाना मुहम्मद हुसैन साहब आज़ाद कृत दरबारे अकबरी नामक ग्रंथ का यह अनुवाद अभी हाल में छपकर तैयार हुआ है। इसमें बादशाह अकबर की पूरी जीवनी बहुत विस्तार के साथ दी गई है और बतलाया गया है कि उसने कैसे कैसे युद्ध किए, अपने राज्य की किस प्रकार व्यवस्था की, उसका धार्मिक विश्वास कैसा था और उसमें समय समय पर क्या परिवर्त्तन हुए, उसके समय में देश की राजनीतिक, सामाजिक और साम्पत्तिक अवस्था कैसी थी, उसके दरबार का वैभव कैसा था, आदि आदि। साथ ही अकबर के अमीरों और दरबारियों आदि का भी इसमें पूरा पूरा वर्णन दिया गया है। पृष्ठ-संख्या चार सौ से ऊपर; मू० २॥)

देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला

(१) चीनी यात्री फाहियान का यात्रा विवरण

अनुवादक—श्रीयुक्त बाबू जगन्मोहन वर्म्मा

चीनी भाषा के मूल ग्रंथ के आधार पर यह ग्रंथ लिखा गया है। गांधार, तक्षशिला, पंजाब, मथुरा, श्रावस्ती, कपिल-

वस्तु, रामस्तूप, पाटलिपुत्र, राजगृह, शतपर्णी गुफा, गया, बाराणसी, ताम्रलिप्ति आदि स्थानों में चीनी यात्री फाहियान ने जो कुछ देखा या सुना था, उसका इसमें पूरा पूरा वर्णन है। अंग्रेजी अनुवादकों ने जो जो भूलें की हैं, वे भी इसमें सुधार दी गई हैं। साथ ही फाहियान के यात्रा मार्ग का रंगीन नक्शा देने से पुस्तक का महत्व कहीं अधिक बढ़ गया है। मूल्य १॥)

(२) चीनी यात्री सुंगयुन का यात्रा-विवरण

अनुवादक—श्रीयुक्त बाबू जगन्मोहन वर्मा

यह यात्री फाहियान के १०० वर्ष पीछे भारतवर्ष में आया था। इस पुस्तक के उपक्रम में समस्त चीनी यात्रियों का विवरण संक्षेप में दिया गया है। तुर्किस्तान, शेनशेन, खुतन, यारकंद, सुंगलिंग, गांधार, तक्षशिला, गोपाल गुहा आदि का वर्णन पढ़ने ही योग्य है। इस ग्रंथ में भारत की पश्चिमी सीमा पर के देशों का उस समय का बहुत अच्छा वर्णन है; और स्थान स्थान पर बहुत ही उपयोगी और महत्व-पूर्ण टिप्पणियाँ दी गई हैं। आरंभ में अनेक चीनी यात्रियों का संक्षिप्त परिचय भी दे दिया गया है। मूल्य १)

(३) सुलेमान सौदागर

अनुवादक—श्रीयुक्त बा० महेशप्रसाद "साधु"

भारतवर्ष और चीन देश के विषय में मुसलमानों की लिखी जो पुस्तक पाई जाती हैं, उनमें से सब से प्राचीन पुस्तकें

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अब नागरीप्रचारिणी पत्रिका त्रैमासिक निकलती है और इसमें प्राचीन शोध संबंधी बहुत ही उत्तम, विचारपूर्ण तथा गवेषणात्मक मौलिक लेख रहते हैं। पुरातत्व के सुप्रसिद्ध विद्वान् राय बहादुर पं० गारीशंकर हीराचंद ओझा इसका सम्पादन करते हैं। ऐसी पत्रिका भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं में अभी तक नहीं निकली है। यदि भारतीय विद्वानों के गवेषणापूर्ण लेखों को, जिनसे भारतवर्ष के प्राचीन गौरव और महत्वपूर्ण ऐतिहासिक बातों का पता चलता है, आप देखना चाहें तो इस पत्रिका के ग्राहक हो जाइए। वार्षिक मूल्य १०); प्रति अंक का मूल्य २॥) है। परंतु जो लोग ३) वार्षिक चंदा देकर नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के सभासद हो जाते हैं, उन्हें यह पत्रिका बिना मूल्य मिलती है। इस रूप में यह पत्रिका संवत् १९७८ से प्रकाशित होने लगी है। पिछले किसी संवत् के चारों अंकों की जिल्द बँधी प्रति का मूल्य ५)

हमारे पास स्टाक में नागरीप्रचारिणी पत्रिका की कुछ पुरानी फाइलें भी हैं। सभा के जो सभासद या हिंदी के प्रेमी लेना चाहें, शीघ्र मँगा लें; क्योंकि बहुत थोड़ी कापियाँ रह गई हैं। मूल्य प्रति वर्ष की फाइल का १) है।

प्रकाशन मंत्री,

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।